अनुक्रम

◆◆◆

प्रस्तावना

ॐ सहनाभवतु ! सहनौभुनक्तु सहवीर्यं करवावहे,
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहे ।

मैं अमृत का सागर ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य आत्म विचार है । जिज्ञासुको आत्मा ही जानने की चेष्टा करना चाहिये । जैसा कि श्रुति का भी कथन है –

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः
मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदम् सर्व विदितम् ।।

– ब्रह्म. उपनिषद् २/४/५ तथा ४/५/६

अरे मैत्रेय ! आत्मा को ही देखना, सुनना, मनन तथा निदिध्यासन करना चाहिये । जो आत्मा को जानता, देखता, सुनता, मनन करता है वह सम्पूर्ण जगत् को समझ लेता है ।

जो व्यर्थ में इधर–उधर तीर्थ मन्दिरों में भटकने या मन कल्पित देवी–देवताओं की पूजा, उपासना करते हैं, उन्हें ''मैं कौन हूँ'' का विचार जाग्रत नहीं हो पाता है । मैं कौन हूँ ? का विचार ही भवबन्धन से छूटने का सर्वाधिक सरल साधन है । इसके अलावा चाहे कोई शास्त्रों का स्वाध्याय करे, देवताओं का यजन करे, नाना शुभ कर्म करे, देवताओं को भजे अथवा सो ब्रह्माओं के काल पर्यन्त कोई शरीर को शुन्य कर समाधि में बैठा रहे किन्तु जब तक वह ब्रह्मात्मा की एकता का बोध किसी सद्गुरु के द्वारा नहीं करता है तब तक करोड़ों कल्पों तक भी उसकी मुक्ति नहीं हो सकती है । जैसा कि आचार्य शंकर भी अपने विवेक चूड़ामणि ग्रंथ में कहते हैं –

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया ।
ब्रह्मात्मैकत्व बोधेन मोक्षः सिद्धयति नान्यथा ।। ५८।।

तथा

वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान् कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवताः ।
आत्मैक्य वोधेन बिना विमुक्तिर्न सिद्धति ब्रह्म शतान्तरेऽपि ।।६।।

क्योंकि

चित्तस्य सुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये ।
वस्तु सिद्धि र्विचारेण न किञ्चित् कर्म कोटिभिः ।।११।।

कर्म, उपासना चित्त शुद्धि के लिये तो साधन है, किन्तु वस्तु उपलब्धि (तत्त्व प्राप्ति, आत्मबोध) के लिये नहीं है । वस्तु सिद्धि तो विचार ज्ञान से ही होती है, फिर करोड़ों कर्मों से कुछ भी नहीं हो सकता जैसा कि तुलसीदास भी कहते हैं –

तन सुखाय पिंजर करो, घरो रैन दिन ध्यान ।
तुलसी मिटे न वासना, बिना विचारे ज्ञान ।।

अतः ''मैं कौन हूँ ?''का निरन्तर विचार एक दिन ''मैं ब्रह्म हूँ'' का बोध जगा सकेगा, क्योंकि –

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं ज्ञानानंद प्रयच्छति ।
सप्तकोटि महामन्त्र जन्मकोटि शत प्रदम् ।।

– तेजो. उपनिषद् ३/७

अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ यह मंत्र ज्ञानानन्द मोक्ष को देने वाला है । ऐसे तो सात करोड़ महामन्त्र है पर वे जीवों को १०० करोड़ जन्मों को ही देने वाले हैं । अस्तु जो मुमुक्षु इस ब्रह्मविचार का मार्ग अपनाते हैं उन्हें अन्य साधन अपनाने की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है ।

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
नैवास्ति किंचित् कर्त्तव्यम् अस्ति चेत् न स तत्त्ववित् ।।

– जावाल. उपनिषद् १/२३

आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।।

– गीता : ३/१७

अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ इस ज्ञानामृत का जिसने पान कर लिया उस श्रद्धावान पुरुष को अपनी मुक्ति हेतु अन्य किसी प्रकार के वेदोक्त कर्मकाण्ड सेवन करने की कर्त्तव्यता नहीं है । यदि कोई आत्मज्ञान पाकर थोड़ा-सा भी अपने कल्याण में सन्देह कर कर्म, उपासना ध्यानादि किसी प्रकार के साधन का कर्त्तव्य मानता है तो उसे अभी तत्त्ववित् (आत्मनिष्ठ) नहीं जानना चाहिये ।

श्लोकार्धेन प्रवक्षामि यदुक्तं ग्रन्थ कोटिभिः ।
ब्रह्म सत्यं जगत्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव ना परः ।।

– शंकराचार्य

अर्थात् करोड़ों ग्रन्थों में जो बात कही है वह मैं आधे श्लोक में ही कह देता हूँ कि ब्रह्म सत्य एवं जगत मिथ्या है तथा जीव ब्रह्म ही है कोई अन्य नहीं ।

मेरी मुक्ति कब होगी ? बस् यह विचार ही मुक्ति में बाधक है । वस्तुतः जीव मुक्त ही है । जीव की मुक्ति हेतु आजतक न कोई साधन था न है न होगा ही । समस्त साधन जीव के बुद्धिगत बन्धन की भ्रान्ति अर्थात् मैं बन्धायमान हूँ इस भ्रान्ति को दूर करने के लिये ही है । इस भ्रान्ति से मुक्त होने के लिये "मैं कौन हूँ" का विचार प्रमुख साधन है जो इस "मैं अमृत का सागर" ग्रंथ का मूलाधार है ।

एक ही बात मुमुक्षुओं को दृढ़ीभूत करना है कि "**मैं तो द्रष्टा, साक्षी, असंग, निर्विकार, निष्क्रिय ब्रह्म ही हूँ**" शेष सभी विचार दृश्य एवं कल्पित है । अस्तु ! तुम ज्यों के त्यों, जहाँ के तहाँ आत्मब्रह्म ही हो । मुक्ति हेतु गृह छोड़ बन की ओर अपना कामधन्धा, खेती-व्यापार, नौकरी से उपराम होकर एकान्त गुफा में बैठ अपने ही जीवनाधार प्राणों के साथ बलात्कार करने की आवश्यकता नहीं है । प्राणीमात्र एवं परिवार के लोगों से निष्कपट प्रेम करो,

प्रेम से जीवो एवं उन्हें भी जीने दो । परमात्मा सभी में बुद्धि के साक्षी बनकर विराजमान हैं । परमात्मा सबमें हैं, सबके हैं, सब समय हैं एवं सबके लिये समान है । बस तुम अपने को देह, इन्द्रिय तथा मन के अंहकार से मुक्त कर लो । तुम इस देह संघात के द्रष्टा, साक्षी ही हो एवं रहोगे । देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण के किसी भी प्रकार के गुण–धर्म तुम द्रष्टा आत्मा को तनिक भी स्पर्श नहीं कर सकते हैं ।

इस ''मैं अमृत का सागर'' ग्रंन्थ का प्रत्येक शब्द रूपी बूंद बहुत ही महत्वपूर्ण, अनमोल, पारसमणी, अमृत की घूँट सदृश ही है, जिसे आप पाठकगण स्वयं ही प्रत्येक वाक्य में अनुभव करेंगे । आप इसे पढ़ें, समझें एवं तदानुसार अपनी धारणा बनावें । यह ग्रन्थ सभी वेदान्त ग्रन्थों एवं उपनिषदों के संक्षिप्त सार तत्त्व के रूप में है । ग्रन्थ का प्रमुख विषय ''मैं कौन हूँ ?'' का विचार है एवं जिसका फल ब्रह्मानुभूति सोऽहम्, शिवोऽहम् की निष्ठा द्वारा कैवल्य मोक्ष अनुभव कराना है ।

इस ग्रन्थ का सर्वाधिक लाभ उन्हीं लोगों को होगा जो अपने को सभी साधनों से थकाकर ब्रह्मानुभूति से निराश हो बैठे हैं । उन्हें तो यह ग्रन्थ सद्गुरु द्वारा श्रवण होने पर मुक्ति प्राप्ति हेतु अचुक संजीवनीबूटी रूप ही होगी ।

– स्वामी निरंजन

श्री गुरु परमात्मने नमः

अनुबन्ध

ग्रन्थ का अधिकारी, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन ये चार अनुबन्ध जाने बिना विवेकी पुरुषों की उस ग्रन्थ स्वाध्याय में प्रवृत्ति नहीं होती है । अस्तु ग्रन्थ रचयिता को अनुबन्ध बताना आवश्यक होता है ।

अधिकारी लक्ष्यण

''**अथातो ब्रह्म जिज्ञासा**'' (ब्रह्मसूत्र) अर्थात् ब्रह्म के साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान की इच्छा वाले सभी मुमुक्षु इस ग्रन्थ के अधिकारी है । अधिकारी साधकों में भी तीन भेद होते हैं । (१) उत्तम जिज्ञासु, (२) मन्द बोधवान तथा (३) मंद जिज्ञासु ।

(१) जिस पुरुष के अन्तःकरण से मल तथा विक्षेप दोष इस जन्म या पूर्व जन्म में किये गये निष्काम कर्म एवं निराकार उपासना द्वारा निवृत्त हो चुके हैं और केवल एक अज्ञान (स्वरूप आवरण) दोष ही शेष है ऐसा विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति तथा मुमुक्षुतादि चार साधन सम्पन्न जिज्ञासु इस ग्रन्थ के स्वाध्याय का उत्तम अधिकारी है ।

(२) जिस अदृढ़ ज्ञानी पुरुष को वेदान्त श्रवण के पश्चात भी अपने आत्म स्वरूप में शंका होती रहती है कि मैं असंग हूँ या नहीं, मैं अकर्त्ता हूँ या कर्त्ता ? ऐसे शंकालु मन्द बोधवान् इस ग्रन्थ के बारम्बार श्रवण, मनन से मैं असंग, अकर्त्ता, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा हूँ ऐसा वे दृढ़ बोध प्राप्त कर सकेगें ।

(३) जो पुरुष आत्मज्ञान की सामान्य इच्छा रखते हुए भोगासक्त चित्त वाले हैं वे मन्द जिज्ञासु भी इस ग्रन्थ स्वाध्याय के अधिकारी हैं जो विषयानन्द से उपराम हो ब्रह्मानन्द के इच्छुक हो सकेंगे ।

प्रत्येक मनुष्य के अन्तःकरण में मल, विक्षेप तथा आवरण यह तीन

दोष होते हैं । जिसमें निष्काम कर्म द्वारा मल दोष, निराकार उपासना द्वारा विक्षेप दोष तथा स्वरूप ज्ञान द्वारा, स्वरूप अज्ञान दोष की क्रमशः निवृत्ति होती है ।

विषय :ह्ल

इस ''मैं अमृत का सागर'' ग्रन्थ का विषय जीव ब्रह्म की एकता का निश्चय कराकर जीव तथा ब्रह्म के भेद भ्रम की निवृत्ति कराना है ।

सम्बन्ध : इस ''मैं अमृत का सागर'' ग्रन्थ का एवं ब्रह्म का प्रतिपादक एवं प्रतिपाद्य भाव का सम्बन्ध है अर्थात् यह ''मैं अमृत का सागर'' ग्रन्थ अद्वितीय आत्मब्रह्म का नाना युक्ति प्रमाणों द्वारा प्रतिपादन करता है एवं ब्रह्म इस ग्रन्थ द्वारा प्रतिपादित होता है । इसी प्रकार ज्ञान तथा ''मैं अमृत का सागर'' ग्रन्थ का जन्य-जनक भाव सम्बन्ध है अर्थात् इस ग्रन्थ विचार द्वारा वृत्ति ज्ञान जन्य (उत्पन्न) होता है एवं ग्रन्थ उसका जनक (उत्पत्ति प्रदायक) है । इस प्रकार ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति होने से, ज्ञान तथा अज्ञान निवर्तक निवर्त्य भाव सम्बन्ध है ।

प्रयोजन : इस प्रकार इस ''मैं अमृत का सागर'' ग्रन्थ का जीव को परमानन्द स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति तथा अज्ञान सहित जन्म-मरण रूप त्रितापों की निवृत्ति कराना ही परम प्रयोजन है । इस कारण ग्रन्थ का प्रारम्भ उपादेय होने से परिश्रम सफल ही है ।

अर्थवाद

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिं' तात्पर्य निर्णयं ।।

वेदान्त के तात्पर्य के निर्णय में उपक्रमोपसंहार (२) अभ्यास, (३) अपूर्वता, (४) फल (५) अर्थवाद, (६) उपपत्ति ये छः लिंग हेतु है । इनके

सहित श्रोता किसी सद्‌गुरु वक्ता के द्वारा दृढ़ ज्ञान को उपलब्ध होना है । उपरोक्त छः लिंग में से किसी एक की न्युनता के कारण दृढ़ बोध नहीं हो सकेगा ।

वस्तुनः प्रतिपाद्यस्य प्रशंसनमथापि वा ।
निंदा तद्विपरीतस्य ह्यर्थवादः स्मृतो बुद्यैः ।।

प्रतिपाद्य वस्तु जीव ब्रह्म एकत्व ज्ञान की प्रशंसा तथा उससे विपरीत जीव ब्रह्म के भेद ज्ञान (भेदोपासना) की निंदा भली प्रकार करने को विद्वानों ने अर्थवाद कहा है ।

''विमुक्तश्च विमुच्यते ।''

विवेकीजन विचारें ! कि खंडन करने के लिये ही वक्ता खंडन पक्ष नहीं उठाता है, बल्कि किसी सत्य वस्तु के प्रतिपादन (मन्डन) हेतु ही खंडन पक्ष श्रोता के सम्मुख उपस्थित करता है । अतः वक्ता के लिये खंडन करना निन्दनीय नहीं बल्कि सत्य बोध जागृति हेतु वन्दनीय एवं परमावश्यक भी है । और यही एकमात्र सनातन परम्परा सत्य बोधार्थ हेतु है । इसके बिना किसी को संशय रहित सत्य बोध कभी भी नहीं हो सकता है । इसलिये वेद में सर्वप्रथम शिष्य गुरु से प्रार्थना करता है ।

असतो मा सद्‌गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्मामृतं गमय ।।

– यजुर्वेद, ब्रह्म. उपनिषद् – १/३/२८

हे प्रभो ! असत् के प्रति निन्दाजनक वाक्य कहकर हमें वहाँ से विरक्त करावें जिससे हमारी सत्य में श्रेष्ठ बुद्धि होकर अनुराग हो सके; क्योंकि मन वर्तन तो प्रथम से बहुत कुछ मिथ्या वादियों को सुन–देखकर गलत धारणाओं से ग्रसित है । यदि उसे शक्ति पूर्वक रिक्त न किया जावेगा तो सत्य को कैसे

पकड़ सकेगा ।

आध सेर के पात्र में कैसे सेर समाय ।

अर्थात् मन को पूर्व भ्रान्त धारणा से रिक्त किये बिना नूतन सत्य ज्ञान कैसे आ सकेगा ? या गोपियों के शब्द में –

''उधो मन न भये दस बीस''

एक हुतो सो गयो श्याम संग को राखे तव ईश ।

अर्थात् हे उद्धव ! मन तो परमात्मा ने एक ही बनाया है और वह एक मन श्याम के रूप माधुर्य में फँस गया है । जबतक वहाँ से वह विरक्त होवे नहीं तब तक तुम्हारी ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी बातें हम किस मन में रखें ? अर्थात् मन को गलत धारणाओं से विरक्ति दिलाये बिना वह वहाँ से हट नहीं सकेगा एवं उसमें सत्य धारणा प्रवेश नहीं हो सकेगी । अस्तु सत्य ज्ञान हेतु ''अर्थवाद'' परमावश्यक है । बिना द्वैत का भली प्रकार खंडन किये अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती । (अद्वैत सिद्धि)

वेदव्यास की ''अर्थवाद'' नीति

यद्यपि अठ्ठारह पुराणों एवं उपपुराणों के रचयिता एक व्यास जी ही हैं, किन्तु उन्होंने यदि स्कन्द पुराण में शिव को स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, फलदाता, जगतकर्ता आदि धर्म वाला कहा है एवं अन्य सभी देवताओं को शिव के आधीन कृपापात्र जीव रूप में दर्शाया है । इसी प्रकार विष्णु पुराण में विष्णु को स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, फलदाता, जगतकर्ता आदि धर्म रूप ईश्वर बताया है एवं शेष सभी देवताओं को विष्णु के आधीन कृपापात्र जीव रूप में दर्शाया है । इसी प्रकार प्रत्येक पुराण में उसके देवता को प्रमुख तथा अन्य देवताओं को गौण रूप दर्शाया है । तात्पर्य यह है कि इस प्रकार वेदव्यास के कथन में विरोधाभास-सा प्रतीत होता है ।

समाधान :

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" जब अणु-अणु ब्रह्म है तो सभी जीव, देव ब्रह्म ही है; किन्तु जिस पुराण में जिस देवता को प्रमुख, श्रेष्ठ, जगतकर्ता, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वतन्त्र, फलदाता कहा है एवं अन्य देवताओं को गौण, कृपाकांक्षी, सेवक एवं जीव रूप बतलाया है वहाँ अन्य देवों को गोण करके उसकी उपासना का त्याग करा जिस पुराण में जिस देवता की प्रसंशा की है उसकी जिज्ञासु द्वारा अनन्य उपासना कराना ही पुराण रचयिता का परम प्रयोजन है ।

जैसे शिव-पुराण में विष्णु आदिक देवताओं की निन्दा और शिव की महिमा स्तुति करके शिव भक्तों को शिव की उपासना में प्रवृत्ति कराना ही मुख्य प्रयोजन है । विष्णु पुराण में शिवादिक की निन्दा और विष्णु की स्तुति करके विष्णु भक्तों को विष्णु उपासना में प्रवृत्ति कराना ही मुख्य प्रयोजन है । यदि देव उपासना त्याग में ही प्रयोजन होता तो सभी देवता की उपासना का त्याग हो जाता एवं फिर पुराण बनाने का प्रयोजन ब्रह्म को श्रेष्ठ, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, फलदाता, स्वतन्त्र, सर्वाधिष्ठान रूप से किसी प्रकार की सिद्धि भी नहीं हो पाती । फिर तो वेदव्यासजी की पुराण रचना व्यर्थ अनुपयोगी पागल प्रलापवत् ही सिद्ध होती, किन्तु उनके द्वारा पुराणों में अन्य की निन्दा केवल उनकी निन्दा हेतु ही नहीं की गई है बल्कि अन्य की निन्दा एक सत्य की स्तुति अनन्य भक्ति हेतु हितार्थ ही है ।

द्रष्टान्त :

जैसे वेद में अग्निहोत्र के दो काल बतलाये हैं । एक सूर्योदय से प्रथम और दूसरा सूर्यास्त के बाद का विधान किया है । वहाँ सूर्योदयकाल में उदयकाल की प्रशंसा तथा अनुदयकाल की निन्दा की गई है । इसी प्रकार सूर्यास्त के पश्चात् अनुदय काल के प्रसंग में अनुदयकाल की प्रशंसा तथा सूर्योदयकाल की निन्दा की है । अब वहाँ निन्दा का तात्पर्य

अग्निहोत्र त्याग में होवे तो दोनों काल में होम का त्याग होगा जबकि नित्य कर्म के त्याग कराने में वहाँ वेद का प्रयोजन नहीं है । अस्तु उदयकाल की स्तुति हेतु अनुदय काल की निन्दा की है और अनुदय काल की स्तुति हेतु उदय काल की निन्दा है । इसी प्रकार एक देव की उपासना के प्रसंग में अन्य देव की निन्दा का एक देव की स्तुति में ही तात्पर्य है अन्य की निन्दा में नहीं । इसीलिये प्रार्थना की जाती है ''असतो मा सद्‌गमय'' । अर्थात् एक सत्य के ज्ञानार्थ प्रथम असत् मिथ्या भ्रान्ति से हटाना परम आवश्यक है ।

सर्व पुराणों का प्रयोजन कारण ब्रह्म की अनन्य रूप से भक्ति एवं कार्य ब्रह्म का त्याग है । माया विशिष्ट चेतन कारण ब्रह्म है और मायाकृत कार्य विशिष्ट चेतन कार्यब्रह्म है । मंद बुद्धि वाले शास्त्र अभिप्राय को समझे बिना उन-उन आकारों में आग्रह करके परस्पर कलह करते हैं । जैसे विष्णु पुराण (वैष्णव ग्रन्थ) में शिवादिक नाम से कार्यब्रह्म की निन्दा की है । इस गूढ़ तात्पर्य को न समझ शिव भक्त दुःखित होते हैं और इसी प्रकार शिव-पुराण में विष्णु को कार्यब्रह्म कह कर निन्दा की है । इस अभिप्राय को मन्दबुद्धि वाले वैष्णव तात्पर्य न जान दुःखी होते रहते हैं । इसी प्रकार अज्ञानी लोग राम-कृष्ण, विष्णु, शिव, गणेश, सूर्यादि को छोटा-बड़ा बता निन्दाकर परस्पर क्लेश करते रहते हैं ।

एक देवता

जैसे शाखा भेद से कोई उदयकाल में होम करता है कोई अस्तकाल में करता है, परन्तु दोनों को फल समान ही प्राप्त होकर एक ही ब्रह्मलोक में पहुँचते हैं । वहाँ सुख भोगकर यदि सम्भव हुआ तो अपने इष्ट से ब्रह्मज्ञान प्राप्तकर विदेह मोक्ष को सीधे प्राप्त कर लेते हैं । या फिर

ब्रह्मलोक से गिरकर इसी मृत्युलोक में योग भ्रष्ट होकर किसी सदाचारी श्रीमन्त घर में या वैराग्यवान् ज्ञानी कुल में जन्म लेते हैं । वहाँ आत्म ज्ञान को प्राप्त कर जीवन्मुक्ति एवं प्रारब्ध समाप्ति पर विदेह मोक्ष को प्राप्त कर पाते हैं ।

आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।।

– गीता ८/१६

अर्थात् भक्तों को अपनी भावनानुसार एक ही लोक को शिवलोक, विष्णुलोक, गोलोक, साकेतलोक, स्वर्गलोक आदि रूप में प्रतीत होता है । वे एक परमात्मा को ''दृष्टि अनुरूप सृष्टि'' के सिद्धान्तानुसार शिव, विष्णु, ब्रह्मा, राम, कृष्ण, गणेश, सूर्यादिक रूप में देखते हैं । फिर अपनी भक्ति के पुण्योदय भोग पश्चात् पुनः इसी मृत्युलोक कर्मप्रधान कुरुक्षेत्र में साधन करने आ जाते हैं । इस प्रकार समस्त उपासकों को एक ब्रह्मलोक ही अपने उपास्य देव का लोक एवं अपना इष्ट प्रतीत होता है । ब्रह्मलोक की ऐसी महिमा है कि वहाँ उपासकों की श्रद्धा एवं इच्छानुरूप ही वहाँ के इष्ट, लोक, व्यक्ति सामग्री सहित उनको वैसा ही प्रतीत होता है । इसमें यह वेदमत सिद्ध होता है कि एक अद्वितीय ब्रह्म के अलावा यहाँ अन्य कुछ है ही नहीं ।

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किंचन'

और जो यहाँ आत्मा से अन्य देखता है वह बारम्बार मृत्यु को ही प्राप्त होता रहेगा ऐसा श्रुति वचन है ।

'मृत्योःस मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।'

– कठोपनिषद् : २/१/१०

अस्तु यहाँ –

'एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढ़ः'

एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधायः करोति ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रति रूपो ब्रहिश्च ।।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा स्तेषां सुख शाश्वतं नेतरेषाम् ।।

– कठोपनिषद : २/२/१०–१३

अर्थात् एक ही परमात्मा सबमें अन्तर्यामी रूप से विद्यमान है । जो एक होता हुआ भी अपने अनेक रूप बना लेता है और उनसे बाहर भी है । उन परमात्मा को जो जिज्ञासु अपने हृदय में बुद्धि के साक्षी रूप जान लेता है वही अखण्डानन्द को प्राप्त कर लेता है । इससे पृथक् जो इस आत्मदेव की अन्य रूप से उपासना करते हैं वे अज्ञानी देवता के पशु तुल्य है, वे उसकी उपासना करने का सही तरीका नहीं जानते हैं ।

अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति
न स वेद यथा पशुरेवँस देवनाम् ।।

– ब्रहदारण्यकोपनिषद : १/४/१०

गीता श्रुति भी कहती है :

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यज्ञत्यविधि पूर्वकम् ।। ९/२३
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।

– गीता : ७/२३

अहं हि सर्व यज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।।

– गीता : ९/२४

अर्थात् निज सच्चिदानन्द आत्मब्रह्म की सोऽहम्, शिवोऽहम् रूप से उपासना छोड़कर जो भी अन्य देवता की श्रद्धापूर्वक भक्ति करते हैं, वह मेरी ही भक्ति है । क्योंकि मैं सभी कार्य का कारण एवं अध्यस्त का अधिष्ठान ब्रह्म हूँ । परन्तु उनका वह पूजन अविवेक पूर्वक ही होता है; क्योंकि वे कार्य ब्रह्म की तो उपासना करते हैं एवं मुझ कारण ब्रह्म में अश्रद्धा करते हैं, इसी वास्ते वे मोक्षपद से बारम्बार गिरते रहते हैं । इस प्रकार उन मन्द बुद्धि

वालों के देवता एवं उनसे प्राप्त फल भी नाशवान ही होता है । क्योंकि मैं ही निश्चय रूप से सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी भी हूँ किन्तु सकामी अज्ञानी ऐसा नहीं जानते हैं । इसीलये वे बारम्बार जन्म-मरण के चक्र में गिरते हैं, किन्तु मेरे भक्त मुझे कैसे भी भजें वे मुझ अविनाशी आत्मभाव को ही प्राप्त करते हैं ।

◆◆◆

समन्वयचारी संत नहीं

लक्ष्य से अन्य असत्य तत्त्व की आलोचना निन्दा किये बिना कोई संत पद को प्राप्त ही नहीं हो सकता है । जीव को सत्यानुरागी बनाने हेतु सद्गुरु को उसके पूर्व दुराग्रह, भ्रान्त धारणा से हटाने हेतु बहुत प्रकार से आलोचना करना ही पड़ेगी अन्यथा ''असतो मा सद्गमय'' प्रार्थना का क्या प्रयोजन ? बल्कि जिन संतों ने अपने लक्ष्य वस्तु से पृथक् की आलोचना, निन्दा नहीं की वे सद्गुरु तो दूर रहे गुरु कहलाने के भी अधिकारी नहीं है, क्योंकि वे जिज्ञासु की सत्य के प्रति अनन्य भक्ति नहीं करा सकेंगे । उसे राजमार्ग पर निर्द्वन्द रूप से नहीं चला सकेंगे ।

आजतक कोई ऐसा संत ही नहीं हुआ जिसने अन्य की निन्दा न की हो चाहे वह अष्टावक्र, शंकराचार्य, दयानन्द, मन्सूर, सुकरात, कबीर, नानक, दादु, पलटु, रैदास, सदन ही क्यों न हो । तब फिर तुम्हारा गुरु वही बात कहता है तो इसमें बुरा क्या है ? वे तो राजनैतिक नेता, पंडित, पुरोहित, धर्मगुरु, जगत्गुरु ही रहे होंगे ।

जो समन्वय की खीचड़ी पकाकर चले गये या पका रहे हैं । राजनैतिक, पंडित, गुरु को अपने पीछे भीड़ को चलाना है । वह भीड़ जमा करने में उत्सुक हैं तो उसे अपनी सिट कायम रखने हेतु सबके मन की कहना ही होगा, ताकि कोई उससे रुष्ट होकर चला न जावे । राजनेता,

जगद्गुरु समन्वय की बात करेगा

सद्गुरु जो कहेगा वह सत्य की कहेगा समन्वय की नहीं । जैसा कि वेदव्यास ने अर्थवाद को अपनाया, शंकराचार्य ने एक ब्रह्म ही सत्य है जगत मिथ्या के सिद्धान्त को अपनाया एवं देश में वेदान्त का झन्डा लहराया था । महत्मा गांधी समन्वयकारी नेता थे । इसीलिये उन्हें ईश्वर अल्लाह तेरे नाम कहना पड़ता था ।

वर्तमान संत राजनैतिक नेता से दौड़ मे पीछे नहीं है । यज्ञ में बुलाओ यज्ञ की महिमा कर जावेंगे, भक्ति की जगह भक्ति की, योग की जगह योग की एवं ज्ञान की जगह मिली-जुली बातें कर जावेंगे ।

जो ईश्वर, अल्लाह, महावीर, कृष्ण, राम की भक्ति का समन्वय करने लग जावेगा उस गुरु के शिष्य किसी मंजिल पर पूर्ण श्रद्धा एवं शिघ्रता से आगे नहीं बढ़ सकेगें, क्योंकि उनके लिये चारों तरफ बराबर सही रास्ते है तो फिर वे किस रास्ते से जावें ? उनके लिये समस्या बनी रहती है कि किस मार्ग से चलूँ कि मैं बिना संकट कम समय में पार हो जाऊँ ? इसी कारण लोग उपासना गृह में सभी मूर्ति, सभी धर्मग्रन्थ, सभी प्रार्थना, सभी जपादि का तालमेल बैठाये रहते हैं । परिणाम में वे कहीं नहीं पहुँच पाते हैं ।

जब सद्गुरु मिलेगा तो वह तुम पर दया करके केवल एक को सत्य एवं शेष सभी को गलत सिद्ध कर अति शीघ्र पूर्ण निष्ठा कराकर पहुँचा देगा । जो यह कह सके 'नान्यः पन्था' अन्य कोई इसके अलावा मार्ग ही नहीं है और यदि गये तो मर जाओगे, ऐसा भय कराने वाला ही सद्गुरु हो सकता है । राजा, गुरु, वैद्य यदि प्रजा, शिष्य, रोगी के मन की बात करें एवं सत्य से डरे तो राज्य, शिष्य तथा रोगी का अतिशीघ्र नाश ही समझें ।

◆◆◆

सद्‌गुरु की आवश्यकता

जिज्ञासु यदि यह समझे कि, प्राकृत हिन्दी भाषा में सरलता पूर्वक सब बातें द्रष्टान्त सहित वेदान्त ग्रन्थों में या अमुक संत के पुस्तकों अथवा टेप केसैटों में अंकित ही हैं । मैं स्वयं उन्हें खरीदकर पढ़, सुनकर समझ सकता हूँ, फिर किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरु की शरण में जाकर श्रवण करने और समय नष्ट करने की क्या आवश्यकता है ?

इस संशय का समाधान यह है कि ग्रन्थ यद्यपि सरल प्राकृत भाषा में होने पर भी पाठक उसके वाच्यार्थ (शब्दार्थ) को तो जान सकता है, किन्तु उसके तात्पर्य (लक्ष्यार्थ) को नहीं समझ सकता । सन्त के शब्दों में जो गूढ़ार्थ छिपा रहता है उसका यथार्थ ज्ञान तो सद्‌गुरु शरण में जाने एवं उनके उपदेशों को एकाग्रता पूर्वक श्रवण, मनन करने से ही हो सकता है । शास्त्र के शब्दार्थ को तो भाषा ज्ञान वाला पढ़ा कोई भी व्यक्ति पढ़ सकता है, किन्तु लक्ष्यार्थ को तो कोई अनुभवी ही समझता है इस विषय में यह एक द्रष्टान्त हैं :

मध्यप्रदेश के एक नगर इन्दौर में जगन्नाथ खण्डेलवाल नामक एक धनिक महाजन ने अपने मन में सोचा कि मेरे पास जो धन है उसका कुछ भाग गुप्त रूप से कहीं रख दूं जिससे यह संकट पड़ने पर मेरे पुत्र के काम आ सके । इस विचारानुसार इस धनिक व्यक्ति ने पच्चीस लाख स्वर्ण अशरर्फियाँ अपने घर के आँगन में एक शिव मन्दिर बनवाते समय बिना बताये गाड़कर रख दी एवं इस धन का विवरण अपने व्यापार के लेन-देन वाले बही-खाते में लिख दिया कि मैंने शरद पूर्णिमा की रात्री की बारह बजे यह अशर्फियाँ मन्दिर के कलश में रखी है आवश्यकता पड़ने पर निकाल लेना एवं उसके पच्चीस वें भाग को संत सेवा, परोपकार तथा दरिद्रों की सेवा में लगा देना ।

कुछ काल के बाद एक दिन अचानक उस वृद्ध धनिक की मृत्यु हो गई

और वह अपने बच्चों से अन्त समय में उस धन की चर्च्चा भी नहीं कर सका । पिता के मरने पर बड़े लड़के ने अपने नाम सब धन सम्पत्ति करा ली एवं व्यापार में बिना हिस्सा दिये छोटे भाई को अलग कर दिया । उसके रहने को शिव मन्दिर के हिस्से की जगह निश्चित कर दी गई । छोटे लड़के ने मुनीम, नौकरों की सहायता से व्यापार को चलाने का प्रयास किया, किन्तु मुनीम और नौकरों ने चोरी कर-कर के घाटा करा दिया एवं वे काम छोड़कर भाग गये । लेनदारों ने छोटे लड़के से अपने धनराशि की मांग की तो उसने अपने पुराने बही-खाते (आकाऊन्टस् बुक्) इस आशय से देखना शुरू किया कि कहीं कोई बड़ी रकम किसी पर लेना बाकी होगी तो उससे लेकर मैं कर्ज चुका दूंगा । बही-खाता देखते-देखते वही शिव मन्दिर के कलश स्थान में पच्चीस लाख स्वर्ण अशर्फियों का विवरण मिलगया । उसे पढ़ते ही धनिक पुत्र को अपार प्रसन्नता हुई और उसने शिव मन्दिर के कलश को मजदूरों के द्वारा तुड़वाकर धनराशि निकालने चढ़ा तो उसे एक ताम्बे का पैसा भी नहीं मिला । यह देख उसे बहुत आश्चर्य एवं दुःख हुआ ।

पुत्र पिता द्वारा निर्मित कराये गये मन्दिर के गुम्बज को तुड़वाकर पुनः उसकी मरम्मत करा देने में भी असमर्थ होने के कारण वह विशेष दुःखी हुआ एवं सोचने लगा कि लोग मुझे धार्मिक पिता की नास्तिक संतान मानेंगे । उसने लिखित २५ लाख अशर्फियों वाले बही-खाते को अपने मित्रों को पढ़ाया तब सभी उस शब्दार्थ को पढ़ते ही मन्दिर के कलश में उस धन को देखने की बात कहने लगे, तब धनिक पुत्र ने कहा कि मैं वहां देख चुका हूँ, वहाँ कोई धन नहीं है । तब मित्रों ने अपने अपने विचार प्रगट किये कि यह मिथ्या लिखा है । किसी ने कहा रखते हुए किसी ने देख लिया होगा एवं बाद में निकाल लिया होगा । किसी ने कहा तुम्हारे पिता बही में लिखकर रखने को भूल गये होंगे । चिन्तित धनिक पुत्र

ने एक दिन उसी बही–खाते को लेकर अपने परिवार के अनुभवी वृद्ध पुरुष को दिखाकर पूछा कि क्या यह लिखी रकम सत्य है ? यदि है तो उस स्थान पर मुझे कुछ भी प्राप्त क्यों नहीं हुआ ? मुझे कलश में धन न मिलने का उतना दुःख नहीं, जितना कि कलश को तुड़ावकर पुनः उसी तरह उसकी मरम्मत न करा पाने का है । क्योंकि मेरे पास अब इतना धन नहीं है कि जिससे टूटे कलश को पुनः यथावत् बनवा सकुँ ।

वृद्ध पुरुष ने कहा हे पुत्र ! तू चिंता न कर, यह खाते में लिखा धन यथार्थ है एवं वह कलश स्थान में ही गड़ा है । वर्तमान तू मुझसे एक हजार रूपये ले जाकर वह टूटा कलश यथावत् चुनवा दें, फिर शरद पूर्णिमा की रात्रि ग्यारह बजे मरे पास आना मैं चलकर तुझे वह कलश के स्थान में रखा धन निकलवा दूंगा । लड़के ने वृद्ध से कर्ज लेकर मंदिर का कलश यथावत् बनवा दिया । जब शरद पूर्णिमा का दिन आया तब धनिक पुत्र उस वृद्ध को लेने गया एवं जाकर मन्दिर के कलश स्थान में छुपा धन निकलवा देने की प्रार्थना करने लगा । तब उस अनुभवी वृद्ध ने उस युवक को रात्रि ग्यारह बजे के समय वहाँ चलने को कहा । दोनों रात्रि ग्यारह बजे मन्दिर के प्रांगण में जा बैठे एवं कुछ देर भगवन्नाम कीर्तन कराकर ठीक रात्रि बारह बजे मन्दिर की तीसरी परिक्रमा पूर्ण करते समय वृद्ध ने अपने पैर से मन्दिर के कलश की पृथ्वी पर पड़ने वाली कलश छाया को लात लगाते हुए कहा कि यह मन्दिर का कलश है इसे खोदो यहाँ २५ लाख अशर्फियाँ सुरक्षित हैं । धनिक पुत्र को प्रथम विश्वास तो नहीं हुआ कि यह मन्दिर का कलश ही नहीं है तो असर्फियाँ कैसे हो सकेगी ? किन्तु वृद्ध के आग्रह पर थोड़ी मिट्टी हटाते ही एक कलस गड़ा मिला और बही–खाते में लिखित धन प्राप्त हो गया । इस प्रकार अनुभवी वृद्ध पुरुष के सहयोग से वह धनिक पुत्र अत्यन्त प्रसन्न हुआ एवं अपने कर्ज के संकट से मुक्त हुआ ।

उपरोक्त दृष्टान्त द्वारा यह ज्ञान होता है कि बही–खाते में लिखा हुआ

शब्दार्थ मन्दिर का कलश तो सब पढ़ लेते थे, किन्तु शरद पूर्णिमा की रात्रि को छोटे से कलश में पच्चीस लाख अशर्फियाँ कलश के छाया स्थान भूमी में गड़ी है यह लक्ष्यार्थ अनुभवी वृद्ध के अलावा कोई नहीं पढ़ सका । अनुभवी ने विचार किया कि इतने छोटे स्थान पर पच्चीस लाख अशर्फियाँ तो नहीं रखी जा सकती है । अस्तु वह धन तो कलश के छाया पड़ने वाले स्थान भूमि में ही रखा हो सकता हैं । वह छाया भी अन्य रात्रि में नहीं केवल शरद पूर्णिमा की रात्रि को ठीक बारह बजे वही होनी चाहिये । क्योंकि चन्द्रमा की उदय-अस्त की दिशा क्षण-क्षण बदलती रहती है । इस प्रकार वृद्ध ने अपने विशाल बुद्धि बल से धन का स्थान जान उसे निकलवा दिया ।

धनिक पुत्र को दूसरा एक लेख एक अन्य बही में मिला कि घर की तिजोरी में सोना भरा है । लड़के ने तिजोरी खोली किन्तु उसे वहाँ कुछ भी नहीं मिला । तब यह बात भी उसने उसी वृद्ध से पूछी । वृद्ध ने कहा कि तिजोरी का एक दरवाजा काट कर सुनार से उसका दाम् पुछवाले एवं फिर स्वर्ण की हम खोज करेंगे ।

धनिक पुत्र सुनार के यहाँ तिजोरी का दरवाजा दिखाकर मूल्य पूछने लगा । उस दाम से पता चला कि तिजोरी स्वयं स्वर्ण की ही बनी हुई है । इसप्रकार तिजोरी में चारों ओर लबालब ठसाठस स्वर्ण मात्र ही हुई है । यह लिखा लक्षार्थ सत्य निकला ।

इस प्रकार किसी भी ग्रन्थ के पढ़ लेने या शब्दार्थ जान लेने, कण्ठस्थ कर लेने से ही उसका रहस्य नहीं जाना जा सकेगा । किसी शास्त्र-मर्मज्ञ, ज्ञानी गुरु से ही उस ग्रन्थ को ठीक प्रकार से समझ सकते हैं । ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु ही आत्म धन को प्राप्त कराने में समर्थ हो सकते हैं । केवल अपनी बुद्धि द्वारा शास्त्र पढ़ने मात्र से आत्म-बोध नहीं हो सकता ।

देवर्षि नारद सब जानते हुए भी आत्म–ज्ञान से रहित होने से सदा शोक में डूबे रहते थे, अन्त में जब वे सनतकुमारों की शरण में गये और प्रार्थना की हे प्रभो ! यह दास नारद दुःखों के सागर में डूबा हुआ है । भगवन् ! मैंने सुना है कि ''तरति शोकं आत्मवित्'' आत्मज्ञानी शोक के सागर से पार हो जाता है ।

नारद की प्रार्थना सुनकर सनत्कुमार ने कहा कि तू केवल मंत्रवेत्ता है आत्मवेत्ता नहीं है । अल्प दुःख रूप है । अतः अल्प की उपासना छोड़ विभु भूमा ब्रह्म की सोऽहम् रूप से उपासना कर तब तू शोक, मोह के सागर से पार हो सकेगा । तब उन सद्गुरु के उपदेश से उन्हें आत्मनुभूति हुई और वे शोक से मुक्त हुए । इससे यह निश्चित होता है कि बिना सद्गुरु की शरण लिये जीव, आत्मा को नहीं जान सकता ।

◆◆◆

ब्रह्म विद्या

संन्यास प्रदानान्तर गुरुः शिष्यस्य दक्षकर्णेवदते ।
तत्त्वमसि महाप्राज्ञः हंसः सोऽहम् विभावय ,
निर्ममो निरहंकारः स्वभावेन सुखं चर ।।

– महानिर्वाण तन्त्र : ८/२६५

गुरु शिष्य को संन्यास देते समय उसके दाहिने कान में हंस मंत्र देते हैं और कहते हैं कि तुम इस मन्त्र का विपरीत भाव से जप करो कि तुम वही आत्मा हो । अर्थात् 'सोऽहम्' भजन द्वारा अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाओ । अतः जगत के समस्त विषयों से ममता परिशून्य होकर एवं देहात्म बुद्धि रहित हो स्वभाव में अवस्थान हो परम में विचरण करो । श्री नारद द्वारा भी बाल्मिक को यही विपरीत भाव से जपने हेतु उपदेश दिया जिसे जप कर वह उसी सोऽहम् वृत्ति रूप चैतन्य ब्रह्म स्वरूप का अनुभव करने लग गये ।

उलटा नाम जपा जग जाना ।
बाल्मिकी भये ब्रह्म समाना ।।
जान आदि कवि नाम प्रतापु ।
भये शुद्ध करि उल्टा जापु ।।

भगवान शंकर द्वारा श्री शुकदेव को ब्रह्मविद्या का उपदेश मिला जिसको जानकर शुकदेव परमहंस ख्यादि को प्राप्त हुए ।

ओं अस्य श्री महावाक्य महामन्त्रस्य हंस ऋषि
अव्यक्त गायत्रि छन्दः परमहंसो देवता
हं बीज सः शक्तिः सोऽहम् कील कलं
मम परमहंस प्रीत्यर्थे महाजपे विनियोग
मोक्षार्थे जपे विनियोग । – शुकरहस्य उपनिषद्

सोऽहम् हंसनि पश्यति जीवनमुक्तःस उच्चते ।।

– जीवनमुक्त गीता : १७

''हंस'' मंत्र अभ्यास द्वारा जो 'सोऽहं' ज्ञान लाभ होता है अर्थात् वह ब्रह्म ''मैं ही हूँ'' जो यह ज्ञान लाभ कर पाते हैं वे ही जीवनमुक्त हैं ।

हंसः सोऽहमिति मंत्रेणोच्छ्वासः निःवास
व्यपदेशेनादानुसन्धानं करोति ।

– नारद परिब्राजक उपनिषद् : ६/४

श्वास प्रश्वास योग द्वारा 'हसं' और 'सोऽहं' मंत्र की सहायता से अन्तरस्थ अनाहत ध्वनि का साधक अनुसन्धान करे ।

देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवल शिवः ।
त्यजेद्ज्ञान निर्माल्यं 'सोऽहं' भावेन पुजयेत ।।

– शंकराचार्य, आत्मपूजा ८/ गीता सार : ६३/ मैत्रेयी उप. : २/१

यह देह ही देव मन्दिर है । इसके मध्य में वही परम शिव परमात्मा

अवस्थित है । अतः अज्ञान छोड़कर बाह्य पूजा का परित्याग कर तुम अपने आत्म स्वरूप की पूजा के परायण हो जाओ । वह परम शिव परमात्मा तुम ही हो । इस सोऽहं आत्म मन्त्र का भजन प्रत्येक जीव में हर अवस्था में श्वाँस-प्रश्वाँस के योग से नित्य २१६०० बार स्वतः होता ही रहता है । प्राण श्वाँस को कहते हैं, अपान प्रश्वाँस को कहते हैं । प्राण में 'सो' तथा अपान में 'हम्' यह आत्मध्वनी सभी जीवों में गुंजार होती रहती है किन्तु माया द्वारा मोहित जीव इस परा वाणी को नहीं सुनने के कारण बारम्बार जन्म-मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं । अतः मोक्ष लाभ हेतु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण ग्रहण कर उनसे यह ज्ञान की उपलब्धि करना चाहिये । ''श्री आत्म समर्पणम्''

हंस पद परेशानि प्रत्यहं जपते नरः ।
मोहान्धो यो न जानाति मोक्षस्तस्य न विद्यते ।।

श्री गुरोः कृपया यो विज्ञायते जप्यते ततः ।
तस्माच्छ् वासैश्च निःश्वासैस्तदा बन्धक्षयो भवेत ।।

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ।
तस्या विज्ञान मात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते ।।

अनया सदृशी विद्या चानया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं मन्त्रं न भूतं न भविष्यति ।।

– सारदा तिलक

हे भगवती ! यह वही 'हंस' पद हैं जिसका जीव प्रतिक्षण जप करते रहते हैं । किन्तु मोह में पड़कर जो मनुष्य जीवन पाकर भी इस मंत्र के सम्मुख नहीं होता, इस पर ध्यान नहीं देता उसे त्रिकाल में भी अन्य साधन द्वारा मोक्ष लाभ नहीं हो सकता । जब श्री गुरुदेव की कृपा से इस स्वभाविक स्वतः सम्पन्न होने वाली श्वाँस-प्रश्वाँस की गति में मन को केन्द्रित कर उसमें होने

वाले 'सोऽहं' मंत्र का जीव मनन करना जान लेता है तभी वह संसार बन्धन से मुक्त हो सकता है । योगियों को मोक्ष प्रदान कराने वाली इस ब्रह्म विद्या, अजपा गायत्री के ज्ञान मात्र से सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं । न तो इस विद्या के समान अन्य विद्या है और न इसके जैसा कोई समृद्धिशाली जप ही है । इस परावाणी के समान पवित्र कोई अन्य साधन आज तक न हुआ है और न आगे ही होग अर्थात् सर्वश्रेष्ठ उपासना यही है ।

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।
हंस हंसेति मन्त्रौऽयं सवै जीवैश्च जप्यते ।।

– योगशिखा उपनिषद् : १३०-१३१/२/२५

हंस-विद्या सामान्यतः श्वाँस प्रश्वाँस की गति में आने जाने वाले 'सो' तथा 'हं' वर्ण पर ध्यान देना मात्र है । यह स्वचलित अजपा गायत्री है । सभी जीवों के शरीरों में 'सो' ध्वनी के साथ श्वाँस अन्दर को प्रवेश करता है तथा 'हं' ध्वनी के साथ बाहर को पुनः गमन करता है । इस प्रकार प्रत्येक जीव में यह स्वसंपादित विद्या परा वाणी की गुंजार नित्य २१६०० बार होती रहती है ।

हंस विद्यायं विज्ञाय मुक्तौ यत्नं करोतियः ।
स नभोभक्षणे नैव क्षुन्निवृत्तिं करिष्यति ।।

– सूत संहिता : ७/७/२७

''हंस'' विद्या अर्थात् हंस मात्र साधन प्रणाली (हंस योग) न जानकर जो मुक्ति हेतु अन्य-अन्य चेष्टा करते हैं उनकी चेष्टा उन मुर्खों जैसी है जो आकाश भक्षण से भूख मिटाने की व्यर्थ इच्छा करते हैं ।

हंस नित्यमनन्तमक्षय गुणं स्वभावतो नियता ।
याति स्वाश्रयमर्क कोटि रूचिरा ध्याये जुगन्मोहिनीम् ।।

– भूत शुद्धि तंत्र : १ पटल

हंस विद्या नित्य है अर्थात् अक्षय है । जिसके गुण कभी नाश नहीं होते हैं । यह स्वचालित है, स्वतन्त्र है, स्वयं प्रकाश है । कोटि सूर्य के समान सुन्दर प्रकाश युक्त है ऐसी जगन्नमोहिनी विद्या का ध्यान करना चाहिये ।

हंस हंसेति सदाह्यं सर्वेषु देहेषु व्याप्तो वर्तते ।
तथा ह्यग्निः काष्ठेषु तिलेषु तैलमिव
त्वं विदित्वा न मृत्युमेति । – हंस उपनिषद् – ४

सब समय सब जीवों में ''हंस'' क्रिया चलती रहती है । काष्ठ में जिस प्रकार अग्नि एवं तिल में तेल व दुध में घृत अदृश्य रूप से व्याप्त है उसी प्रकार सभी सचराचर के शरीरों में एकमात्र परमात्मा ही व्याप्त है । किन्तु जैसे युक्ति द्वारा तिल से तेल काष्ठ से अग्नि, दुध से घृत निकाला जाता है उसी प्रकार गुरु कृपा से इस क्रिया को जान लेने पर पुनः जन्म-मृत्यु के वशीभूत नहीं होना पड़ता है ।

धोखे में सब पचि मुआ, नहीं पाय थित ज्ञान ।
सद्गुरु शब्द पुकार ही, बहिरा सुनै न कान ।।

शब्द स्वरूप सद्गुरु है, जाका आदि न अन्त ।
काया मांही अग्र है, निश्चय मानो संत ।।

शब्द काया में सार है, और सकल बेसार ।
ज्ञानी करो विचार, सद्गुरु ही से पाईये ।।

आदि अक्षर अगम है, ताको सब विस्तार ।
सद्गुरु दया ते पाइये, सत्त नाम निज सार ।।

गगन मंडल के बीच में, जहाँ सोऽहं की डोरी ।
सबद अनाहत होत है, सुरति तहँ है मोरि ।।

कहना था सो कह दिया, अब कुछ कहा न जाय ।
एक रहा दूजा गया, दरिया लहर समाय ।।

जंत्र मंत्र सब झूठ है, मत मरमो जग कोय ।
सार शब्द जाने बिना, कागा हंस ना होय ।।

मज्जन फल पेखिय ततकाला ।
काक होई पिक बकउ मराला ।।

कुशल ब्रह्मवार्तायां वृत्ति हीनाः सुरागिणः ।
नेह्य ज्ञानितया नूनं पुनरायान्ति यान्ति च ।।

– अपरोक्षानुभूति : १३३

जो ब्रह्मवार्ता में कुशल है किन्तु ब्राह्मी वृत्ति से रहित और रागयुक्त है, निश्चय ही वे अत्यन्त अज्ञानी है और बारम्बार जन्मते–मरते रहते हैं ।

दृश्यं ह्यदृश्यतां नीत्वा ब्रह्माकारेण चिन्तयते ।
विद्वान्नित्य सुखे निष्ठेद्धिया चिद्रसपूर्णया ।।१४२।।

विद्वान् को चाहिये कि दृश्य को अदृश्य कर उसका ब्रह्मरूप से चिंतन करे और सम्पूर्ण बुद्धि से नित्य सुख में मग्न रहे ।

नोत्पद्यते बिना ज्ञानं विचारेणान्य साधनैः ।
यथा पदार्थभानं हि प्रकाशेन बिना क्वचित् ।।

– अपरोक्षानुभूति : ११

क्योकि जिस प्रकार प्रकाश के बिना पदार्थ की प्रतीति नहीं होती उसी प्रकार बिना विचार के ज्ञान अन्य किसी साधन से नहीं हो सकता ।

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया ।
ब्रह्मात्मैकत्व बोधेन मोक्ष सिद्धयति नान्यथा ।।

– विवेक चुड़ामणी : ५८

मोक्ष न योग से सिद्ध होता है और न सांख्य से, न कर्म से और न विद्या से, वह केवल ब्रह्मात्मैकत्व बोध अर्थात् ब्रह्म आत्मा की एकता के ज्ञान से ही होता है । ''सोऽहं'' यह स्थिति अन्य किसी साधन से सुलभ नहीं हो सकती है ।

वदन्तु शास्त्राणी यजन्तु देवान् कुर्वन्तु कर्माणिभजन्तु देवता ।
आत्मैक्य बोधेन विना विमुक्तिर्न सिध्यति ब्रह्म शतान्तरेऽपि ।।

– विवेक चुड़ामणी : ६

भले ही कोई शास्त्रों की व्याख्या करे, देवताओं का यजन करे, नाना शुभकर्म करे अथवा देवताओं को भजे, तथापि जब तक ब्रह्म आत्मा की एकता का बोध नहीं होता तब तक सौ ब्रह्माओं के बीत जाने पर भी मुक्ति नहीं हो सकती ।

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये ।
वस्तु सिद्धिर्विचारेण न किञ्चित् कर्म कोटिभिः ।।

– विवेक चुड़ामणी : ११

कर्म चित्त की शुद्धि के लिये ही है, वस्तु उपलब्धी (तत्त्व दृष्टि) के लिये नहीं है । वस्तु सिद्धि तो विचार से होती है । आत्मनिष्ठा बिना आत्म–अनात्मा के विचार किये अन्य करोड़ों कर्मों से कुछ भी नहीं हो सकता है ।

''मैं ब्रह्म हूँ'' यदि यह बात हृदय में अज्ञान काल के नाम, लिंग, जाति देहभाव की तरह बैठ गई तब अन्य किसी प्रकार के मंत्र, माला, जप, तप, ध्यान, समाधि आदि साधनों को करने की किंचित् भी जरूरत नहीं । तुम यह न देखो कि दूसरे तो सभी मन्दिर, तीर्थ, ध्यान, पूजा, पाठादि में लगे हैं उनकी फिक्र तुम छोड़ो । जिन्हे रोग है वह औषधि ग्रहण करे । ध्यान औषधी है

किसी के कहने से तुम्हे लेने करने की आवश्यकता नहीं है । तुम क्या करोगे ? बीमारी ही नहीं तब औषध क्यों लें । अगर तुम संशय रहित स्वरूप में, साक्षी भाव मे दृढ़ता से स्थिर हो तो दूसरे क्या करते हैं तुम उन्हें प्रमाण न मानो ।

◆◆◆

देह कुम्भ में आत्मा अमृत

जावाल दर्शनोपनिषद अनुसार शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक तीन प्रकार के स्नान होते हैं शरीर के स्नान हेतु जल, साबुन तथा उपवास, मानसिक स्नान हेतु भजन, ध्यान, प्राणायाम, परोपकार, सत्कर्म, शास्त्र पाठादि तथा आत्मिक स्नान हेतु केवल ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान आवश्यक है ।

शरीर माता-पिता के रजवीर्य धातु से बना है जो निकृष्ट मानी जाती है, उससे उत्पन्न शरीर कभी पवित्र नहीं हो सकता । उसमें आई गन्दगी आलस्य पसीना ही जल साबुन से मात्र दूर हो सकता है । देह न किसी का पापी होता है न पुण्यवान् । जल स्नान मात्र से ही देह शुद्धि तो हो सकती है, किन्तु पुण्य का इससे किंचित् भी सम्बन्ध नहीं है । पुण्य पाप का सम्बन्ध शुभाशुभ कर्म करने वाला मन याने जीव से है, देह या आत्मा से नहीं है । चाहे घर में स्नान करें, चाहे पवित्र कहलाने वाली नदियों में स्नान करे अथवा कुंभ, सोमवती, अमावस्या, चन्द्र ग्रहण सूर्य पराग या अन्य पर्व पर किसी तीर्थ में स्नान करें । स्नान करने मात्र से पाप कटने एवं पुण्य संचय होने का का कोई सम्बन्ध नहीं है, जब तक कि आप सतकर्म अन्य के प्रति त्याग नहीं करेंगे तब तक पुण्य कि प्राप्ति नहीं होगी ।

शरीर को लेकर ऊँच-नीच जाति भेद तथा प्रान्तिय भावना कर राग-द्वेष करना मानव की सबसे बड़ी भूल है । जिसके परिणाम स्वरूप

विश्व अशान्ति की चपेट में आया दुःख भोग रहा है । सभी का जैसे प्रकाशक सूर्य एक है उसी प्रकार सभी के शरीरों के आधार भूत आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी पंचमहाभूत है । जैसे एक स्वर्ण से निर्मित विभिन्न अलंकार अन्य-अन्य जातियों के नहीं हो सकते, उसी प्रकार पंचभूत से बने नाना आकार प्रकार संस्कार के प्राणी अन्य-अन्य जाति के नहीं हो सकते । स्वर्ण से बने सभी अलंकार मात्र स्वर्ण ही है, उसी प्रकार पंचभूत से बने सभी प्राणी समान ही है ।

वर्तमान में सब नगरों एव ग्रामों के लोगों के मन में कुम्भ स्नान की लगन लगी है कैसे भी समय, पैसे तथा साथ मिले तो कुम्भ स्नान कर आवे । कहते हैं समुद्र मन्थन से १४ रत्न में अमृत कुम्भ भी निकला था । जिसे देवताओं ने राक्षसों को न बांट चुराकर भाग रहे थे, जिसकी कुछ बुंद दुर्भाग्य से नासिक, उज्जैन, इलाहबाद तथा हरिद्वार में गिर गई थी । उस घटना को हुए अब कितना समय हुआ कुछ कहा नहीं जा सकता । किन्तु इतना निश्चित है कि वे बुंद गिरी होगी तो उसी समय देवताओं ने उस अमुल्य अमृत को आकर वहाँ से चाट लिया होगा । जैसे किसी के जेब से रूपया या थैली से सामान गिर जावे तो वह व्यक्ति तत्काल उठा लेता है । तब जो देवता अमृत का कुम्भ चुराकर भाग रहे थे, उन्होने उन अमृत की बूंदों को पुनः ग्रहण नहीं किया होगा यह मानने में नहीं आता । नदी जल की धारा का नाम है किसी खाई या नाली का नहीं । यदि वे बूंदे गिरी थी तो तभी जल में ही विलीन हो गई होगी । जिन्हें मछली, कछुए आदि जलचरों ने ग्रहण करलिया होगा या फिर नदियों की धारा में विलीन होकर उनके साथ समुद्र जल में मिलकर खारा हो गया होगा । अब वे अमृत की बुन्दे इतने काल बाद उन्ही स्थान पर कौन गिराने पुनः आवेगा ? जो अमृत का कुम्भ था वह तो तभी देवताओं ने मिलकर ही पान कर लिया था, जिन्हें नहीं मिला उन अभागों ने तो कुम्भ तोड़ ठिकरी को चाट लिया था

। अब तो उसी खाली मटकी के टुकड़े ही शायद किसी को नदी के तट पर या नदी की तलेटी में मिल जावे यह भी सम्भव नहीं है ।

गुरु कुम्भार शिष्य कुम्भ है, गढ़ि गढ़ि काढ़े खोट ।
भीतर हाथ सहारा दे, बाहर बाहर चोंट ।।

यह देह कुम्भ है, जिसे परमात्मा ने गढ़ा है जिसमें आत्मा रूपी अमृत भरा है । जब सत्संग प्राप्त होता है तब सद्गुरु की कृपा से इस देह रूपी कुम्भ में ''मैं आत्मा अमृत हूँ'' इस भाव में आत्मिक स्नान होता है तभी जीव कृत्य-कृत्य हो पाता है । इस आत्म विचार के अलावा अमृत नाम का पेय पदार्थ विश्व में अनादि से आजतक न किसी को मिला न भविष्य में मिलने की आशा है । देह मृत है एवं देही आत्मा ही अमृत है । जो शस्त्र से कटता नहीं, अग्नि से जलता नहीं, पानी से भीगता नहीं तथा पवन से सूखता नहीं ऐसा अमृत देह कुम्भ में ही विद्यमान है, जो मैं स्वयं ही हूँ ।

शरीर के भीतर स्थित सूक्ष्म पापी मन, जल एवं पाषाण से निर्मित तीर्थ स्थलों में, बाह्य स्थूल शरीर को डूबकी लगवा देने से कभी शुद्ध नहीं हो सकेगा । उसे शुद्ध करने हेतु तो मानसिक एवं आत्मिक स्नान ही एकामात्र साधन है । ''**गागर में सागर**'' यह उक्ति जग प्रसिद्ध है अर्थात् देह रूपी गागर में मैं असीम अमृत आत्म सागर विद्यमान है । इसी कारण इस ग्रन्थ का नाम ''मैं अमृत का सागर'' दिया गया है ।

जन्म रहस्य- गर्भोपनिषद

हे आत्मन् ! जीव किस प्रकार अनादि काल से इस दुःखालय संसार में भ्रमण कर रहा है इसे तू अब एकाग्रतापूर्वक श्रवण कर ।

ऋतुकाल में सम्यक प्रकार से पुरुष के वीर्य और स्त्री के रज के

संयोग से गर्भ का निर्माण होता है । गर्भाधान होने पर एक रात्रि में शुक्र शोणित के संयोग से कलल बनता है । सात रात में बुदबुद बनता है तथा एक पक्ष में वैर की गुठली के आकार की प्राप्ति होती है । एक माह में अंडाकार हो जाता है । दूसरे माह में सिर से युक्त होता है । तीन माह में पैर बनते है, चौथे मास में शरीर पर चमड़ा तथा इन्द्रियों के अंकुर रूप चिह्न प्रकट हो जाते हैं । पाँचवें माह में रोम एवं इन्द्रियों का स्पष्ट आकार हो जाता है एवं रीढ़, टाँग, हाथ आदि की हड्डियाँ तैयार हो जाती है । छठे माह में उसे भूख-प्यास सताने लगती है तथा सातवें माह में सर नीचे तथा पैर ऊपर की ओर हो जाता है । उस स्थिति में उसका मन अत्यन्त घबराता है । माता द्वारा खाया-पीया अन्न जल का सूक्ष्म भाग नाड़ियों द्वारा गर्भस्थ शिशु को प्राप्त होता रहता है ।

पिता के शुक्र की अधिकता (**Y**) से पुत्र तथा (**X**) की अधिकता से पुत्री की प्राप्ति होती है । दोनों के समान होने पर नपुन्सक तथा व्याकुल चित्त से गर्भाधान होने पर अंधी, कुबड़ी, खौडी, बौनी सन्तान होती है । परस्पर के घर्षण से शुक्राणु दो भागों में बटकर सूक्ष्म हो जाता है तब उससे जुड़वा सन्तान होती है ।

आठ मास में इस गर्भस्थ शिशु को अपने पूर्व जन्मों में किये कर्मों का भान होता है एवं सोचने लगता है कि मैंने अनेकों जन्मों में नाना प्रकार के भोगों को भोगा, नाना योनि के स्तनों का पान किया, बारम्बार शुभाशुभ कर्म करते रहने से अनेक बार जन्म-मरण को प्राप्त हुआ । अपने परिवार के लिये जो मैंने कर्म किये उनके फलस्वरूप मैं आज अकेला जठराग्नि में पड़ा जल रहा हूँ । मेरे द्वारा अर्जित धन को भोगने वाले तो मुझे छोड़ न मालूम कहाँ-कहाँ चले गये पर मैं यहाँ उन सभी कर्मों का फल भोगने के लिये अकेला पड़ा असहनीय कष्ट भोग रहा हूँ ।

यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम् ।

एकाकी तेन दह्यामि गतास्ते फल भोगिनः ।।

इस प्रकार वहाँ पश्चाताप करता है एवं असहनीय कष्ट पाता है तब भगवान से प्रार्थना करता है कि हे नारायण -

यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम् ।
अशुभ-क्षय कर्तारं फल मुक्ति प्रदायकम् ।।

यदि मैं इस योनी से छूट जाऊँगा तब तो गर्भ के बाहर निकलकर मुक्ति फल को प्रदान करने वाले हे महेश्वर ! आपकी मैं भक्ति करूँगा और जन्म-मरण से छूटने का साधन करूँगा ।

दैवी माया के द्वारा वह अत्यन्त संकीर्ण मार्ग योनी द्वार से जीव बाहर गिराया जाता है । बाहर आते ही वह अपने पिछले जन्मों एवं गर्भ के कष्टों को भूल जाता है कि मैंने पिछले जन्मों में संसारी सुख तथा परिवार, पत्नी, पति, बच्चे, धन, मकान के मोह जाल में पड़कर अपना देव दुर्लभ मनुष्य शरीर नष्ट कर दिया था । इसीलिये तब मैं जन्म-मरण से मुक्त होने का साधन नहीं कर सका था, किन्तु गर्भ से बाहर निकल मुक्ति की ही चेष्टा करूँगा यह गर्भ में की प्रतिज्ञा भी भूल जाता है । गर्भ में सोऽहम् स्वरूप का स्मरण करा देने पर भी बाहर आकर मैं ब्रह्म अंश जीव हूँ, उसे फिर यह विचार तक नहीं आता ।

नौ या दस मास में बाहर आकर बचपन में असहनीय कष्ट पाता है । नवजात शिशु तो अपनी भूख-प्यास कष्ट को भी नहीं कह पाता है । सभी शिकायत के लिये एकमात्र रोना ही उसकी भाषा होती है । जन्म के बाद दो वर्ष तक मल-मुत्र के बिछौने पर पड़ा क्रीड़ा करता रहता है । स्कूल जाने की रूचि न होने पर भी माता-पिता द्वारा पीटा जाता है एवं बरबस स्कूल भेजा जाता है । वहाँ उससे अधिक उम्र एवं बल वाले बच्चों द्वारा वह पीटा जाता है तथा स्कूल में मास्टर द्वारा पीटा जाता है । स्कूल

की शिकायत घर करने पर माता-पिता द्वारा पीटा जाता है । इस प्रकार बड़ा हो कर नौकरी एवं विवाह कर लेता है । परिवार पोषण के लिये न चाहकर भी न करने जैसे चोरी, झूठ, रिस्वतादि कर्म कर लेता है ।

वृद्धावस्था में घर के पुत्र, पुत्रवधु द्वारा असहनीय कटु शब्दों, तिरस्कारों को सहता है । पति, पत्नी, बेटे, नौकर आदि वृद्धावस्था में बुलाने पर भी पास नहीं आते हैं । सभी उसकी बातों को सुनी-अनसुनी कर देते हैं । समय पर भोजन, पानी, वस्त्र तक नहीं देते हैं । उसके बेटे अपनी स्त्री के वश होकर अपने माता-पिता को ठुकरा देते हैं या स्वयं पति-पत्नी अलग रहने लग जाते हैं तथा उस बूढ़े माता-पिता को पेट भर भोजनार्थ धन का सहयोग भी नहीं देते हैं ।

हे आत्मन् ! अनेको कष्ट सहकर जिनका बचपन से युवाकाल तक पोषण किया था । आश्चर्य है जिनको मुख का कौर निकालकर खिलाया, स्वयं फटा पहन उन्हें नया पहनाया, स्वयं गीले में सोकर उन्हें सूखे में लिटाया, स्वयं रात्रि जागरण कर उन्हें अपनी गोद में खड़े-खड़े झुलाकर सुलाया, उन्हें पढ़ाने हेतु घर का मकान, जेवर, खेती बिक्री कर, उधार ले, नौकरी कर योग्य बनाया । बुढ़ापा आने पर वही अपने बच्चों के सम्मुख भिखारी से बने डब-डबायी आँखों से घबराये से सदा डरते काँपते रहते हैं । बूढ़े मां-बाप को घर में सबसे तिरस्कार मिलता रहता है । एवं निकालभी दिया जाता है ।

याद रखें !!

जिन्होंने तुम्हें रोते से हँसाया है, उन्हे रूलाकर तुम कबतक हँस सकोगे ?

जिन्होंने भूखे रहकर तुम्हें खिलाया है तुम्हारे प्राणों को अपने प्राणों की आहूतियाँ देकर तृप्त किया है उन्हें तड़फाकर तुम कबतक सुख की

नींद सो सकते हो ?

जिनकी गोद में मल–मूत्र त्यागकर तुम फूले–फले हो उन पर ही शासन कर उनसे ही घृणा कर तुम कबतक अपने सन्तान द्वारा सम्मान एवं प्रेम प्राप्त कर सकोगे ?

जिन्होंने तुम्हारे साथ भावी जीवन में जीने की आशा रखी थी उन्हें निराश करना तुम्हारा कर्तव्य हो सकता है क्या ?

जिन्होंने बचपन से तुम्हें प्रेम भरे शब्दों से पुकारा, पुचकारा, अब उन्हें बुढापे में कटु शब्द कहकर बात करना क्या तुम्हें शोभा देता है ?

जिन्होंने मरकर तुम्हें जिलाया उन्हें जीते जी को मारकर तुम अमर रह सकोगे क्या ?

हे आत्मन् ! इस प्रकार बुढ़ापे में असहनीय कष्ट एवं अपमान मिलने पर रोगी, कमजोर एवं अनाथ सा हो जाने पर भगवान से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो ! अब तो कैसे भी मेरे प्राण ले लो ताकि मैं इस यन्त्रणा से छूट जाऊँ । जब तक प्रारब्ध भोग बाकी है उतने श्वाँस तो किसी प्रकार हर जीव को लेना ही पड़ता है । जिस समय मृत्यु समीप आ जाती है यमराज के भय से प्राण छटपटाते हैं मानो एक हजार बिच्छू एक साथ डंक मार गये हों ऐसी असहनीय वेदना अज्ञानीजनों को होती है । कंठ रुँध जाता है, बोल नहीं पाता है, प्राण क्रिया रुक जाती है तब मन जलविहीन मछली की तरह छट–पटाकर गर्दन गिरा देता है । मरने के क्षण से पूर्व अपने परिवार वालों का फिर उसे मोह सताता है उन्हें छोड़कर अकेला जाना पड़ रहा है अब धन, पुत्र, पति, पत्नी, सम्पती, कपड़े, जेवर, मकान कुछ भी साथ नहीं ले सकेगा । इधर घर वाले बूढ़े के मरने की उतनी चिन्ता नहीं करते हैं जितनी कि आखरी समय उसके धन की करते हैं । अन्तिम समय में सन्तान सब यही मन में सोच पास खड़े सर पैर दबाते रहते हैं कि मरते–

मरते कुछ बता जावे कहाँ क्या रखा है ? किन्तु कुछ बोल नहीं पाता है । ऐसे समय घर वाले उसके कान में कोई मंत्र, नाम, पाठ सुनाने लगते हैं, मुँह में कुछ तुलसी गंगाजलादि डाल देते हैं, किन्तु बिना श्रद्धा भक्ति के किसी प्रकार परमार्थ नहीं बनता है । मृतक के आगे कीर्तन करे, चन्दन से जलावे, स्नान करा रेशमी वस्त्र, अलंकार धारण करावे अथवा उसके मुख पर कोई थूकें, जूते लगावे, कुते मूत्र त्याग कर दें किन्तु उस शव के लिये इन क्रियाओं का कोई महत्व नहीं रहता है । जैसे सर्प कैचुल त्यागकर चला जाने पर फिर उस कैचुल के साथ किसी प्रकार का शुभाशुभ व्यवहार आप क्यों न करें अब उनका कोई फल सर्प को प्राप्त नहीं होगा न साँप आपको आर्शीवाद या श्राप ही देगा ।

हे आत्मन् ! जैसे खुजली में खुजलाना सुखकर प्रतीत होता है किन्तु परिणाम में अत्यन्त दुःख ही भोगना पड़ता है । उसी प्रकार यह जीव परिवार में अहंता ममता करके अतिशय दुःख को प्राप्त होता है । किन्तु फिर भी वह आसक्ति छोड़ परमात्मा का ध्यान, चिन्तन, स्मरण नहीं करता है । यदि कोई उसे कहता है कि तुम अब केवल भजन, सत्संग करो तो भी उसका मन अपने कल्याण मार्ग में नहीं लगता है । इस प्रकार मानव शरीर रूप मोक्ष द्वार एक बार हाथ से निकल जाने पर पुनः चौरासी लाख योनियों में भटक कभी साँप, बिल्ली, कुत्ता, बैल, ऊँट बकरी, मछली आदि त्रिजग योनियों के शरीरों को धारण करना पड़ता है ।

नर देहाऽतिक्रमणात् प्राप्तो पश्वाऽऽदिदेहानाम् ।
स्वतनरोप्यज्ञानं परमार्थ स्याऽत्र का वार्ता ।।

हे आत्मन् ! मनुष्य शरीर में श्रेष्ठ बुद्धि, शक्ति एवं समय पाकर भी जिसने अपने कल्याण का साधन नहीं किया तब वह शक्ति बुद्धि क्षीण होने पर बुढ़ापे में कैसे परमात्मा की प्राप्ति का साधन कर सकेगा ? वृद्धावस्था तथा रोग के कारण तो अपने देह की क्रिया करने में भी असमर्थ हो जाता है ।

फिर पशु, पक्षी आदि अत्यन्त पराधीन योनियों में बुद्धि मन्दता के कारण वह अपना कल्याण किसी भी प्रकार नहीं कर सकेगा क्योंकि विशेष ज्ञान के अभाव में पशु-पक्षी आदि योनियों में परमात्मा का ज्ञान हो ही नहीं सकता है । पशु-पक्षी योनियों में अन्त:करण का विकास विशेष रूप से नहीं होता है जैसा कि देवता तथा मनुष्यों में होता है; किन्तु देवता भी विषयासक्ति के कारण अपने परमार्थ साधन से वंचित रह जाते हैं । अब रही पशु योनि की बात, उन्हें तो अपने शरीर निर्वाह, रहन-सहन का ही पूर्ण होश नहीं तब वे बेचारे परमार्थ के लिये क्या विचार कर सकेंगे ?

सततं प्रवाह्यमाणै वृंषभैरूष्ट्रैः खरैर्गजैर्महिषैः ।
हा काष्टं क्षुत क्षामैः श्रांतेर्नो शक्यते वक्तुम् ।।

हे आत्मन् ! बैल, ऊँट, गधा, हाथी और घोड़ा ऐसे पशु जाति के जो शरीर हैं उन पर उनकी सामर्थ्य से ज्यादा भार रखकर उसका मालिक उन्हें चलाता है या गाड़ी, रथादि में जोड़ कर उनसे खिंचवाता है । न चाहकर भी पराधीन होकर उन पशुओं को वह मार मार खाकर भी उठाना अथवा खींचना पड़ता है । ओह ! कैसे असहनीय कष्ट को वे मनुष्य जीवन की दुर्गति करने के फल रूप में भोगते रहते हैं । दयावान देव पुरुषों द्वारा तो उनकी दशा देखी भी नहीं जाती, इसी कारण जैन धर्म में रथ, गाड़ी, ऊँट, हाथी आदि पर सवारी करना पाप माना जाता है इसलिये जैन आचार्यो, मुनियों को आज तक भी पैदल ही यात्रा करते देखा जाता है ।

हे आत्मन् ! भैसा, गद्हा, बैल, हाथी पर बोझ रख लोग उनसे रात-दिन परिश्रम करवाते रहते हैं । मालिक तो निद्रा लेता रहता है और वे बेचारे खींचते चलते हैं । थक जाने पर वे अपने मालिक से कह भी नहीं पाते हैं कि हमें थोड़ा विश्राम कर लेने दो, हम अब थक चुके हैं । अब हमें क्षमा करो हम नहीं चल पाते हैं । वे यह भी नहीं कह पाते कि ऐ मेरे मालिक मुझे भूख-प्यास लग रही है थोड़ा घास पुआल तो खिलादो,

थोड़ा पानी तो पिलादो । बल्कि उन पर बैठा मालिक अपनी यात्रा शीघ्र समाप्त करने हेतु उसे तेजी से चलने हेतु पीटते हैं । चलते-चलते गिर गया तो उसे जोर से पीटकर पूँछ मरोड़कर उठाते हैं । वह प्राणों की रक्षा हेतु पिटाई से बचने हेतु तेजी से चलता है । उसके मुँह से फेन, आँख से आँसु, गुदा से मल, लिंग से मूत्र निकलता रहता है । भूख के मारे आँखों के आगे अन्धकार छा जाता है, रास्ता भी स्पष्ट नहीं दिख पाता है इस कारण पैर गड्ढ़े में पड़ जाने से हड्डी टूट जाने एवं कंकड़, पत्थर चुभ जाने, रक्त वहते रहने पर भी रुक जाने हेतु नहीं कह पाता है । वे कंकड़, पत्थर उसी अवस्था में तलुओं में लगे रहते हैं और वह असहनीय कष्ट पाकर भी दम लगा चलता रहता है । मालिक एक मजबूत बाँस की छड़ी में चमड़े की तीन-चार रस्सी बाँध उसे पीटता चलता है तथा उस लकड़ी के आगे नुकीली लोहे की कील लगी होती है जो बार-बार उसके चुतड़ पर चुभाई जाती है जिससे वहाँ से खून बहता रहता है और वह चलता रहता है और कभी-कभी तो ऐसा गिरता है कि फिर उठ ही नहीं पाता और सदा के लिये सो जाता है । इसी प्रकार हाथी को लौह अंकुश से मारा जाता है जिसकी चित्कार आकाश को भेदन कर देने वाली होती है । बैल बनाने हेतु साँड की चारों टाँगों को बाँध बड़ी निर्दयता से अति कोमल अंडकोषों को पत्थर पर रख पत्थर से पीट-पीटकर नष्ट कर दिया जाता है । उस कष्ट की कल्पना पुरुष ही कर सकते हैं कि थोड़ा सा दबाव उनके अपने अंडकोष पर पड़ जाने से कितना कष्ट होता है । जब दुष्ट पुरुष किसी स्त्री से बलात्कार करता है तो हिम्मत कर चतुर स्त्री उसके अंडकोष को दबाकर उसकी जान तक ले लेती है ।

हे आत्मन् ! मनुष्य जीवन पाकर जिन्होंने आत्म ज्ञान प्राप्त नहीं किया उन लोगों की किस प्रकार नीच योनियों में जाकर कैसी दुर्गति होती है यह सब आँखों से अपने समक्ष इन पशु-पक्षी योनियों की पराधीनता एवं दुर्गति होते

हुए जानले । प्रत्यक्ष दीखने पर भी जो न संभलता है वही अंधा है । यही सबसे बड़ा आश्चर्य है ।

◆◆◆

पाप एवं उनके परिणाम रूप यन्त्रणा

भागवत ३/३०

हे आत्मन् ! मनुष्य जीवन में आकर अपना कल्याण नहीं किया तो परिवार के मोह के कारण उसी परिवार में पुत्र, पशु, कुत्ता, साँप, बिल्ली, तोता आदि बनकर आना पड़ता है और अपने-अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है । कपिलदेवजी अपनी माता से जीवों के कर्मों के परिणाम स्वरूप मिलने वाली यन्त्रणा का वर्णन कर रहे हैं कि हे माता ! जो व्यक्ति छल-बल द्वारा किसी दूसरे की स्त्री, धन अथवा पशु आदि का अपहरण कर लेता है उसे यमदूत तामिश्र नामक महा अंधकार पूर्ण नरक में ड़ाल उसे भूखा-प्यासा रखा जाता है उसके प्राणों को निकलने भी नहीं दिया जाता है ।

जो व्यक्ति किसी पराई स्त्री या पुरुष से बलात्कार भोग करता है, मृत्यु उपरान्त यमदूत उन्हें लोहे के तपाये स्त्री-पुरुषों से चिपका देते हैं । जो व्यक्ति ग्राहक को कम तोलता है या मिलावट कर बेचता है तो उसके शरीर से उतना ही माँस काट अन्य पशुओं को खिला दिया जाता है । जो भूखे, गरीब, साधु, अपाहिज एवं परिवार के लोगों को बूढ़े माता-पिता, सास-ससुर को बिना खिलाये स्वयं ही अकेला खा जाता है उसे मृत्यु के बाद उसके शरीर से माँस नोच कर खाने को दिया जाता है कि अब तुम इसे ही खाओ; क्योंकि तुमने अन्य को न खिला केवल अपने शरीर को ही पालकर मोटा बनाया था अतः अब तुम इसे ही खाओ ।

जो किसी स्त्री, संत, असहाय नौकर को बिना अपराध के अपने स्वार्थवश, मूढ़तावश दुर्वचन कहता है एवं आँखें निकालकर डराता है, मृत्यु

के बाद उसकी आँखों को लोहे की गर्म सलाईयों द्वारा फोड़ दिया जाता है । जो वकील, मजिस्ट्रेट, न्यायाधीश अथवा साक्षी मध्यस्त किसी निरपराधी को धन लोभवश या दबाववश दण्ड दिला देता है तो ऐसे लोगों को मरने कें बाद अन्य शरीर में भेज दो चट्टानों के बीच रखकर पीसा जाता है जैसे गेहूँ, चना पीसा जाता है । झूठी गवाही देने वालों को साँप-बिच्छु से भरे कुअे में डाल दिया जाता है ।

जो मनुष्य किसी को विष दे देता है, किसी को अग्नि में जला देता है, दहेज के लिये पत्नी को गिराकर, जलाकर, जहर देकर, गला घोंटकर मार देते हैं या किसी के घर में आग लगा देते हैं उस अपराधी को तलवार की तेज धार के समान तीक्ष्ण पत्तों वाले बहुत ऊँचे वृक्ष के उपर से छोड़ दिया जाता है । उस समय उसका शरीर टुकड़े-टुकड़े हो जाता है जैसे नेवला सर्प के खंड-खंड कर देता है, इसी प्रकार यमदूत उसकी गति करते हैं । तथा जीवित अवस्था में अग्नि काण्ड, ट्रेन, प्लेन दुर्घटना, भूकम्प, तूफान, या पानी में डूबा कर मारा जाता है । या उस जीव को जो पुरुष केवल अपने शरीर को पुष्ट करने हेतु जिह्वा इन्द्रिय की लोलुपतावश निर्दोष भोले प्राणी जैसे बकरी, मुर्गी, मछली, सुअर, हिरन, बाघादि को मार कर खाते हैं फिर इसी तरह वे जीव अपने हत्या करने वाले के माँस को सिंह, गिद्ध, कुते आदि बनकर खाते हैं । तथा इन पापियों को भूख-प्यास लगने पर लार-पीव के कुण्ड में उल्टा लटकाकर वही खाने को दिया जाता है ।

जे भक्षयन्ति माँसानि भनानां जीवितेषिणाम् ।
भक्ष्यन्ते तेहपि भूतेस्तैरिति में नास्ति ।।

– महाभारत ११६/३४

जो अन्य प्राणियों की हत्या कर माँस खाता है वह प्राणी भी उनका माँस भविष्य में अवश्य ही खावेगा इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं है ।

पशून् द्रुह्यान्ति विस्त्रब्धा: प्रेत्य खादन्ति ते च तान् ।।

– भागवत ११/५/१४

वे धोखे में पड़े हुए लोग पशुओं की हिंसा करते हैं और मरने के बाद वे पशु हो उन मारने वालों को खाते हैं । जो मनुष्य देवी-देवताओं के नाम पर अपना पेट भरने हेतु जीवों की हिंसा करते हैं उन्हें विश्वासन नामक नरक में जाना पड़ता है । वहाँ उनको ओखली में उसी प्रकार कूटा जाता है जैसे धान को कूटा जाता है । फिर वह कूटा हुआ माँस अन्य हिंश्रक पशुओं को खिलाया जाता है । जो व्यक्ति बाघ, भालू, बन्दर, हाथी, हिरन, खरगोश, सर्प, तोता, चिड़िया आदि स्वतंत्र प्राणियों को अपने सुख हेतु पिंजरे में बंद कर रखते हैं, ऐसे मूढ़ों को यमदूत गरम-गरम तेल के द्वारा स्नान कराते हैं । इस प्रकार पाप कर्म करने वाला जीव अपने पापों को देख सजा को प्राप्त करते समय अपने मन में बहुत पछताते हैं और ईश्वर से मानव जीवन के लिये प्रार्थना करते हैं ।

जो मनुष्य आत्मज्ञान से प्रीति कर अपने आत्मस्वरूप को नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त रूप गुरु कृपा से जान लेता है उसे इन दु:खों से मुक्ति मिल जाती है । हे आत्मन् ! सब जीवों में एक आत्म रूप परमात्मा को जान मन, वचन तथा कर्म द्वारा किसी प्रकार भी न सतावे । घर में माता-पिता, सास-शसुर आदि सभी साक्षात् चैतन्य देव हैं । इनकी श्रद्धापूर्वक तन, मन, धन से सेवा करना ही गृह शान्ति एवं ईश्वर प्रसन्नता का सबसे सरल गुप्त साधन है । ऐसा करने वाला व्यक्ति ही अतिशीघ्र घर बैठे सद्गुरु द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त कर जीवन्मुक्ति का लाभ प्राप्त कर लेता है ।

हे आत्मन् ! ज्ञान कठिन सा प्रतीत तभी तक होता है जब तक किसी सद्गुरु के मन में हमारे कल्याण का भाव नहीं जगा है, किन्तु उनकी कृपा-दृष्टि होने पर वह हाथ में पहनी चुड़ी, घड़ी की तरह स्पष्ट हो जाता है । हे आत्मन् ! जैसे पुत्र के खाने से पिता का पेट नहीं भरता है उसी

प्रकार शरीर के समस्त भोगविलास सामग्री ग्रहण होने से भी आत्मिक शान्ति तृप्ति किंचित् भी नहीं होती है बल्कि वह समस्त वैभव प्राप्त होने पर भी सदैव त्रिताप में ही जला करता है ।

हे आत्मन् ! जिस प्राणी ने अपने इस चैतन्य निरंजन आत्मदेव को अपना स्वामी, प्रियतम, पिता, माता समझ लिया, जिसको आत्मा में ही प्रीति, तृप्ति, सुख बुद्धि हो गई, अब उसके लिये किसी भी प्रकार के बहिरंग साधन अर्थात् जप, तप, पूजा, पाठ, तीर्थ, मन्दिर, उपवास करने की आवश्यकता नहीं है ।

''तस्य कार्यं न विद्यते'' – **गीता ३/१७**

''नैनं कृता कृते तपतः'' – ब्रह्म.४/४/२२

आत्मज्ञानी पुरुष के द्वारा कृत और अकृत कर्मों का विधि निषेध नहीं रहता है । जैसे अज्ञानी के मन में शुभाशुभ कर्मों का अहंकार रहता है, उसी तरह ज्ञानी के मन में यह शोक नहीं रहता कि मैंने यह शुभ कर्म क्यों नहीं किया अथवा मेरे द्वारा यह निन्दित कर्म क्यों हो गया ?

ज्ञात्वा देवं सर्व पाशापहानिः ।
क्षीणैः क्लेशैः जन्म मृत्यु प्रहाणिः ।।

श्वेता : १/११

जो परमात्मा को आत्मा रूप सोऽहम् भाव से जान लेता है उसके बन्धनों की हानि होकर राग–द्वेषादि का क्षय हो जाता है एवं जन्म मृत्यु के चक्र से सदा के लिये मुक्त हो जाता है ।

◆◆◆

महापापी कौन ?

हे आत्मन् ! जो कोई मनुष्य इस देह को ही ''मैं हूँ'' ऐसा मानता है वह

संसार के समस्त पापियों से भी महान पापी है । वेद में सभी प्रकार के पाप कर्मों के दोष निवारणार्थ प्रायश्चित रूप कर्म बतलाये गये हैं । जिनके कर लेने से वह पाप कर्ता उन-उन पाप कर्मां के भय से मुक्त मान लिया जाता है । जैसे माता-पिता, गुरु, ब्राह्मण, गौ तथा जगत के निर्दोष जीवों की हत्या कर देने से उपरोक्त पाप कें मोचनार्थ नाना प्रायश्चित रूप कर्म हैं । उसी प्रकार अपने को आत्म रूप न जान देह रूप मानने वाले आत्महत्यारे के पाप मोचनार्थ कोई भी प्रायश्चित रूप कर्म नहीं है । किसी कठिन पापों का प्रायश्चित तो एक या दो जन्म में पूर्ण हो जावेगा, किन्तु इस देहाभिमानी महा पापी के लिये चौरासी लाख योनियों में भ्रमित होते रहना पड़ेगा । देहाभिमानी पापी ने कौन पाप कर्म नहीं किये होंगे अर्थात् उसे सब प्रकार से महान पापी ही समझो । इसीलिये कहा है -

''**नहीं असत्य सम पातक पुंजा**'' । - (रामायण)

''**नानृतात्पातकं परं**'' । - (स्मृति)

अर्थात् असत्य भाषण से अन्य कोई महान पाप नहीं है । असत्य बोलना सबसे बड़ा पाप है । इस न्याय से देह जो कि पंच महाभूतों की है उसे मैं मानना यही असत्य बोलता है ।

देहात्म बुद्धिजं पापं न तद्गोवध कोटिभि:

अर्थात् मैं षड़विकारी (जन्म, रहना, बाल, युवा, वृद्धा तथा मृत्यु) धर्मी देह हूँ, ऐसा जो अपने को मानता है वह करोड़ों गायों की हत्या के पाप से भी अधिक पापी हत्यारा है । देहाभिमानी तो श्वाँस-श्वाँस में अपने देह के नाम, जाति का अभिमान अबाध गति से करता रहता है । अब यदि एक श्वाँस में एक बार के अपने नाम जाति का अभिमान हो जाता है तो करोड़ों गायों की हत्या से अधिक पाप उसके साथ जुड़ता रहता है तो फिर दिन-रात में २१६०० बार वह देह निष्ठा श्वाँस-श्वाँस के साथ दृढ़ होती रहती है । तब

उस पापी का पाप असंख्य गाय हत्या का पाप हो जाता है । फिर इस तरह पूरी आयु का पाप एवं फिर उसमें अनादि से आज तक का । अब जोड़कर अनुमान लगाकर देखें तो अपने से अधिक पापी कोई प्रतीत ही नहीं होगा इसलिये यह आत्महत्यारा अधोगति को बारम्बार प्राप्त होता रहता है । जिस पुरुष को ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की कृपा से मैं सच्चिदानन्द आत्मा हूँ ऐसी बुद्धि देहाभिमान की तरह दृढ़ हो जावे तो इससे बड़ा कोई महान पुण्य नहीं समझो ।

आत्माऽहं बुद्धिजं पुण्यं न भूतं न भविष्यति ।।

आत्मबुद्धि, आत्मनिष्ठा से जो पुण्य होता है वह कोई भी प्रकार से नहीं हो सकता । ब्रह्मविचार में जिस पुरुष का एक क्षण भी यदि मन स्थिर हो जावे तो उस पुरुष को गंगादि सर्व तीर्थ के जल में स्नान किया ऐसा मानना चाहिये उसने समस्त पृथ्वी का दान कर दिया तथा वह हजारों यज्ञ करचुका । जितने भी देवता हैं उन सबकी वह आराधना पूजा करचुका तथा उसने अपने समस्त पितरों को संसार सागर से उद्धार का मार्ग खोल दिया अर्थात् उत्तम गति प्रदान की और स्वयं वह त्रिलोक में पुज्य हुआ समझो ।

हे आत्मन् ! जब क्षणमात्र ब्रह्म-विचार से ऐसा महान पुण्योदय होता है तब तो देहाध्यास छोड़ सर्वदा ''मैं ब्रह्म हूँ'' ऐसी जिसकी ब्रह्माकार बुद्धि गुरु कृपा से हो गई हो उसके महान पुण्य हैं इसमें तो सन्देह ही क्या है ? इसीलिये कहा -

''धरम न दूसर सत्य समाना''

अपने को आत्मा रूप जानने से अन्य कोई सत्य या धर्म कर्म जगत में नहीं है । ऐसा क्षणमात्र का निश्चय जीव को अनादिकाल के जन्म-मरण के दुःखों से सदा के लिये मुक्ति प्रदान करा देता है । कहते हैं -

देहात्म बुद्धिजं पापं न तद्गोवध कोटिभिः
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ।।

– गीता ४/३६

उस आत्मनिष्ठा की महिमा बतलाते हैं कि यदि करोड़ों गायों की हत्या से भी अधिक पाप करने वाला कोई महान पापी, अतिशय दुराचारी, स्त्री, वैश्य, चोर, हत्यारा आदि भी क्यों न हो वह भी केवल इस आत्मनिष्ठा रूप ज्ञान नौका द्वारा ही बिना जप, तप, पूजा, पाठ, दान, तीर्थ, उपवास, यज्ञ, योग आदि साधन किये सम्पूर्ण पापों को अच्छी प्रकार तर जायगा, क्योंकि ज्ञान से पवित्र अन्य कुछ नहीं है ।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

– गीता : ४/३८

अर्थात् जो देहभाव जीव को कर्त्ता–भोक्ता बना जन्म–मरण के कष्ट में डाल रहा था वही आत्मनिष्ठा, साक्षी, द्रष्टाभाव में स्थित कर जन्म–मरण से मुक्त करा देता है ।

हे आत्मन् ! देह तो पंचभूत का कार्य है एवं आत्मा उनका कारण है । देह दृश्य, विकारी, अनित्य, जड़, परिच्छिन्न, सावयव है एवं आत्मा द्रष्टा, अविकारी, नित्य, ज्ञान स्वरूप, परिपूर्ण, निरवयव है । देह अशुचि, दुर्गन्ध, मल, माँस, रुधिर आदि से भरा हुआ थैला है तथा आत्मा सर्वदा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तानन्द स्वरूप है । इस प्रकार देह एवं आत्मा के लक्षण परस्पर पृथक् होने से देह से आत्मा भिन्न है ऐसा अनुभव जानने में आता है । जैसे म्यान से तलवार पृथक् है उसी प्रकार देह म्यान से आत्मरूप तलवार अलग है । जो शरीर तथा आत्मा इन दोनों का पृथक् विवेक है वही ज्ञान है बाकी सब अज्ञान है ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञान यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।।

– गीता : १३/२

ज्ञानं विशिष्टं न तथा यज्ञाः ।
ज्ञानेन दुर्गं तरति न यज्ञे ।।

जैसा आत्मज्ञान उत्तम है वैसा यज्ञादि अनित्य कर्म नहीं है । क्योंकि पुरुष ज्ञान से दुर्गम संसार दुःख के पार चला जाता है । यज्ञादि अनित्य कर्मों से नित्य मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है ।

घटेभिन्ने घटाकाशभाकाशे लीयते यथा ।
देहभावे तथा योगी स्वरूपे परमात्मनि ।।

जिस प्रकार घड़े के फूट जाने पर घट स्थित आकाश जो पूर्व से ही महाकाश रूप था उसी महाकाश के साथ एक होता–सा प्रतीत होता है । उसी प्रकार प्रारब्ध के समाप्त होने पर स्थूल शरीर के नाश होते ही आत्मज्ञानी ब्रह्म स्वरूप में सदा के लिये स्थित होता–सा दिखाई पड़ता है ।

◆◆◆

मैं चमार या ब्राह्मण ?

हे आत्मन् ! दो प्रकार की दृष्टि कही जाती है । एक तो लौकिक दृष्टि तथा दूसरी शास्त्र दृष्टि । लौकिक दृष्टि से जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्रादि जाति निश्चय वाले हैं, शास्त्रिय दृष्टि से वे सब चमार हैं । चर्म रूप देह में अभिमान करने से उन्हें चमार कहा है । संत तुलसीदासजी कहते हैं–

चतुराई चुल्हे पड़े मत पड़े अचार ।
तुलसी आत्मभक्ति बिन चारों वर्ण चमार ।।

एक समय राजा जनक की सभा में १० वर्ष के बालयोगी अष्टावक्र के

पहुँचते ही सभी पंडित, ब्राह्मण हँस पड़े तो अष्टाबक्र भी उनकी हँसी मे हँसी मिला हँसने लगे तब राजा जनक ने पूछा कि सब हँसे उसका तो स्पष्ट कारण है कि आपका ऐसा वक्र शरीर है, किन्तु आप क्यों हँसे ? तब अष्टावक्र ने कहा ये सब चमारों की सभा एकत्रित देख । राजा ने कहा क्या ? हाँ राजा तुम्हारे प्रश्न का उतर तो कोई मुझ जैसा तत्वदर्शी ब्राह्मण दे सकता है । यदि ये ब्रह्मदर्शी होते तो क्या इन्होंने आत्मा को कहीं से टेढ़ा देखा जो हँस पड़े ? ये सब चर्म दृष्टि वाले होने से चमार हैं । भला घड़ा, मकान के टेढ़े होने से आकाश टेढ़ा होता है ? क्या नदी के टेढ़े बहने से जल भी टेढ़ा होता है ? क्या गन्ना के टेढ़े होने से रस भी टेढ़ा होता है ?

अस्तु ! किसी के शरीर को देख उपहास नहीं करना चाहिये । भक्तों की दृष्टि में अपने इष्ट के अलावा अन्य कुछ नहीं दीखता । ज्ञानी को सर्व रूप में मैं आत्मा ही अनुभव में आता है । जिन्हें आत्मा दृष्टि है वही समाधिस्थ है, वही योगी, भक्त तथा ज्ञानी है शेष सभी जाति, आश्रम अभिमानी चमार ही है ।

◆◆◆

क्या पुण्य भी पाप है ?

दान हेतु उद्यम करे, निर्धन धन संचेय ।
देह कीचड़ सानकर, स्नान युक्ति संजोय ।।

हे आत्मन् ! शरीरिक रोग दूर करने के लिये जैसे औषधि होती है उसी प्रकार जन्म-मरण रूप मानसिक रोग को दूर करने के लिये भी शुद्धात्म चिन्तन औषधि है । मूर्ख व्यक्ति प्रथम शरीर पर कीचड़ लगा उसकी शुद्धि का साधन करता है । उसी तरह अज्ञानी दान-पुण्य कर्म करने के लिये प्रथम पाप कर्म द्वारा धन संग्रह करते हैं । फिर तीर्थ, मन्दिर जा

दान धर्म कर उस पाप की निवृत्ति किया करते हैं । देह की क्रिया स्नान, दान, पूजा, तीर्थ, मन्दिर, यज्ञ, उपवास, भजन, कीर्तन, शास्त्रपाठ, भक्तिभाव, ध्यान, समाधि भी मुक्ति का साधन नहीं है । धर्म है तो केवल अपने शुद्धात्म चिन्तन करना ही है । आत्मानुभव करना ही जन्म-मरण को दूर करने की औषधि है । देहाभिमान करना ही सबसे बड़ा पाप है । सब पापों का प्रायश्चित वेद शास्त्र में है, किन्तु जाति, आश्रम, वर्णादि देहाभिमानि के लिये कोई प्रायश्चित रूप कर्म नहीं है ।

यह देह तो जड़ है, पुण्य-पाप के हेतु रूप कर्म भी जड़ है । पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष, अशान्ति-शान्ति, ज्ञान-अज्ञान, जन्म-मरण, सुख-दुःखादि सभी द्वन्द्व विकारी मन के धर्म हैं । अस्तु इन सभी जड़ कर्म एवं मनोविकार से रहित अपने आत्म स्वभाव का निश्चय, धारणा कर उसी में मन की स्थिति का ठहर जाना ही स्वधर्म साधना है और यही एकमात्र जन्म-मरण से छूटने का उपाय है । आत्मानुभव का मार्ग छोड़ बाह्य जड़ क्रिया करना मिथ्या धर्माहंकार है, वह धर्म नहीं है ।

हे आत्मन् ! खेत साफ करना फसल प्राप्ति हेतु परम आवश्यक कर्त्तव्य है, किन्तु खेत में बीज न डालें तो क्या पैदा हो सकेगा ? इसी प्रकार बाहर की जड़ क्रिया रूप दया, दान, भक्ति, योगादि साधन द्वारा चित्त शुद्धि व ब्रह्म जिज्ञासा कर-करके लोग भले मरते जावें (मृग कस्तुरी को ढूंढ़ने की तरह) किन्तु आत्म ज्ञान का बीजारोपण हृदय भूमी में नहीं किया गया तो सब खेत साफ करने की मेहनत व्यर्थ ही चली जावेगी । आत्म ज्ञान के बिना चाहे कोई करोड़ों दान, धर्म, कर्म करें, मन्दिर, धर्मशाला बनावें, स्कूल, अस्पताल, अन्नक्षेत्र चलावें, ये सब अच्छे कर्म हैं, परोपकारी कर्म हैं, किन्तु इनके द्वारा आत्मोद्धार कभी नहीं है । इन कर्मों से पुण्य बन्धन है, जो स्वर्ग सुख की आशा रूपी जंजीर से बान्धने वाला है, एवं भोग पश्चात् प्रारब्धानुसार पुनः कोई मल का कीड़ा बन

सकता है ।

हे आत्मन् ! इस महामोह रूप धर्म-कर्म में प्राणी इतना अविवेकी हो गया है कि अपने-अपने सकाम कर्मों को छोड़ वह आत्म कल्याण के मार्ग ज्ञान में आना पसंद नहीं करता है एवं कर्म के द्वारा ही शान्ति की आशा लगाकर बैठा रहता है । इसी मोह के कारण बड़े-बड़े पंडित, भक्त, कर्मी स्वर्ग पुण्य भोग विष्ठा के कीड़े तक बन वहीं सुख शान्ति का अनुभव करने लग जाते हैं । जो जहाँ रहता है, जिस मान्यता को पकड़ चुका है उससे किंचित् भी वह हटना नहीं चाहता है ।

हे आत्मन् ! अशुभ कर्मों से बचने के लिये शुभ कर्मों का महत्व है, राग से छूटने हेतु औषध का महत्व है, किन्तु शुभ कर्म औषध है, स्वास्थ्य नहीं है । स्वास्थ्य तो आत्म निश्चय, आत्मभाव हैं । आत्मज्ञान, आत्मभाव, आत्मनिष्ठा को छोड़ अन्य बाह्य क्रिया साधन करना ऐसा ही अविवेकपूर्ण कार्य है जैसे एक के अंक के बिना शून्य रखते जाना 00,00,000,00 आत्मविचार, आत्मचिन्तन, आत्मचर्चा ही सच्चे धर्म के लक्षण है । आत्मचिन्तन को छोड़ दया, दान, मन्दिर, मूर्ति, तीर्थ, पूजा, उपवास, यज्ञ मात्र बन्धन रूप है ।

हे आत्मन् ! जैसे बिजली बिना टी.वी., पंखा, कूलर, हीटर, बल्ब आदि सब व्यर्थ है उसी प्रकार आत्मा के अनुभव ज्ञान बिना बाह्य जड़ क्रिया पूजा-पाठ, तीर्थ, मन्दिर आदि व्यर्थ हैं । हे आत्मन् ! कठिन संस्कृत शास्त्र पढ़ लेना, प्रवचन कर लेना, माला कर लेना, मुख पर पट्टी बान्ध रखना, दिन में खाना, झाड़कर चलना, पानी उबाल कर पीना, जिमीकंद न खाना, नग्न रहना, केश मुण्डन करना या केश लोचन करना, पैदल चलना, कमण्डल हाथ में रखना आदि बाह्य चिन्हों को धारण करना धर्म नहीं हैं । जंगल में रहना, गुफा में रहना ही धर्म हो तो बहुत पशु-पक्षी इसी प्रकार जीते हैं । एक बार शुद्धात्म स्वरूप का बोध हो जावे तब घर और वन

समान हो जाते हैं । जड़ क्रियाओं में, प्रकृति धर्मों में अज्ञानी अहंकार करते है कि मैं बहुत पंडित, त्यागी, गुणवान, धनवान, बलवान, मुनिराज, सिद्ध हूँ । यह सब दरिद्रता की ही सूचना दे रहे हैं । कचरे को ही संग्रह कर रहे हैं । जिन्होंने आत्मनुभूति हो गई है उसको बाह्य क्रिया का अहंकार कभी नहीं हो सकता, क्योंकि अब उसकी अन्र्तदृष्टि हो चुकी है ।

हे आत्मन् ! आत्मभाव जितना दृढ़ होता जाता है बस उतना ही सच्चा धर्म जानों एवं आत्मनिष्ठा छोड़ जो भी पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ पर दृष्टि निष्ठा हो रही है सभी पाप रूप अधर्म ही है ।

शास्त्र पढ़े मठ में रहे, सिर के नोंचे केश ।
राखे वेश मुनि सम, धर्म न होवे लेश ।।

पुण्य-पाप का जितना मन में जोर है उतना ही वह अशुद्धभाव है, पूर्ण शुद्ध तो केवल आत्मभाव ही है । राग द्वेष के विकल्प चाहे शुभ हो अशुभ उनका परित्याग कर अपने साक्षी आत्म स्वरूप का ही चिन्तन करना चाहिये । हे आत्मन् ! दान, दया, स्नान, पूजा, पाठ, माला, कीर्तन, मन्दिर, तीर्थ, उपवास, भक्ति, समाधि आदि साधन मोक्षधाम में नहीं पहुँचा सकते । अशुभ से बचाने हेतु शुभ पथ्य है ।

चलते-चलते युग भया, मिला न प्रभु का धाम ।
पाव कोस पर ग्राम है, बिन जाने कित धाव ।।

किन्तु उससे उनका बीजत्व नाश नहीं होता है । शुभ कर्म करने के बाद भी अशुभ कर्म होते रहते हैं । अशुभ भाव तीव्र अशान्ति है तो शुभभाव मंद अशान्ति है । अशान्ति से तो दोनों ही घिरे हैं मात्र कम ज्यादा अशान्ति का ही अन्तर है । अस्तु ! पुण्य-पाप के विकल्प से हटकर आत्म स्वरूप में मन की स्थिति कराना ही सच्चा ज्ञान भक्ति एवं धर्म कर्म

है ।

हे आत्मन् ! कुत्ता जैसे द्वार द्वार पर जाकर सर मारता है और अपनी भाषा में याचना करता है कि मुझे रोटी दो उसी प्रकार आत्मचिन्तन से भ्रष्ट मूर्ख इधर-उधर कल्पित देवताओं से सुख की भीख माँगता फिरता है कि मुझे सुख देना, मुझे पुत्र देना, मुझे मान देना, मुझे धन देना, इस प्रकार आशा-तृष्णा के कारण भिखारी की तरह भटकता फिरता है । फिर यह बड़े-बड़े करोड़ाधिपति सेठ, साहुकार, राजा, मंत्री तो बड़े नंगे भिखारी ही हैं । वासना से रहित भिखारी बड़े से बड़ा चक्रवर्ती सम्राट है । अस्तु ! आत्मधन के बिना पुण्यशाली भी भिखारी है ।

कबीरा सब जग निर्धना, धनवंता नहीं कोय ।
धनवंता सोई जानिये, आत्मभाव जेहि होय ।।
पाप कर्म को पाप रूप, जाने जब जग कोई ।
पुण्य कर्म भी पाप है, कहे अनुभवी एक कोई ।।

गरुड़ पुराण जीवित या मृत्यु पर

भगवान विष्णु एवं गरुड़ संवाद :

गरुड़ पुराण के १६ अध्याय में विष्णु भगवान से गरुड़ ने प्रश्न किया हे प्रभो ! सर्वमान्य सर्वोपरि संसार बन्धन की निवृत्ति और परम मोक्ष की प्राप्ति के लिये मुमुक्षु का क्या कर्त्तव्य है, वह आप कृपा कर बतलाईये ।

भगवान ने कहा जो इस देहादि दृश्य, नश्वर, क्षणभगुंर, दु:ख रूप संसार में अहंता-ममता (मैं-मेरा) भाव से बद्ध है वही दु:खी होता है । वह जन्म-मरण चक्र में बारम्बार भ्रमाया जाता है तथा जिसने इसे देहादि दृश्य संसार से तत्वज्ञान द्वारा अहंता-ममता का मन से त्याग कर दिया है वही आत्मनिष्ठ हुआ शाश्वत शान्ति को प्राप्त होता है । सब दु:ख, चिन्ता,

अशान्ति, भय और पापों का आश्रय स्थूल देहादि में अहंता-ममता ही एकमात्र हेतु है । कालकूट विष तो वास्तविक विष नहीं है, क्योंकि वह तो केवल एक ही शरीर को नष्ट करता है, किन्तु संसार विष के सेवन से मानव शरीर से गिर देहाभिमान के कारण अनन्त जन्मों तक त्रिजग योनियों में जन्म ग्रहण करना पड़ता है । इसलिये हे गरुड़जी ! समस्त दुःखों का मूल देहाध्यास का सर्वप्रथम शिघ्रातिशिघ्र त्याग कर देना चाहिये । जबतक देहाध्यास की निवृत्ति नहीं होगी तबतक आत्मानुभूति नहीं हो सकेगी । जीव लोहा, रस्सी व फाँसी के फन्दे से छूट जाते हैं किन्तु आशा, तृष्णा, मोह-ममता रूप फाँसी के फंदे से छूटना कठिन सा है । जीव जितनी मात्रा में जगत के व्यक्ति, पदार्थों से मोह करता है उतनी ही गहरी चोंट व शोक रूप कीलें इसके हृदय में गाड़ी जाती है । जैसे मांस प्रिय मछली को अपने बंधन और मौत का विवेक नहीं रहता इसी प्रकार संसार में आसक्त कामी को मृत्यु का भय नहीं होता है ।

सब मनुष्य अपने अपने लौकिक एवं कुल परम्परा के धर्माचार में तत्पर है, किन्तु अपने परम धर्म को जानने की चेष्टा नहीं करते हैं । आँख रहित व्यक्ति अंधा नहीं है बल्कि जिसे विवेक नहीं है वही अंधा है । जिसे सत्संग और विवेक ये दोनों निर्मल नेत्र नहीं है वह अवश्य ही कुमार्गी होगा ।

मुकुर मलिन अरु नयन विहीना ।
राम रूप देखहि किमी दीना ।।

– रामायण

इसलिये कर्म में अहंकारी व्यक्ति वृथा ही नाश को प्राप्त होते हैं क्योंकि जो कर्मकाण्ड के अभ्यासी हैं वे तो अहंकार का आश्रय करके नाना प्रकार के कष्टप्रद तप, जप एवं उपवास करते रहते हैं क्षुधा-तृषा से ग्रसित अज्ञान में फंसे व्यर्थ ही जीवन नष्ट करने वाले जीवों को तुम आसुरी स्वभाव वाला

ही जानो । जो नाममात्र के सन्तुष्ट हैं और अपने कर्म अभिमान में आकर मंत्र, जप, होम, यज्ञ आदि विस्तार पूर्वक करते रहते हैं । उन्हें माया द्वारा विमोहित हुए ही जानों । जो स्वर्ग आदि परोक्ष सुख की कामना वाले हैं एवं प्रत्यक्ष सुख को ठुकराने वाले ही हैं ।

हे गरुड़ ! देह को दंड़ देने मात्र से अविवेकी जनों की कहाँ मुक्ति होने वाली है ? बाँबी को पीटने से कहीं उसमें छुपा हुआ सर्प मरता है ? जैसे बाँबी के भीतर का सर्प बाँबी पीटने से नहीं मरता है तैसे ही शरीर रूपी बाँबी के अन्तरस्थ मन रूप भयंकर बड़ा सर्प शरीर के दण्ड से कदापि नहीं मरता है ।

कबीर साखी संग्रह :-

बाँबी कूटे बावरा, साँप न मारा जाय ।
मूरख बाँबी ना डसे, सर्प सबन को खाय ।।
भीतर तो भिदा नहीं, तन कर डाला जेर ।
अन्तरजाभी लखि गया, बात कहन का फेर ।।

तुलसीदास दोहावली :-

दुर्लभ भेंट न वासना, बूढ़े तप के बास ।
तुलसी केते मरि गये, दै दै तन के त्रास ।।
तन सुखाय पिंजर करो, धरो रैन दिन ध्यान ।
तुलसी मिटे न वासना, बिना विचारे ज्ञान ।।

इस प्रकार देव दुर्लभ मानव शरीर पाकर मुक्ति हेतु सद्गुरु के निकट जाकर आत्मज्ञान ग्रहण करना ही जीव के लिये परम कर्त्तव्य है । शरीर को कृश करना तो अज्ञानी को ही धर्म रूप लगता है । लौकिक तथा पारलौकिक धर्म कर्म संपादन हेतु भी शारीरिक तथा मानसिक बल की आवश्यकता रहती है । व्यर्थ तप, उपवास कर शरीर को कृश करने वाले पराधीनता को प्राप्त

करते है । वे भला कैसे स्वतंत्र, स्वाधीन सुख की अनुभूति कर सकेंगे ?

हे गरुड़ ! मन तो विषयासक्ति में और मुँह से ''सोऽहम शिवोऽहम्'' ''मैं ब्रह्म हूँ'' ऐसा कहने वाले कर्म तथा ज्ञान दोनों से भ्रष्ट व्यक्ति को अन्त्यज के समान त्याग करना चाहिये । घर और बन जिनके समान है ऐसे साक्षी भाव मे जीने वाले ही मुक्त है । और लोक में निर्लज्ज और दिगम्बर जो गधा, कुत्ता आदि पशु विचरते हैं वे कहाँ मुक्त होते है ? नहीं होते हैं । उसी प्रकार पशुवत् विवेक रहित दिगम्बर साधु मुक्त कैसे हो सकते है ? अर्थात् कभी नहीं होंगे ।

यदि मनुष्य मिट्टी (भस्म) आदि को देह में लगाने से ही मुक्त हो जावे तो नित्य मिट्टी व भस्म में बसने वाले गधे और कुत्ते क्यों नहीं मुक्त हो जाते हैं ? अभ्यास द्वारा घास, पत्र, कण, जल, पवनादि का ही जो आहार कर अहंकार करते हैं और अपने को महान त्यागी तपस्वी कहते है । फिर नित्य यही आहार करने वाले मृग, स्यार, तोता, चिड़ियिा आदि सभी तपस्वी, उपवासी, त्यागी कहाँ होते हैं ? तब विवेक शून्य मनुष्य तपस्वी कैसे हो सकता है ? नहीं होगा । एक दिन कुंभ, तीर्थ, गंगा आदि में स्नान करने से जीव यदि मुक्त, निष्पाप योगी हो जाते हों तो नित्य तीर्थ गंगा आदि स्थल में रहने वाले, नित्य स्नान करने वाले मनुष्य, मेंढक, मगर, मछली, कछुआ, कुत्ते, कौवे फिर मुक्त क्यों नहीं हो जाते हैं ? कबुतर, पत्थर, चकोर, अग्नि, स्वाती पक्षी-स्वाती बूंद को ही ग्रहण करते हैं तथा पपीहा भूमि में गिरे जल को कभी नहीं पीता है तो क्या वे व्रती हो जाते हैं ? नहीं । बिना आत्म तत्व अवगत हुए किसी प्रकार भी जीव की मुक्ति नहीं हो सकेगी ।

अस्तु उपरोक्त सभी कर्म लोकरंजन, लोकवासना, के पूरक हैं मोक्ष के नहीं । हे गरुड़ ! मोक्ष का साक्षात् कारण तो केवल आत्मज्ञान है, अपने स्वरूप का अनुसंधान करना मात्र है । बिना आत्म अनुभव किये केवल वेद-वेदांग, षट् दर्शन के खण्डन-मण्डन रूप शब्द एवं व्याकरण जाल में फँसे जीव महा अंधकूप में गिरे हुए हैं । वे मतानुयायी विवेकहीन दुराग्रही पशु,

सिद्धान्त रूप तृण को चरने वाले परमार्थ पथ से गिरे हुए हैं । वे अपने-अपने गुरु संप्रदायों के उपदेश रूप रस्सी से बन्धे विवेकहीन पशु ही हैं । उन्हें परमार्थ जानने के लिये अवकाश कहाँ है ?

वेद शास्त्र रूप घोर समुद्र में जो गोते खा रहे हैं वे शास्त्र वासना से ग्रसित बिना तात्पर्य समझे एक ग्रन्थ समाप्त कर दूसरे को पढ़ना प्रारम्भ कर देते है । तथा देह वासना से ग्रसित हो सदा व्याधि, बुढ़ापा, स्वेत बाल, दुबलापन, शक्तिहीनता, दृष्टि दुर्बलता को रोकने के प्रयास में सदा नाप-तौल कर खाते-पीते रहते है । वे द्वैत भाव में फँसे शुद्ध अद्वितीय चैतन्यात्मा को नहीं जान सकते हैं ।

जो वेदान्त का उपदेश करने वाले एवं पढ़ने वाले हैं और वेदान्त तात्पर्य शुद्धात्मा को यदि वे नहीं जानते हैं तो उनका कथन कौवे के समान व्यर्थ बकवाद करने जैसा या बरसाती मेंढक की भाँती टर्र-टर्र करने जैसा अर्थहीन ही है । वे शास्त्रपाठी कड़ाही, करछुल की तरह है जो स्वयं दूसरे को भली प्रकार परोसने पर भी स्वयं स्वाद नहीं जानती है । जैसे फूलों का बोझ तो सर धारण करता है किन्तु सुगन्धी की अनुभूति नासिका ही करती है । उसी प्रकार विवेक रहित बुद्धिहीन पंडित तो गधों की तरह चन्दन रूप शास्त्रों का बोझा ही धारण करते हैं । किन्तु उनके पास जीव ब्रह्म एकत्व रूप सुगन्ध को जानने वाले नासिका नहीं है । श्रद्धालु अधिकारी को बोध कराने वाले गुरु दुर्लभ ही हाते हैं । लेकिन वे पाठ पढ़ने, सुनाने वाले तो बहुत से मिल जाते हैं । अपने शरीर में स्थित तत्त्व को न जानकर शास्त्रों में ही मोहित रहते हैं ।

हे गरुड़ ! जीवन पर्यन्त दीपक की वार्ता करने से तो अंधकार का नाश नहीं होता, उसी प्रकार केवल शब्द, मंत्र, श्लोक, शास्त्र रटने से अज्ञान का नाश नहीं हो सकता है । अज्ञानी द्वारा शास्त्र पढ़ना ऐसा ही है जैसे अन्धे के सम्मुख दर्पण को रख देना है । प्रज्ञा चक्षु (ज्ञान चक्षु, गुरु

कृपा पात्र) व्यक्ति द्वारा ही शास्त्र का सत्य गूढार्थ प्रकट होता है जैसे सूर्य के दर्शन से कमल खिल जाता है ।

वेद उदधि बिन गुरु लखै लागे लोन समान ।
बादल गुरु मुख द्वार है अमृतहु अधिकान ।।

जीवन अल्प है शास्त्र अनेक हैं बुद्धि कमजोर है । अतः सद्गुरुओं से सार तत्व को ग्रहणकर हंस मति अनुसार सार का ग्रहण करें एवं असार को त्यागते चलें । वेद शास्त्र के द्वारा निजात्म दर्शन कर शास्त्रों को इस प्रकार छोड़ दे, जिस प्रकार चाँवल अलग हो जाने पर तुष, छिलके को छोड़ देता है । अथवा जितना जरूरी हो उतना ही शास्त्र चिन्तन करे बाकी तो वाणी को थकाने का साधन ही है । जैसे अमृत में तृप्त व्यक्ति को अन्य आहार ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रहती है उसी प्रकार आत्मनिष्ठ ज्ञानी पुरुषों को बुद्धि के थकाने वाले अन्य शास्त्रों का कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि वेद शास्त्रों के पढ़ने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है । वे तो मोक्ष की भूख जाग्रत करा दे तो ही धन्यवाद के पात्र हैं अन्यथा बोझा मात्र है । न वेद शास्त्र से मुक्ति है न कर्म उपासना योग से मुक्ति है । मुक्ति तो केवल ज्ञान से ही होती है अन्य साधन से नहीं ।

वस्तुसिद्धि-विचारेण न किंचित् कर्म कोटिभिः ।

– विवेक चुड़ामणि

ज्ञानेनैव हि संसार विनाशो न तु कर्मणा ।

– रूद्र उपनिषद् : ३५

संसारोत्तरणे जन्तो रुपायो ज्ञानमेवहि ।
तपोदानं तथा तीर्थमनुपायाः प्रकीत्तिताः ।।

– योगवाशिष्ठ : २/१०/२२

इस संसार समुद से पार होने के लिये एकमात्र उपाय आत्मज्ञान ही है ।

स्नान, दान, तपस्या, पूजा, पाठ, तीर्थ, मन्दिर, यज्ञ, समाधि इसमें अनुपयोगी ही है । हे गरुड़ ! आश्रम, जाति भी मुक्ति में हेतु नहीं है । न षट् दर्शन मुक्ति का हेतु है न कर्म, भक्ति, योग ही मुक्ति के अन्तरंग साधन है केवल ज्ञान ही मुक्ति का कारण है । एक सद्‌बोध प्रवर्तक गुरु की वाणी ही मुक्ति को देने वाली है और सब विद्या विडम्बना (छल या पाखंड़) करने वाली है । ''मोक्ष मूलम् गुरु कृपा'' गुरु मुख से निकला एक ही महावाक्य जीव के स्वरूप का प्रबोधक हो जाता है । जबकि बिना गुरु के करोड़ों आगम-पुराण शास्त्रों से नहीं होता है । अस्तु ! मुमुक्षु भली प्रकार से विचार युक्त परीक्षा करके किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जावे, अन्यथा द्वैतदर्शी भेदवादी गुरु की शरण में फँस जीवन ही नष्ट हो जावेगा । अद्वैत, द्वैत और द्वैताद्वैत (विशिष्टा द्वैत) रूप द्वन्दों में भी पड़ने से मोक्षकार्य नहीं हो सकता; क्योंकि ये सभी मन की कल्पना है ।

कोई द्वैत, कोई अद्वैत, कोई द्वैताद्वैत की इच्छा आग्रह करते हैं किन्तु जो सब में समान तत्त्व आत्मा है उसे जानने में बहुत कम रूचि रखते है । वही विद्या है जो मुक्ति दिलावे, वही कर्म है जो बान्धे नहीं ।

''**सा विद्याया विमुक्तिदा**'' ''**तत्कर्म यन्न बन्धाय**'' ।

मेरा नहीं और मेरा है ये दो पद बन्ध और मोक्ष के लिये है । ''मम'' इससे मनुष्य बन्ध जाता है और ''न मम'' इससे छूट जाता है । हे गरुड़ ! आत्मज्ञानी उसी को जानो जिसे भेदमूलक कर्म में रूचि न हो, क्योंकि जबतक सकाम कर्म किये जाते हैं और इन्द्रियों की जबतक चपलता बनी रहती है, तबतक तत्त्व की कथा कहाँ ?

'**कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हे**'

– रामायण

अर्थात् तत्त्वज्ञानी द्वारा भेदमूलक कर्म नहीं हो सकते । यदि करता है

तो उसे तत्त्वज्ञानी नहीं मानना चाहिये । और जबतक गुरु की प्रसन्नता, दया, करुणा सेवा द्वारा प्राप्त नहीं की तबतक तत्त्व बोध कहाँ ? तभी तक तप, व्रत, तीर्थ, जप, होम और पूजन है जबतक कि गुरु कृपा प्राप्त नहीं की है । इसलिये ज्ञान के प्रदाता सद्गुरु की शरण में जाकर भली प्रकार आत्मतत्त्व को जान लेने से ही जीव घोर संसार बन्धन से छूट जाता है । ज्ञान रूप कुंड में सत्य रूप जल है वहाँ स्नान करने से राग-द्वेष रहित हो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तानन्द को जीव प्राप्त कर लेता है । (गरुड़ पुराण १६ अध्याय से उद्धरत)

यह ज्ञानोपदेश श्रवण कर अन्त में गरुड़जी ने भगवान विष्णु से कहा कि हे मुक्ति प्रदाता प्रभो ! मैं आपके द्वारा गूढ़ ज्ञानामृत का पान कर कृतकृत्य हो गया हूँ । मेरे सभी संशय एवं भय दूर हो गये हैं और संदेह रहित अव मैं स्वरूप में स्थित हो चुका हूँ । अब मुझे अपने कल्याण की चिन्ता समाप्त हो चुकी है ।

'तेषां न पुनरावृत्तिः' बृह.उप. - ६/२/१५

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रेव समवली यन्ते'

- नृसिंहोत्तरता. उप. ३४

आत्मनिष्ठ ज्ञानी पुरुषों के देह त्याग हो जाने पर उनकी कामना शुन्यता के कारण यही प्राण विलीन हो जाता है । अज्ञानी के प्राण मरने पर उनकी प्रवल कामना के अनुसार उन योनि में प्रवेश कर जाते हैं ।

'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्त ते, ना ऽऽवर्तन्ते ना ऽऽवर्तन्ते'

- छान्दोग्य. ४/१५/५

आत्मनिष्ठ ज्ञानी महापुरुष पुनः इस संसार में नहीं आते हैं । यदि ज्ञानी के मन मे कोई लोक वासना, जगत कल्याण अथवा स्वर्ग, वैकुण्ठ के सुख की जाग्रत हो गई है तो वह उस जन्म में मुक्त नहीं होगा । उस

वासना की पूर्ति के बाद ही वह मुक्त होगा ।

देवराज इन्द्र तथा काशीराज प्रतर्दन संवाद

कौषीतकि उपनिषद्

एकबार मृत्युलोक में स्थित काशीराजा प्रतर्दन देवराज इन्द्र के पास गये । तब देवराज इन्द्र ने उन्हें आशीर्वाद देते हुए वरदान माँगने को कहा, तब राजा प्रतर्दन ने कहा हे महाराज ! वर अर्थात् उत्तम कल्याण कारक वस्तु जो है उसे ही आप प्रदान कीजिये । अनन्त कोटि जन्मों के कर्मोपासना द्वारा भी जीव-ब्रह्म अभेद ज्ञान ''मैं ब्रह्म हूँ'' होता है । जिज्ञासु द्वारा श्री गुरुदेव के चरणारविन्द की श्रद्धा, भक्ति तथा उनकी सेवा करने से यह महावाक्य जन्य ब्रह्मात्मैक्य बोध होना सहज हो जाता है । परमानन्द की प्राप्ति तथा दु:खों का समूल नाश एकमात्र आत्मज्ञान द्वारा ही हो सकता है इसके बिना मुक्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है । आत्मज्ञान को छोड़ अन्य जितने भी कर्म उपासनादिक हैं वे जीव को संसार बन्धन में ही जकड़ने वाले हैं ।

स्वर्ग वैकुण्ठादि परमहित रूप नहीं

यज्ञादिक कर्म करने से मनुष्य को स्वर्ग की प्राप्ति होती है और वहाँ दाव पुरुषों देवांगनाओं, अप्सराओं आदि का सुख प्राप्त होता है, किन्तु वह बंधन रूप ही होता है । जैसे कर्म से स्वर्गादिक लोक की प्राप्ति होती है उसी प्रकार उपासना से ब्रह्मा, विष्णु शंकरादि लोकों की प्राप्ति होती है एवं पुण्य फल समाप्ति पर पुन: इसी मृत्युलोक में आकर जन्म लेना पड़ता है । अखंडानन्द एकमात्र आत्मज्ञान द्वारा ही प्राप्त होता है । आत्मज्ञान को छोड़ सभी साधन बंधन एवं दु:ख प्रदान करने वाले हैं । यह सभी लोक प्रपंच से युक्त हैं । अतः हे राजन ! आप कर्म द्वारा स्वर्गादिक पाने और

उपासना द्वारा ब्रह्मालोक पाने की कामना का त्याग कर मात्र आत्मज्ञान प्राप्त करने की ही कामना वाले होकर एकाग्र चित्त होकर श्रद्धापूर्वक श्रवण करो, जिससे आपके दु:खों की आत्यान्तिक निवृत्ति हो इस जीवन में परमानन्द रूप मोक्ष प्राप्त हो सके ।

हे राजन ! मनुष्यलोक तथा देवलोक में जो जो विषय सुख है वह सब समान है एवं परिणाम में दु:ख देने वाले हैं इसलिये इनकी इच्छा करना योग्य नहीं है । फिर भी भ्रान्ति से जो लोग उन्हें सुख मानते है तो क्या वह सुख हित रूप कहला सकेगा ? इस देव सुख से हित से आगे बढ़े तो वैराग्य इनसे भी अधिक हिततर है एवं आत्मज्ञान तो सर्व में हिततम है । विषयों में वैराग्य दृष्टि होते ही विषयों के लिये दीनता दूर हो जाती है । फिर उसे आत्मज्ञान की रूचि होने लगती है, जिसे प्राप्त कर वह परमानन्द को प्राप्त हो जाता है । हे राजन ! सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञान है जिसके प्रभाव से जीव को ब्रह्म हत्या का महान पाप भी स्पर्श नहीं कर पाता है । इसी ब्रह्मविद्या के प्रभाव के कारण मेरे द्वारा विश्वरूप ब्राह्मण की हत्या हो जाने पर भी महा भयंकर ब्रह्म हत्या और उसके अनिष्ट कारक परिणाम तक मुझे भोगना नहीं पड़ा । अतः हे राजन ! आत्मज्ञान में श्रद्धा होना पूर्व पुण्यों का ही फल एवं हरि कृपा का प्रत्यक्ष प्रमाण है । आपकी तरह नचिकेता ने भी यमराज से श्रेष्ठ वर को प्राप्त किया था ।

ब्रह्मविद्या की महिमा

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।। – गीता १८/१७

हे राजन ! जिस आत्मज्ञानी के मन में क्रियाओं में कर्त्तापन का अभिमान नहीं है और जिसकी बुद्धि कहीं भी लिप्त नहीं होती ऐसा पुरुष प्रारब्ध अनुसार मन, वचन तथा कर्म द्वारा मातृवध, पितृवध, गुरुवध, गोवध यहाँ तक कि

सारे जगत् की हत्या करदे तो भी तत्त्वज्ञानी किंचित् भी पाप से नहीं बन्धता है । पाप कर्म हो जाने पर भी उसके मुख की आभा मलिन नहीं होती है । यह ब्रह्मज्ञान की गरिमा है व्यक्ति की नहीं । ब्रह्म हत्या कतृत्वाभिमानी को लगती है चिदात्मा, साक्षी को नहीं । आत्मा तो सभी का निष्पाप, एकरस एवं मुक्त ही है, चाहे वह चाण्डाल हो या ब्रह्मज्ञानी । भेद इतना ही है कि अज्ञानी देहादिक संघात को मैं करके मानता है एवं उनके गुण, धर्म, क्रिया को मेरा करके जानने के फल-स्वरूप ही उसे निम्न योनियों एवं नरकादिकों का गमनागमन बना रहता है । इसी कारण कर्तृत्वाभिमानी अज्ञानी के मुख पर ग्लानि आ जाने से उसका तेज क्षीण होकर मुँह काला हो जाता है ।

हे राजन ! इस ब्रह्मविद्या के प्रभाव से मैंने ब्रह्मविद्या से रहित प्रजापति के पुत्र विश्वरूप ब्राह्मण को बज्र से मार डाला । कितने ही संन्यासियों को जो केवल कर्मकाण्ड में ही रत थे एवं आत्मज्ञान से विमुख थे उनकी हत्या कर डाली । ब्रह्मज्ञानी का संग पाकर भी जिन्हें आत्मजिज्ञासा उदय नहीं हुई और जो आत्मा का उपहास करते थे मैंने उन कोटि संन्यासियों की हत्या करडाली । उनका मांस यज्ञ मण्डप के दक्षिण दिशा में दूसरे कर्मकाण्डी लोगों को शिक्षा देने एवं आत्मज्ञान की ओर श्रद्धा कराने हेतु कुत्तों के सम्मुख डाल उन्हें खिलवा दिया । फिर भी आत्मज्ञान के प्रभाव से मेरा किंचित् भी अहित नहीं हुआ । मेरे द्वारा मारे गये संन्यासी बाद में व्यास एवं नारदादि ऋषियों की संतति में उत्पन्न हो ब्रह्मात्म एकता बोध को प्राप्त हो, मुक्ति प्राप्त कर पाये । इस प्रकार मैने लोकहित एवं आत्मज्ञान में श्रद्धा कराने के लिये कर्मकाण्ड से ही मुक्ति मान कर अटके लोगों को मुत्यु दण्ड प्रदान किया । कितनी ही बार प्रहल्लाद के परिचारक दैत्य राजाओं को मौत के घाट उतार दिया और बहुत से असुरों का भी संहार कर डाला । परन्तु कर्तृत्वाभिमान और कर्मफल की कामना

से शुन्य होने के कारण मुझ प्रसिद्ध देवराज इन्द्र के एक रोम को भी हानि नहीं पहुँची । मेरा एक बाल भी बाँका नहीं हुआ । यह बात मेरे ही लिये नहीं है; बल्कि मेरे अतिरिक्त आज भी जो कोई चिदात्मा को मैं रूप से जान ले कि ''वह साक्षी ब्रह्म मैं हूँ'' तो वह भी मेरी तरह निष्पाप ही हो जावेगा ।

यह कथन अहंकार से सर्वथा शुन्य ब्रह्मज्ञानी की महत्ता बतलाने के लिये है, न कि इस ज्ञान के द्वारा निन्दनीय दुष्कर्मों को करने का समर्थन है । वस्तुत: अहंकार रहित राग-द्वेष शून्य पुरुष से पाप कर्म बनने का कोई हेतु ही नहीं होता है । ब्रह्मवेत्ता पुण्य और पाप से उसी प्रकार पृथक् होता है जैसे रथ से यात्रा करने वाला पुरुष रथ को दौड़ता हुआ रथ के दोनों चक्कों को देखता है और रथ चक्रों का भूमि से जो संयोग-वियोग, होता है वह उस द्रष्टा को नहीं होता । जैसे दिन व रात को देखते हैं, इसी प्रकार वह सुख-दुःख, पुण्य-पाप तथा समस्त द्वन्द्वों को देखता है । द्रष्टा होने के कारण ही उसका इन समस्त द्वन्द्वों से कोई सम्बन्ध नहीं होता है । जो उसके प्रिय, आज्ञाकारी, सेवाभावी, भक्त होते हैं, वे तो उस तत्त्वज्ञानी का पुण्य भोगते हैं और जो उनसे द्वेष करने वाले होते हैं वे दुष्टजन उस ब्रह्मवेत्ता के द्वारा प्रारब्ध बल से होने वाले पाप कर्मों का फल भोगते हैं ।

उपदेश साहस्त्री में तत्त्ववेता के लिये पारलौकिक भय का अभाव बताया है । उसे मृत्यु का भय भी नहीं है । उसके लिये ब्रह्मा, विष्णु, शंकर तथा इन्द्रादि ऐश्वर्यशाली देवता भी शोचनीय हैं । तत्त्ववेता के प्राण अज्ञानी की तरह शरीर से निकलकर किसी अन्य लोक विशेष में नहीं जाते हैं, बल्कि यहीं अपने कारण में लय को प्राप्त हो जाते हैं ।

इस प्रकार देवराज इन्द्र ने काशीराज प्रतर्दन को आत्मज्ञान की महिमा सुनाकर आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रेरित किया ।

ब्रह्मविद्या कब रोती है ?

एकबार ब्रह्मवेत्ताओं की सभा में ब्रह्मविद्या पश्चाताप करती, आँसु बहाती गद्‌गद् कंठ से कहने लगी कि हे ब्रह्मज्ञ ब्राह्मणों ! धन के लोभ से आप मुझे वैश्या की तरह जिस किसी को भी प्रदान कर देते हैं । मुझपर दया कर बिना पात्रता देखे मुझे अनाधिकारी को मत दीजिये । कुलीन स्त्री की तरह मुझे संभालकर रखने की कृपा करें एवं अधिकारी की परीक्षा कर ही उसे प्रदान किया करें । मैं त्यागी पुरुषों को ही वरण करना चाहती हूँ । कामना वाला पुरुष मुझे प्रिय नहीं है ।

त्याग एवं विवेकहीन पुरुष ब्रह्मविद्या को प्राप्त कर अनेक अनर्थ करते हैं । ब्रह्मविद्या के नाम पर इन्द्रियजन्य सुख में तल्लीन होकर अपने मन की कामवासना को लेकर भोले भक्तों को ठगते रहते हैं । साधु वेशधारी दुष्ट चाण्डाल लोग कुलीन वधुओं की इज्जत लूट व्यभिचार करते हैं । श्रद्धावान लोगों का धन, तन, मन हरण करते रहते हैं ।

अतः जो ईश्वर पर विश्वास करने वाला न हो, आत्मज्ञान में प्रीति करने वाला न हो, ब्रह्म आत्मा की एकता का ज्ञान जिन्हें अच्छा न लगता हो, जो आचार्य सेवा एवं माता-पिता की सेवा से रहित हो, जो शम, दम, विवेक तथा वैराग्यवान न हो उसे तो कदापि नहीं देना चाहिये । हाँ इससे अन्य वैराग्यवान मुमुक्षुजनों को अवश्य प्रदान करना चाहिये । परमानन्द प्रदान करने वाली इस ब्रह्मविद्या रूप कन्या का दान सत्पात्र में ही करें । अपात्र को देने से लोक-परलोक दोनों का एवं ब्रह्मविद्या तथा ब्रह्मवेत्ता गुरु दोनों का ही अश्रेय होता है । मुझे गुणहीन को प्रदान करने से मैं ब्रध्या स्त्री या फलहीन लता की तरह रह जाऊँगी ।

हे ब्रह्मवेत्ताओं ! आप मेरे लिये कष्ट करके जिज्ञासुओं के अन्तःकरण को कर्म, उपासना द्वारा शुद्ध एकाग्र कर असत्, अज्ञान तथा मृत्यु के भ्रम को

प्रथम भली प्रकार से हटावे । पश्चात ही सत चित आनन्द का बोध प्रदान करे । ब्रह्मविद्या को प्रदान करने वाले, अज्ञान अन्धकार को मिटाने वाले सद्गुरु माता-पिता से भी श्रेष्ठ है । क्योंकि माता-पिता तो जन्म-मृत्यु के चक्र में ही जीव को डालते हैं, किन्तु गुरु उन्हें जन्म-मरण के चक्र से मुक्त करा देता है । इसलिये जो पुरुष दैवी सम्पदा अमानित्व अदम्भित्व युक्त हो तथा सद्गुरु को परमात्मा रूप जानता हो उसे ही यह ब्रह्मविद्या प्रदान करना चाहिये । जो गुरु बिना पात्र देखे अनाधिकारी को ब्रह्मविद्या धन के लोभवश प्रदान करते हैं वह अधम गुरु अपने सहित शिष्य की अधोगति कराने वाले हैं ।

अन्तवन्त क्षत्रियते जयन्ति लोकाञ्जनाः कर्मणा निर्मितेन ।
ज्ञानेन व द्वांस्तेज अभ्येति नित्यं न विद्यते ह्यन्यथातस्य पन्थाः ।।

– उद्योग पर्व, महाभारत ३/१८

हे क्षत्रिय ! वे कर्मपरायण लोग तो अपने किये हुए यज्ञ दानादि कर्म द्वारा नाशवान् लोको को ही प्राप्त होते हैं, किन्तु ज्ञान के द्वारा विद्वान आत्मज्ञानी महापुरुष नित्यप्रकाश स्वरूप ब्रह्म (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं । इसके सिवा उसका अन्य मार्ग नहीं है ।

'य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदँ सर्वं भवति ।'

जो ऐसा जानता है कि मैं सामान्य चेतन ब्रह्म हूँ वह यह सब लोक, भोग एवं लोग हो जाता है । उनके लिये फिर कुछ ही अनदेखा व अप्राप्त सा नहीं रहता ।

◆◆◆

वशिष्ठ मुनि द्वारा राम को गुप्तोपदेश

हे राम ! अर्थयुक्त बचनों के बिना जगत् की सत्यता का भ्रम दूर नहीं

होता । जो तप, तीर्थ, पूजा, पाठ, दान, स्नान, ध्यान, समाधि आदि साधन करके जगत के भ्रम को दूर करना चाहे वह मूर्ख है । इस प्रकार के जड़ साधनों से जिज्ञासु के मन में संसार भ्रम और दृढ़ होता है, क्योंकि यह कर्म का कर्त्ता जहाँ भी जावेगा उसे वहाँ यही अनित्य पांच भौतिक सृष्टि ही नजर आवेगी उससे तो इसके भ्रम का नाश नहीं होगा ।

हे राम ! जो योगी जगत से उपराम होकर कितने समय तक भी समाधि लगाकर क्यों न बैठे किन्तु चिरकाल में उसका जब समाधि से उत्थान होगा तब उसे पूर्ववत् जगत ज्यों का त्यों सत्य रूप में प्रतीत होने लग जावेगा । जैसे सुषुप्ति से जाग्रत में आने पर सभी को संसार ज्यों का त्यों प्रतीत होने लगता है । हे राम ! इतने लम्बे काल कष्ट करने पर समाधि साधकर फिर उत्थान काल में कष्ट भासित हुआ तब समाधि लगाने का क्या विशेष फल प्राप्त हुआ ? इतनी देर अपने को भूलाने का कार्य तो कोई भी नशे की गोली, भाँग, शराब, आदि सेवन से ही हो जाता है । निदान इन जड़ क्रियाओं के द्वारा जगत भ्रम की पूर्णतया निवृत्ति नहीं होती है । जैसे वृक्ष के पत्ते, टहनी, डाली आदि के तोड़ने से वृक्ष का नाश नहीं होता उसी प्रकार तप, दान, यज्ञ, योगादि साधनों के द्वारा जगत भ्रम की निवृति नहीं होती और तभी तक अज्ञान रूपी बीज भी नष्ट नहीं होता है । जब अज्ञान रूपी बीज नष्ट होगा तभी जाकर जगत रूप वृक्ष का अभाव हो सकेगा । इसके अलावा अन्य उपाय करना वृक्ष को सुखाने के लिये पत्ते तोड़ना व कलम करने जैसा व्यर्थ है ।

हे राम ! ऐसी अखंड समाधि आजतक तो किसी को प्राप्त नहीं होती है कि जीव शिला के समान हो जावे । मैं सब स्थानों को देख रहा हूँ कदाचित् यदि कोई सौ कल्पों के लिये जड़वत् समाधि सिद्ध करले तो भी जगत सत्ता उसकी बुद्धि से निवृत नहीं होती । क्योंकि अज्ञान रूपी बीज उसकी बुद्धि से निवृत नहीं हुआ है । समाधि ऐसी है जैसे जाग्रत से

सुषुप्ति होती है और सुषुप्ति से पुनः जाग्रत अवस्था अज्ञान रूप वासना के कारण होती है । वैसे ही अज्ञान रूपी वासना के कारण समाधि से भी जाग जाता है; क्योंकि उसको वासना खींच ले आती है ।

हे राम ! तप, समाधि आदि बाहरी जड़ साधनों से संसार भ्रम निवृत्त नहीं होता है । तप, समाधि से केवल चित्त वृत्ति एकाग्र होती है, किन्तु संसार भ्रम निवृत्त नहीं होता । जबतक चित्त समाधि में लगा रहता है तबतक तो सुख होता है और जब उत्थान होता है तब फिर नाना प्रकार के शब्द और अर्थों से नाम रूपात्मक संसार भासता है । हे आत्मन् ! यह अज्ञान से जगत भासता है और विचार से निवृत होता है ।

– योगवाशिष्ठ तृतीय उत्पति प्रकरण प्रथम सर्ग ।

हे राम ! जबतक स्वरूप बोध नहीं होता तबतक योग की हजारों क्रियाऐं करने पर भी परमशान्ति नहीं होती । योगाभ्यासी अल्पकाल में ही सद्गुरु उपदेश द्वारा स्वरूप साक्षात्कार कर लेता है । समाधि में अनुभव तत्त्व (आत्मा) समाधि हो या न हो तब भी ज्यों का त्यों रहता है । जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति में समाधि नहीं होती । समाधि का होना न होना मन के धर्म हैं, आत्मा एकरस है उसमें किसी अवस्था से कोई भेद अन्तर नहीं होता है । हे आत्मन् ! समाधि में कुछ नहीं दिखता है ऐसा तेरा कहना अज्ञान के कारण ही है । यही तेरी भूल है, तू और आत्मा दो नहीं है । तू ही आत्मा है और तू देखने को उत्सुक हो गया तो दिखने वाला आत्मा कहाँ से आवेगा ? हे आत्मन् ! तुझे सुषुप्ति समाधि में जो कुछ अभाव का अनुभव होता है वह बिना किसी प्रकाशक के कैसे जाना जायेगा । इसी से वह समाधि–सुषुप्ति का प्रकाशक ही स्वयं प्रकाश तू आत्मा है ।

हे राम ! संसार के प्रत्येक पदार्थ में पांच अंश होते हैं । नाम, रूप, अस्ति, भाति तथा प्रिय । इन पाँच में से नाम तथा रूप यह दो अंश मन द्वारा सत्ताहीन निश्चय कर दें । सब शेष अस्ति, भाति, प्रिय अर्थात् सच्चिदानन्द

आत्मब्रह्म ही सर्वत्र ज्ञान समाधि द्वारा बोध होता है । योग समाधि में भी नाम, रूप का बोध करके टिकना होता है । बाहर की समाधि की अपेक्षा अन्तर हृदय में की गई समाधि में श्रेष्ठता एवं सुलभता है । बाहर की समाधि में बहुत कठिनाई है । किसी-किसी को ही बहुत अभ्यास करने के बाद क्षणिक सफलता प्राप्त होती है, किन्तु ज्ञान समाधि अल्पाभ्यास द्वारा सभी को सुलभ हो जाती है । भिन्नतायुक्त बोध अद्वैत बोध नहीं है इसी से ज्ञान समाधि श्रेष्ठ है ।

हे राम ! जब समाधि करने से भी अद्वैत का बोध न हो अपना व्यक्तित्व निवृत्त न हो तो समाधि करने का कोई फल नहीं है । क्योंकि बिना समाधि के अज्ञानी को भी द्वैत प्रपंच की प्रतीति होती ही रहती है । द्वैत बोध रूप समाधि से मुक्ति कभी नहीं होती है ।

हे राम ! बाहर समाधि करने वाले व्यक्ति को किसी भी पदार्थ के नाम-रूप अंश को बुद्धि वृत्ति (हृदय) से दूर करना होता है किन्तु हृदय का बाध नहीं हो पाता । ज्ञान समाधि वाले हृदय के नाम रूप का त्याग(बाध) कर अद्वैत परब्रह्म को ही प्राप्त होता है । हृदय में समाधि करने वाले को केवल एक नाम, रूप का ही त्याग करना पड़ता है । उसी से समस्त जगत के नाम-रूप का परित्याग हो जाता है एवं बाहर समाधि करने वालों को अपने व बाहर के नाम-रूप का त्याग करना होगा तब ही समाधि द्वारा अद्वैत सच्चिदानन्द निजात्मा का बोध होता है । नाम और रूप में टिकना संसार है और नाम-रूप का विचार द्वारा बाध करके उस वस्तु के आधार सच्चिदानन्द में बुद्धि वृत्ति का टिकना कि ''वह मैं हूँ'' यह परब्रह्म स्वरूप है । जगत एवं जगत के पदार्थों की सत्ता का बुद्धि वृत्ति में सत्यता का भान जिसे न हो वह शरीर में रहते हुए अशरीरी ब्रह्म है तथा भोगते हुए भी अभोक्ता है ।

हे राम ! ज्ञान समाधि में विचार की मुख्यता है और योग समाधि

में क्रिया सहित विचार है । करने वालों को भिन्नता मालूम होती है किन्तु ज्ञान समाधि में उसकी भिन्नता मालुम नहीं होती है । विचार को धारण कर रखना ही धारणा है तथा उस धारणा में विचार सहित वृत्ति का त्रिपुटी सहित प्रवाह को ध्यान कहते है । इस प्रकार की त्रिपुटी सहित भान सविकल्प समाधि कहलाती है । निर्विकल्प समाधि में केवल ब्रह्माकार वृत्ति ही अखंड रूप से बनी रहती है अर्थात् नाम, रूप से सत्यत्व बुद्धि हटा केवल अधिष्ठान रूप ही देखता रहता है इसी को वृत्ति निरोध भी कहते हैं ।

"यत्र यत्र मनोयाति तत्र तत्र समाधय:"

हे राम ! सुषुप्ति में भी इसी प्रकार एकता क्षणिक होती है किन्तु वृत्ति का लय वहाँ अज्ञान में ही होता है और निर्विकल्प समाधि में अज्ञान सहित अन्तःकरण का लय चैतन्य में सदा के लिये होता है । जगत और उसके पदार्थों का ध्यान करने से सभी को जगत की प्राप्ति हो जाती है तब क्या आत्मा का ध्यान करने से उसकी प्राप्ति नहीं होगी जो उसका ही स्वरूप है ? अवश्य ही होगा । शम, दम द्वारा मन को लक्ष्य में लगाना ही प्रत्याहार है । प्रत्याहार होने के बाद ही धारणा होती है । मन को एक आधार में रखना ही धारणा है । प्रत्याहार नहीं तो धारणा कैसी ? एवं धारणा बिना ध्यान कैसा ? एवं ध्यान बिना समाधि कैसी ? एवं सविकल्प बिना निर्विकल्प समाधि कहाँ ?

हे राम ! साधक को जिस लक्ष्य की धारण करना है उसकी ही धारणा करे वहाँ से हटने न पावे । वृत्ति का प्रवाह ध्येय की तरफ होना ही ध्यान है । ध्यान में कभी बिजली, चन्द्र, प्रकाश, ध्वनी, संगीतादि मालूम पड़ते हैं । कोई प्रकाश देखने की चाह करते हैं । उनका प्रकाश में प्रेम का होना ध्येय की तरफ से हटा देने वाला विध्न है । ऐसे प्रेमी का ध्येय ब्रह्म छूटकर जड़ प्रकाश, नाद, चक्र दर्शन ही हो जाता है । ऐसे साधकों को

लक्ष्य ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकेगी जो इन दृश्यों में फँस गये हैं । ज्ञान समाधि का साधक विचार द्वारा ऐसी धारणा एवं ध्यान बनाये रखता है कि 'मैं स्वयं प्रकाश अखंड़ एकरस हूँ' । ज्ञान समाधि तो विचार सहित ही होती है एवं योग समाधि क्रिया सहित होती है । चित्त का अभाव होना समाधि नहीं है वह तो जड़ता सुषुप्ति ही समझना चाहिये । चित्त का अभाव समाधि नहीं है इसी से महर्षि पंतजली ने चित्त वृत्ति के निरोध का नाम योग कहा है ।

"योगश्चित्त वृत्ति निरोध:" न कि चित्त नाश का नाम योग है । चित्त जो जाग्रत तथा स्वप्नावस्था में विषयाकार होता है और सुषुप्ति अवस्था में अविद्यामय अज्ञान रूप हो जाता है । ऐसा न होकर चैतन्याकार धारणा वाला होना ही समाधि है जो केवल ज्ञान समाधि द्वारा ही सम्भव है ।

हे राम ! परमात्मा सर्वव्यापक होने से सब ओर है । उसका विवर्त रूप ही यह नाम, रूपात्मक जगत भासमान हो रहा है । यदि विचार द्वारा नाम, रूप की सत्यता का बाध कर दिया जावे तो नाम रूप का अधिष्ठान एक सत्य ब्रह्म ही सर्व रूप में सब ओर से भासित होने लगता है । अस्ति, भाति, प्रिय ब्रह्म पर नाम, रूप का रंग चढ़ गया है । इस नाम, रूप के रंग को विचार पूर्व हटाकर अधिष्ठान परब्रह्म का बोध करना ही सर्व सुगम सहज उपाय है ।

हे राम ! बारम्बार वस्तु स्वरूप अखंड़ परब्रह्म का चिन्तन करने से ब्रह्मस्वरूप होता है । जैसे कीट भ्रमर का डंक खाते-खाते चित्त भ्रमर में लगने से कीट मिटकर भ्रमर हो जाता है । इसी प्रकार परब्रह्म के ध्यान में आरूढ़ चित्त परब्रह्म ही हो जाता है, एकरस अखंड ही हो जाता है । शरीर की क्रिया छोड़कर जड़ हो जाने का नाम समाधि नहीं है । शरीर निर्वाह के बाद बचे समय में स्वरूप अभ्यास करना ही साधक हेतु कर्त्तव्य रूप है । हे राम ! जड़

समाधि में पूर्व के संस्कार नहीं कटते हैं । जड़ समाधि के साथ ज्ञान का अंश हो तो फल होता है और ज्ञान समाधि जो विचार रूप है उससे तो अनन्त जन्मों के संचित कर्म संसार नष्ट हो जाते हैं ।

हे राम ! मैं कौन हूँ ? यह ठीक से न जानने के कारण ही अज्ञान से देहाभिमान हुआ है । स्थूल, सूक्ष्म, कारण अर्थात् देह, इन्द्रिय, प्राण तथा मन, बुद्धि में से किसी एक को ''मैं'' समझना ही अज्ञान है । इसी कारण जीव अनादिकाल से संसार में नाना प्रकार के असहनीय वेदना को प्राप्त हो रहा है । अनेक जन्मों के पुण्य कर्म फलानुसार अन्तिम मानव देह में मुमुक्षुता जाग्रत होती है एवं आत्मा का पूर्ण दृढ़ बोध होने पर देहाभिमान नष्ट होता है और संसार भ्रमण से छुटकारा मिल जाता है ।

हे राम ! बुद्धि वृत्ति हीन होने उसे समाधि नहीं कहते हैं । बुद्धि की वृत्ति सुषुप्ति मूर्च्छा में नहीं होती इसलिये सुषुप्ति मूर्च्छा समाधि नहीं है । बुद्धि की ब्रह्माकार वृत्ति ही समाधि है । जहाँ समाधि को वृत्ति रहित कहा है वहाँ उनका अभिप्राय लौकिक नाम, रूप में सत्य बुद्धि के अभाव से है, बुद्धि वृत्ति के सर्वथा अभाव बतलाने से नहीं है । स्वस्वरूप की बुद्धि वृत्ति का निषेध नहीं है ।

हे राम ! दृढ़ ज्ञानी की समाधि अखंड रहती है । जिसका देहाभिमान नष्ट हो जाता है उस ज्ञाननिष्ठ पुरुष का मन जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ-बहाँ समाधि ही है । देहाभिमान रहित मन जहाँ भी जावे वह समाधिस्थ ही है; क्योंकि ज्ञानी का ब्रह्मभाव अखंडित ही है । उसके द्वारा देह की क्रिया होने पर भी वह अकर्त्ता एवं भोग होने पर भी वह अभोक्ता ही है । देह सहित भी वह देह रहित है, उसका ग्रहण भी त्याग है, बोलना भी परम मौन है । उसके द्वारा लौकिक, व्यावहारिक बुद्धि वृत्ति से कार्य होने पर भी वह समाधि में ही है । उसके मन में किसी भी कार्य से विक्षेप पैदा नहीं होता । कार्य की भीड़ में भी वह अपने लक्ष्य स्वरूप द्रष्टा

आत्मभाव को नहीं भूलता है । दृढ़ बोध से उसकी बुद्धि सम ही रहती है । जैसे माँ बच्चे को सुलाकर घर के काम में लगी हुई होने पर भी मन द्वारा बच्चे का निरन्तर ध्यान बना रहता है । इसी प्रकार प्रत्येक कार्य में ब्रह्माकार वृत्ति का बना रहना ही समाधि है । देहाभिमान न होने से मन का विषयों में जाना एवं भोगना भी ज्ञानी के पक्ष में समाधि ही है । नाम रूप की सत्यता बुद्धि में जब तक रहेगी तब तक उसे विक्षेप होता ही रहेगा एवं विक्षेपी को दु:ख मिलता ही रहेगा । सच्चा सुखी एवं समाधिस्थ तो आत्मज्ञानी ही है शेष तो सभी दु:खी ही हैं ।

हे राम ! जड़-चेतन की ग्रन्थि योग समाधि द्वारा नष्ट नहीं हो सकती । उसका नाश तो देह तथा आत्मा का पृथक्-पृथक् विचार करने से ही होती है । जब विचार द्वारा ग्रन्थि छूट जाती है तब कर्म नष्ट हो जाते हैं । संचित् कर्म जल जाते है, आगामी कर्म बनते ही नहीं और प्रारब्ध कर्म भोगकर नष्ट हो जाते हैं और ऐसा पुरुष ब्रह्म को जान ब्रह्म ही हो जाता है ।

''ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति''

मूर्ति पूजा किसके लिये

जब हम छोटे थे, वर्णमाला सीखने गये तब क, ख, ग के सम्मुख चित्र होते थे जिसके आधार से निराकार भाषा सरलता से समझ में आ जाती है । पहले रटना पड़ता था **A for Apple, B for Boy, C for Cat, D for Dog.** किन्तु जब कालेज की डिग्री ले ली, पी.एच.डी. हुए तब क, ख, ग किसी अक्षर में लिखना पड़ता है तो कलम, खरगोश, गणेश का स्मरण नहीं होता है किन्तु बड़े व परिपक्व हो जाने पर यह चित्र भूला दिये जाते हैं, अन्यथा बड़े होने पर भी लिखते समय चित्र बीच-बीच में आने

लगे तो वाक्य पूरा करना ही मुश्किल हो जावेगा । किन्तु चित्रों द्वारा प्रारम्भ में समझाया जाता है, बड़े होने पर चित्रों की आकारों की जरूरत नहीं होती है ।

इसी प्रकार ऋषियों ने अज्ञानी लोगों के लिये साकार प्रतिमा उपासना प्रारम्भ की जिसके द्वारा निराकार ब्रह्म को जाना जा सके । किन्तु जिन्हें तत्त्वज्ञान में रूचि हो चुकी है उन्हें मूर्ति पूजा की किंचित् भी जरूरत नहीं । फिर अज्ञानी परिपक्व अवस्था में पहुँच जाता है तब उसे फिर कहने में आता है कि जो मूर्ति है यही परमात्मा नहीं है ।

अज्ञानी लोगों के लिये प्रारम्भ में अन्तःकरण शुद्धि हेतु मूर्ति पूजा करना आवश्यक है, किन्तु जिज्ञासु या तत्त्वज्ञानियों के लिये व्यर्थ एवं त्याज्य भी है । **K.G.** क्लास वाले के लिए मूर्ति-पूजा जरूरी है । मूर्ति-पूजा अध्यात्म मार्ग के नये-नये साधक के लिये जरूरी है, किन्तु मूर्ति-पूजा साधन है साध्य नहीं है यह बात समझ लेना चाहिये । मूर्ति ही परमात्मा है ऐसा मानना भूल है । मूर्ति में भी परमात्मा है ऐसा मानना तो भूल नहीं कहा जा सकेगा ।

परमात्मा को प्राप्त करने के लिये साधक के लिये मूर्ति पूजा के.जी. क्लास की तरह है । जो **K. G.** क्लास **One** से आगे **K. G. 2** में आना ही नहीं चाहता हो उसको मूर्ति पूजा से हटने की कोई आवश्यकता नहीं । जिसे क्लास में मानीटर बनना होगा उसे तो बार-बार फैल होना होगा एवं वह नये विद्यार्थी का दादा बनता चला जावेगा । जब मानीटर बनने का सौभाग्य मिल जावे तो फिर आगे क्लास में जाने का मन होगा ? इसी प्रकार जो मूर्ति पूजा, यज्ञ, मुत्यु के पिछे संस्कार क्रिया में तथा बच्चे पैदा कराने में विशेषज्ञ हो जाता है तब जहाँ-जहाँ इस प्रकार का काम होता है तब-तब उसे ही प्रथम बुलाया जाता है एवं वह आगे-आगे बतलाता जाता है कि प्रथम पैर धोओ, अब चन्दन करो, अब धूप नैवेद्य रखो, अब परिक्रमा प्रणाम करो, ऐसी उसे सब जानकारी रहती है । अतः जो मूर्ति पूजा से

आगे बढ़ना नहीं चाहता है उसके लिये हमारे पास कोई रास्ता नहीं है । कहने का तात्पर्य यह है कि अन्तिम लक्ष्य निराकार ब्रह्म मैं हूँ इस बात का अनुभव करने के लिये सर्वप्रथम मूर्ति पूजा का अवलम्बन लेना जरूरी है । यह प्रारम्भिक साधत तो कहा जा सकेगा किन्तु अन्तिम साध्य वस्तु नहीं है । अज्ञानी के लिये मूर्ति पूजा जरूरी है किन्तु ज्ञानी के लिये पूर्ण व्यर्थ है । समझदार को भ्रम से मुक्त होना चाहिये ।

आपमें से जो मूर्ति पूजक है वे हाथ उठावे । आपने जो हाथ उठाये वे झूठे है । आप मूर्ति पूजक नहीं है भ्रान्त हैं । यदि है तो जाइये म्युजियम में आर्कोलाजिक डिपार्टमेंट में वहाँ कितनी मूर्तियाँ है उन्हें तिलक, चन्दन, माला, भोग, आरती क्यों नहीं करते हैं ? यदि म्युजियम में एवं जयपुर शिल्पालय में जाकर पूजा नहीं करते हैं तो समझ लिजिये आप मूर्ति पूजक नहीं है । मूर्ति तो जड़ है, पत्थर है, पृथ्वी में से खोदा है, शिल्पी ने उसे बनाया है या चेतन परमात्मा को ?

मैं आपसे पूछता हूँ चेतन परमात्मा निराकार है, सामने ही है, इसके उपर जड़ मूर्ति को आरोपित करते हो या जड़ मूर्ति में चेतनात्मा को देखने का प्रयत्न करते हो ? पूछो अपने आपसे । यदि जड़ मूर्ति में चेतन परमात्मा को देखने का प्रयत्न करते हो तो तुम्हें सुस्पष्ट होना चाहिये कि यह मूर्ति है, यह परमात्मा या भगवान नहीं । मुझे बताओ कि आप जड़ मूर्ति में चेतन परमात्मा को देखते हो या चेतन परमात्मा पर नाम, रूप की ओढ़नी ओढ़ा देते हो ?

याद रखो ! जड़ मूर्ति जो है वह तो पत्थर मात्र है । मात्र भावना है । मूर्ति लाने पर प्राण-प्रतिष्ठा करनी पड़ती है । नामी में अनामी को, साकार में निराकार को, जड़ में चेतन को देखने की भारतीय प्राचीन संस्कृति है । समय बदल गया, लक्ष्य भूल गये, अब तो माँ-बाप बच्चों को कहते हैं यह भगवान हैं पैर छुओ, प्रणाम करो, प्रार्थना करो, जल फल

भोग चढ़ाओ, इधर मुँह करो; पीठ देकर न चलो किन्तु इन मान्यताओं में अब लड़के पड़ने वाले नहीं । यदि कोई तर्क द्वारा, विज्ञान द्वारा सत्य को समझावे तो जीवन भर भूल नहीं सकता है ।

जब गाय, पीपल, आँवला, सूर्य, जल, पृथ्वी, वट परमात्मा है तो क्या चेतन प्राणी में परमात्मा नहीं ? मूर्ति पूजक तो दुकान लगा बैठे है । पैसे कमाने हेतु एक-एक मूर्ति के आगे दान पात्र रख छोड़ा है । ये सब तो देवी-देवता कहलाते हैं । मैं इनकी बात नहीं करता मैं तो बताना चाहता हूँ कि ईश्वर कौन है ? जो मन्दिर, मस्जिद की दिवारों में छुपा है ताले में बंद पहाड़ ऊपर बैठे परमात्मा की, एकदेशीय परिच्छिन्न भगवान की बात मुझे नहीं कहना है । जिसके मन्दिर के पट खुले एवं बंद हो जावे, पर्दा गिरे एवं उठ जावे, जिसे सुलाना एवं जगाना पड़े, जिसे स्नान एवं भोग कराना पड़े उस भगवान को मैं समझाने हेतु नहीं कहता वह तो एक मूर्ख को करते पूजते देख दूसरा मूर्ख सरलता से स्वतः ही समझकर चल पड़ता है मानने पूजने लग जाता है । मैं उस ईश्वर की बात करना नहीं चाहता जिसके दर्शन के लिये अपना दैनिक कर्तव्य कर्म छोड़ दूर देश में जा ८ घन्टे लाइन में खड़े हो चार छह, आठ, दश, पन्द्रह, बीस मील चलना पड़ता हो ।

यदि आप मुझसे पूछे कि ऐसा ईश्वर कहाँ है जिसके पाने हेतु कुछ कष्ट न करना पड़े ? तो मैं आपसे कहूँगा कि ऐसा देश, काल, वस्तु तो बताओ जहाँ, जिसमें एवं जो परमात्मा न हो । मैं आपको ऐसे ईश्वर के बारे में समझाना चाहता हूँ जिसे पाने हेतु कहीं जाने की एवं कुछ करने की आवश्यकता नहीं है । उसके लिये किसी प्रकार की तितिक्षा, प्रतिक्षा, त्याग की उपेक्षा नहीं है । उसे जगाना-सुलना नहीं पड़ता, ताले में बंद नहीं करना पड़ता, चोर चुरा नहीं पाते ।

मैं आपसे पूछूँ कि जिसे आप जगाते एवं सुलाते हो वह भगवान है

या वह आप भगवान हो जो मूर्ति भगवान को जगाता सुलाता है ?

इंद तीर्थं इदं तीर्थं भ्रमन्ति तामसा जनाः ।
आत्म तीर्थं न जानन्ति कथं मुक्ति बरानने ।।

– ज्ञान संकलनी तंत्र : ४९

तामस प्रकृति वाले पुरुष ही जल पाषाण से निर्मित स्थानों को तीर्थ मानकर भ्रमण करते रहते हैं । वे आत्म ज्ञान से रहित होने के कारण कभी भी मुक्ति नहीं पा सकेंगे । क्योंकि उनको अपने हृदय मन्दिर स्थित आत्मतीर्थ अवगत ही नहीं है ।

उपेक्ष्य तन्तीर्थ यात्रा जपादीनेव कुर्वताम् ।
पिण्ड समुत्सृज्य करं लढ़ीतिन्याय आपतेत ।।

– पंचदशी ९/१३०

जा अज्ञानी आत्मतीर्थ का परित्याग करके बाह्य तीर्थ की सैवा और जप पूजादि कर आत्म कल्याण की आशा रखते हैं वे हस्तगत लड्डू का परित्याग कर तल चाट आनन्द लेना चाहते हैं ।

संसारोत्तरणे युक्तिर्योग शब्देन कथ्यते ।
ता विद्धि द्वि प्रकार त्वं चित्तोपशमधर्मिणाम् ।।
आत्म ज्ञानं प्रकारोऽस्या एकः प्रकटितो भुवि ।
द्वितीयः प्राणसंरोधः श्रुषु योऽयं मयोच्यते ।।

– योगवशिष्ठ ६/१/१३/३-४

हे राम ! इस संसार सागर से उत्तीर्ण होने की जो युक्ति है उसी का नाम योग है । यह योग दो प्रकार का है – ज्ञान योग और क्रिया योग । विचार पूर्वक आत्मतत्त्व का सोऽहम् रूप से निश्चय करना ज्ञानयोग कहलाता है तथा प्राणायाम, धारणा, ध्यान आदि के द्वारा चित्त की वृत्ति निरोध करने का नाम क्रियायोग है ।

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो मानश्च राघव ।
योगस्तचित्तवृत्ति निरोधोहि ज्ञानं सम्यकवेक्षणम् ।।

– योगवशिष्ठ ५/६५/८

चित्त नाश के दो उपाय है एक योग और दूसरा ज्ञान । चित्त वृति निरोध का नाम योग है । और सम्यक दर्शन का नाम ज्ञान है ।

असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यजिज्ञान निश्चयः ।
ममत्वभिमतः साधो सुसाध्यो ज्ञान निश्चयः ।।

– योगवशिष्ठ ६/९/१३/८

वशिष्ठ देवजी श्री रामचन्द्र से कहते हैं – शारीरिक दूर्बलता, रोगादि से पीड़ित किसी के लिये योग साधन असम्भव-सा है ज्ञान की सूक्ष्मता के अभाव में अर्थात् बुद्धि की मन्दता में किसी के लिये ज्ञान योग द्वारा आत्म विचार असम्भव सा है । किन्तु है राम ! मेरे मत से ज्ञान योग ही सबके लिये सुसाध्य है ।

सर्वस्यैव जन स्यास्य विष्णुरभ्यन्तरे स्थितः ।
तं परित्यज्य यान्ति वहि र्विष्णु नराधमः ।।
हृद्गुहावासि चित् तत्त्वं मुख्यं सनातनं वपुः ।
शंख चक्र गदा हस्तो गौण आकार आत्मनः ।।
योहि मुख्यं परित्यज्य गौणं समनुधावति ।
त्यक्तवा रसायनं सिद्धं साध्यं संसाधय त्यसौ ।।

– योगवशिष्ठ ५/४३/२६-२८

हे राम ! भगवान विष्णु समस्त मनुष्यों के अभ्यन्तर में अवस्थान करते हैं । जो मूर्ख साधक हृदय स्थित परमात्मा का त्याग करके वाह्य विष्णु की उपासना करते हैं, वे नराधम है । हृदय गुहा में अवस्थित चैतन्य साक्षी ही विष्णु का वास्तविक सनातन वपु है । एवं शंख, चक्र, गदा,

पद्मधारी चतुर्भुज मुर्ति उनका गौण रूप है । जो व्यक्ति मुख्य का परित्याग कर के गौण की उपासना करते हैं वे सिद्ध अमृत आत्मा का त्याग करके साधन से उत्पन्न होने वाले अनित्य तत्त्व की ही उपासना करते रहते हैं ।

◆◆◆

स्वधर्मे निधनं श्रेय:

''सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज''

– १८/६६

हे आत्मन् ! शोक के सागर से पार होने के लिये, पाप के दलदल से निकलने के लिये, अशान्ति से मुक्ति पाने हेतु तू समस्त बाह्य धर्मों के अहंकार को उन–उन प्रकृति का ही धर्म जान उनके अहंकार से मुक्त हो अपने निज आत्मस्वरूप में ही एकमात्र निष्ठा कर, आत्मवान, योगायुक्त एवं मन्मना हो । क्योंकि –

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दु:खेन गुरुणापि विचाल्यते ।।

– गीता : ६/२२

श्रेयमार्गी जिज्ञासु परमात्मा की प्राप्ति रूप लाभ को प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्मा प्राप्तिरूप अवस्था में स्थित वह योगी भारी दु:ख से भी चलायमान नहीं होता ।

तं विद्याद्दु:खसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ।। – ६/२३

जिज्ञासु को चाहिये कि जो दु:खरूप संसार के संयोग से रहित है तथा जिसका नाम योग है उसको अवश्य जानने कि चेष्टा करे । वह योग निश्चय

पूर्वक उत्साह तथा धैर्य चित्त से प्राप्त करना कर्तव्य है ।

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।

– १८/६२

परम शान्ति की प्राप्ति हेतु अपने हृदय स्थित बुद्धि के साक्षी परमात्मा की शरण के अलावा अन्य कोई बाहरी अवलम्बन है ही नहीं ।

तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत । – गीता : १८/६२

हे आत्मन् ! मन, वाणी शरीर द्वारा अपने हृदय में स्थित ब्रह्मात्मा में ही अपने चित्त को स्थिर कर तभी तू सुख-शान्ति को प्राप्त हो सकेगा । अनित्य कर्म एवं अल्प शक्तियुक्त देह, इन्द्रिय, मन, वाणी के सहयोग से नित्य आनन्द की प्राप्ति कभी भी नहीं हो सकती । हे आत्मन् ! धर्म वही है जो सबको धारण करे जिससे सबको अभ्युदय निःश्रेयस की सिद्धि हो ।

यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः ।

– वैशेषिक १/१/२

हे आत्मन् ! धर्म उन सिद्धान्तों, तत्त्वों तथा जीवन प्रणाली को कह सकते हैं, जिससे मानव जाति परमात्म प्रदत्त शक्तियों के विकास से अपना ऐहिक व पारलौकिक जीवन सुखद बना सके । धर्म के शाब्दिक अर्थ पर विचार करने से भी उसका महत्व समझ में आ जावेगा । धर्म शब्द धृ (धारण करना) धातु में 'मप' प्रत्यय जोड़ने से बनता है जिसका अर्थ धारण करने वाला होता है । इसलिये धर्म उन शाश्वत सिद्धान्तों के समुदाय को कह सकते हैं, जिनके द्वारा मानव समाज भ्रष्टाचार से बचकर सदाचारी, सहयोगी, प्रेमी, दयालु, कर्त्तव्यनिष्ठ बना रहे । जीव को माया के बन्धन से छुड़ाकर ब्रह्म के दर्शन करा सके, जिससे उसे परम सुख व शान्ति प्राप्त हो ।

''धरम न दूसर सत्य समाना''

''या वै धर्मः सत्यं वै तत्''

– ॥ वेद ॥

जो सत्य है वही धर्म है । जिसका नाश हो जावे, आदि अन्त हो वह धर्म नहीं है । धर्म अनादि अनन्त सत्ता को ही कह सकते हैं । ऐसी सत्ता है तो वह आपना आप (मैं, आत्मा) ही है इससे अतिरिक्त अन्य नहीं है । इसके अलावा सब नाशवान् है । नाशबान् की शरण लेने से अविनाशी आनन्द की उपलब्धि नहीं हो सकती है । हे आत्मन् ! बाह्य पूजा, पाठ, जप, माला, तीर्थ, मन्दिर, याग-यज्ञ, तप ध्यानादि साधनों में से कोई भी अपने कल्याण का वास्तविक साधन नहीं है । यदि यही वास्तविक धर्म होता तो उद्धव, अर्जुनादि भक्तों को इन सबके त्याग का उपदेश योगेश्वर कृष्ण नहीं करते एवं ज्ञान द्वारा अपने आत्मा को जानने का आदेश न देते ।

तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव ।

– भागवत : ११/१९/५

हे आत्मन् ! जब तक देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण के धर्मों में कर्त्तापन का अभिमान करते रहोगे तब तक किसी भी प्रकार पाप-पुण्य के बन्धनों से मुक्त नहीं हो सकोगे; क्योंकि बन्धन का हेतु परधर्म में अहंकार करना है ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

– गीता : ३/२७

अर्थात् समस्त कर्म प्रकृति के तीनों गुणों, पाँचों भूतों के द्वारा हो रहे हैं, किन्तु अज्ञानी व्यक्ति देह के जन्म को अपना जन्म, देह के नाम, जाति, आश्रम, सम्बन्ध, परिणाम एवं मृत्यु आदि समस्त धर्म को अपना मानता है । प्राण की भूख को मैं भूखा, इन्द्रियों के धर्म को मैं देखता, सुनता एवं मन के धर्म को मैं सुखी-दुःखी, चंचल-शान्त, पापी-पुण्यात्मा मान जन्म-मरण रूप

बन्धन को प्राप्त होता है ।

यस्यनाहं कृतभावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।।

– गीता : १८/१७

जिस ज्ञानी पुरुष के मन में यह भाव जाग्रत हो गया है कि मैं कर्त्ता–भोक्ता नहीं हूँ उस ज्ञानी को संसार कर्म बन्धन रूप नहीं होते हैं ।

नैव किंञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।।

– गीता : ५/८–९

तत्त्व को जानने वाला ज्ञानी देह इन्द्रियों के कर्मों के प्रति कर्ता–भोक्ता भाव न रख यह समझता रहता है कि सब देह संघात व अपने–अपने कर्मों में बरत रहे हैं किन्तु मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ।

हे आत्मन् ! कोई सद्गुरु कृपा प्राप्त भाग्यशाली मुमुक्षु ही ऐसा बोध कर पाता है कि इन्द्रियाँ ही अपने–अपने विषय में बर्त रही है । गुणों के द्वारा ही समस्त क्रियाएँ हो रही है, मैं आत्मा तो केवल द्रष्टा, साक्षी, असंग, निर्विकार, अकर्त्ता–अभोक्ता ही हूँ । ऐसा स्वधर्म में स्थित जीव ही शिवत्व को प्राप्त हो तत्काल मुक्ति का अनुभव कर लेता है । उसके शरीर, इन्द्रिय, मनादि समस्त क्रियाएँ प्रारब्धानुसार होने पर भी वह अपने मन में उनके अनुष्ठान का अभिमान नहीं करता है कि यह कार्य मैंने किया है और मैं इसका फल भोग करूँगा, बल्कि वह तो साक्षी भाव में स्थित रहता है । गीता ५/८,९, १८/१७, १४/१९, तथा ३/२८ देखने का कष्ट करें ।

''श्रेयान्स्वधर्मों'' ''परधर्मो भयावहः''

– ३/३५

हे आत्मन् ! आत्मनिष्ठा ही श्रेय अर्थात् मोक्ष का हेतु है एवं देह,

इन्द्रिय, अन्तकरण के धर्मों में या साम्प्रदायिक धर्मों में अभिमानी व्यक्ति उन समस्त धर्मों को प्रकृति का अंग जान वहाँ से अपने अहंकार को खींच आत्मा में ही स्थापित करे क्योंकि अन्य में सत्य एवं सुख बुद्धि करने वाला, अन्य धर्मावलम्बी, पराधीन व्यक्ति सपने में भी सुख को प्राप्त नहीं हो सकता है ।

''पराधीन सपनेहुँ सुख नाही'' – रामायण

अखंडानन्द हेतु तो अपने भीतर ही लौटना होगा । क्योंकि – ''निज सुख बिन मन होहि कि थीरा '' ? बिना आत्म अनुभव के महान आनन्द की अनुभूति अन्य धर्मावलम्बन से कदापि नहीं हो सकती है ।

आतम अनुभव सुख सुप्रकासा ।
तब भव मूल भेद भ्रम नासा ।।
जगत आत्म प्राणपति रामा ।
तासु विमुख किमि लहि विश्रामा ।।

जगत का अधिष्ठान एकमात्र आत्म राम ही है उससे विमुख हो जो जीव बाह्य प्रतिमा, मन्दिर, तीर्थ, यज्ञ, दानादि जड़ क्रिया में शान्ति की इच्छा रखते हैं उनको कभी भी परम विश्राम लाभ नहीं हो सकेगा । अस्तु ''सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरणं ब्रज'' बाहार से भीतर की ओर दृष्टि करो ।

आनन्द सिन्धु मध्य तव वासा ।
बिनु जाने नर मरत पियासा ।।

ईश्वर दर्शन से श्रेष्ठ आत्मज्ञान

तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।

– गीता : १०/१०

अर्थात् जो परमात्मा की निरन्तर भक्ति करते हैं, जिनका मन, चित्त, प्राण भगवत आराधना पूजा में ही समर्पित हो चुका है ऐसे अनन्य प्रेमी को मैं श्रेष्ठ बुद्धि योग देता हूँ जिससे वे कैवल्य मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं । उनके हृदय में स्थित हुआ प्रकाशमान ज्ञान दीपक से उनके अज्ञानजन्य भेद-भक्ति देहाभिमान एवं कत्तृत्वाभिमान रूप अंधकार को नष्ट कर ''सोऽहम्'' रूप में दृढ़ता करा देता हूँ । विचार करे ! भक्तों में भक्ति तो पूर्व से सिद्ध ही है फिर भी उसके द्वारा मोह, अज्ञान, भ्रान्ति, भय, आवागमन से छुटकारा उनका नहीं हो पाता है । उद्धव भी यही बात कृष्ण से कह रहे हैं कि मैं मोह के कारण महान अन्धकार में भटक रहा था, किन्तु अब आपके सत्संग से सदा के लिये अज्ञान दूर होगया है भागवत ११/२९/३७,३८ । हे प्रभो ! आपकी मोहिनी माया नाम-रूप ने मेरा ज्ञान दीपक छीन लिया था, किन्तु अब पुनः प्राप्त हो गया है और आत्मज्ञान की तीक्षण् तलवार से मोह जाल को भली प्रकार काट दिया हैं ।

देखिये ! भगवान के दर्शन के बाद भी अर्जुन को पाप को प्राप्त होकर नरक में दुःख भोगने की सम्भावना है –

अथ चेत्त्वमसिं धर्म्य संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।।

– गीता : २/३३

यदि तु इस धर्मयुक्त मेरे बताये अनुसार युद्ध को नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्ति को खोकर *तु पाप को प्राप्त होगा* । जिसके फल स्वरूप नरक में *तू दुःख भोग करेगा* । आगे और भी देखिये –

मच्चितः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ।।

– गीता : १८/५८

मेरे वचनों का पालन करने से तु मेरी कृपा से समस्त संकटो को अनायास ही पार कर जायगा और यदि अहंकार के कारण मेरे वचनों का मेरे आदेश का पालन न करेगा तो *तु नष्ट हो जायगा* अर्थात् जन्म–मरण रूप संसार में ही भ्रमित होता रहेगा ।

कृष्ण ने अपने देह त्याग के पूर्व अष्ट पटरानियों को द्वारीका से निकाल कर अर्जुन को किसी सुरक्षित स्थान पर ले जाने को कहा । किन्तु वे अष्ट पटरानियाँ जंगल में यवनों द्वारा लूट ली गई । उन रोती, चीखती, पुकारती रानियों को न अर्जुन बचा सका न कृष्ण । शेष में द्वारीका भी डूब गई एवं कृष्ण को जरा शवर ने तीर द्वारा हत्या कर दी ।

भागवत ११/३०/४३ में दारूक सारथी नेत्रों से आँसुओं की धारा बहाते हुए चरणों में गिरकर प्रार्थना करने लगा प्रभो ! चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर राह चलने वाले की जो दशा होती है आपके इस दास की भी वही अवस्था हो गई है । चारों ओर अन्धेरा छा गया है, मेरी दृष्टि नष्ट हो गई है, अब मुझे न दिशाओं का ज्ञान है और न मेरे हृदय में शान्ति ही है । विचार कीजिये नित्य साथ रहकर साक्षात दर्शन, स्पर्श, सेवा प्राप्त करने वालों की जब यह अवस्था हुई तब आप कैलण्डर, मूर्ति, मानसिक ध्यान का अवलम्बन लेकर क्या निर्भयता, मुक्ति, शान्ति प्राप्त कर सकोगे ? अर्जुन, उद्धव, वासुदेव, गोपी आदि को भी जब ज्ञान प्राप्त हुआ तभी शान्ति मिली ।

हे आत्मन् ! भागवत के दशम स्कन्ध में तो भक्ति की ही बाहुल्यता है । फिर भागवत को वहीं समाप्त कर देना उचित था । यदि भेद–भक्ति द्वारा ही जीवों का कल्याण होता है तब द्वादश स्कन्ध तक भागवत का विस्तार क्यों किया ? कारण यही पाया कि भेद–भक्ति द्वारा अखंड़ शान्ति एवं मुक्ति नहीं होती है । इसी लिये मुक्ति हेतु आत्मज्ञान का उपदेश

भागवत का एकादश तथा द्वादश स्कन्ध सर्वोपरि स्थान को ग्रहण करता है तथा १२/१३/१२ श्लोक में कहा है कि सर्व उपनिषदों का सार ब्रह्म और आत्मा का एकत्व रूप अद्वितीय सत् वस्तु ही है और वही श्रीमद् भागवत का प्रतिपाद्य विषय है । इसके निर्माण का प्रायोजन एकमात्र कैवल्य मोक्ष है ।

''अहंब्रह्म परमधाम ब्रह्माऽहं परम पदम्''

हे आत्मन् ! नारदजी तो भक्ति मार्ग के आचार्य माने जाते हैं किन्तु वे सनत्कुमार के पास गये और उनसे निवेदन किया कि ''मैंने सुना है कि भूमा ब्रह्म शोक मोह से रहित है'' तरति शोकम् आत्मवित'' परन्तु मैं तो शोक-मोह के सागर में डूबा जा रहा हूँ इसलिये आप कृपा करके मुझे अपने तत्वोपदेश द्वारा इस शोक-मोह के सागर से उद्धार करने की कृपा करें । विचार कीजिये भक्ति सूत्र के रचयिता को भी ब्रह्मज्ञान के उपदेश की जरूरत पड़ी । तब अन्य जीव केवल भेद-भक्ति द्वारा कैसे मुक्त हो जावेंगे ? हे आत्मन् ! नारद को भगवान विष्णु का सानिध्य प्राप्त होते रहने पर भी उनके मन का अज्ञान जनित मोह अंधकार बना ही रहा एवं भक्त नारद को भगवान द्वारा शापित तक होना पड़ा ।

हे आत्मन् ! भगवान विष्णु के द्वारपाल जय-विजय को सालोक्य-सामीप्य मुक्ति पाकर भी सनकादिक ऋषियों के अभिशाप द्वारा उन्हें तीन जन्म राक्षस योनि को ग्रहण करने हेतु बाध्य होना पड़ा, किन्तु वे भगवान विष्णु द्वारा उन ऋषियों के अभिशाप से बचाये नहीं जा सके । हे आत्मन् ! गोपियों को दशम स्कन्ध के बयासी अध्याय में जब योगेश्वर श्रीकृष्ण के द्वारा आत्मज्ञान का उपदेश मिला तभी वे अखंड शान्ति को प्राप्त हो सकी थी । उसके पूर्व नित्य दर्शन, स्पर्श, सेवा करने पर भी उनका मोह दूर नहीं हुआ था ।

हे आत्मन् ! अर्जुन तथा उद्धव ने सखा भाव, गोपियों ने पतिभाव

तथा दशरथ, कौशल्या, बसुदेव, देवकी ने वात्सल्य भाव से भगवान की सेवा, पूजा, भक्ति कर उन्हें प्रसन्न किया; परन्तु इन साधनों द्वारा किसी का भी अज्ञानजनित बन्धन नष्ट नहीं हो सका । हे आत्मन् ! गीता २/२ में भगवान अपने साथ रहने वाले सखा अर्जुन को कह रहे हैं कि इस युद्ध भूमि में यह अज्ञान तुझे कहाँ से आ गया ? जैसे सूर्य के सम्मुख अंधकार नहीं ठहर पाता उसी प्रकार यदि कृष्ण का स्थूल रूप ज्ञानस्वरूप होता तो उनके सम्मुख उपस्थित अर्जुन को भला अज्ञान हो सकता था ? इससे सिद्ध होता है कि भगवत् दर्शन मात्र से किसी का अज्ञान अंधकार दूर नहीं हो सकता है । ऐसे भक्ति सम्पन्न अर्जुन, उद्धव, गोपी, दशरथ, वसुदेव, दारुक, हनुमान आदि की अशान्त, दुःखी, चिन्तित, भयभीत अवस्था है । गोपियों का विरहजन्य कष्ट तो कहना ही क्या ? दशम स्कन्ध उनके शोक चिन्ता से भरा हुआ है ।

हे आत्मन् ! मेरा भक्ति से द्वेषभाव नहीं है । वह तो चित्तशुद्धि एवं आत्मजिज्ञासा का अनिवार्य साधन है । भगवान के साथ मानसिक लीला का रसास्वादन करते हुए ज्ञान के लिये उत्साहित रहें । भक्ति के लिये आत्मज्ञान की बलि न चढ़ादें, बल्कि आत्मज्ञान के लिये द्वैत भक्ति की आहूति दे डालें तभी आप अपने जीवन के लक्ष्य मुक्ति प्राप्त कर सकेंगे । ज्ञान रूपी परमात्मा के सिर को काट शेष शरीर की उपासना करना भक्ति नहीं कहला सकेगी । कर्म हाथ है, भक्ति हृदय है तो ज्ञान ब्रह्म का मस्तिष्क है । शिव स्वरूप ज्ञान को छोड़ शव देह की पूजा करने से परमात्मा की पूजा नहीं, बल्कि जड़ की पूजा कहलावेगी । जिस ज्ञान के द्वारा जीव भाव से शिव भाव, कर्ता-भोक्ता भाव से अकर्ता-अभोक्ता भाव उदय हो जाता है । ऐसे उज्ज्वल ज्ञान को छोड़ अपने हृदय के अज्ञान अन्धकार को क्या केवल भेदभक्ति द्वारा दूर कर सकोगे ? मन शुद्ध ही नहीं तब भक्ति कैसे होगी ? मन का निर्मल होना द्वैत भाव में कदापि सम्भव नहीं है । निर्मल मन बिना भक्ति भी नहीं हो

सकती । द्वैत भाव तो स्वयं मलिन मन का ही कार्य है । भला अज्ञान के कार्य रूप भेद–भक्ति अपने मूल कारण अज्ञान मल को कैसे निवृत्त कर सकेगा ?

हे आत्मन् ! बन्धन का कारण अहंता–ममता ही है । भक्ति द्वारा मन संसार से विरक्त होकर परमात्मा के काल्पनिक स्वरूप में अनुरक्त हो जाता है एवं अहंता हो जाती है कि मैं भक्त हूँ तथा भगवान मेरे हैं यह द्वैत भावना तो बनी ही रहती है । इस अहंता के आधार से ही भक्ति टिकी रहती है । भला भक्ति अपने ही आधार स्वरूप अहंता की नाश रूप कैसे सिद्ध हो सकती है । अहंता का नाश तो इस भक्ति से पृथक् आत्मज्ञान द्वारा ही हो सकता है, अन्यथा यह भक्ति संसार बन्धन, पुण्य–पाप से मुक्त नहीं करा सकती । मन में ज्ञान से द्वेष करके भगवान का प्रेम कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते ।

निर्मल मन जन सो मोहि पावा ।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा ।
भक्ति तात अनुपम सुख मूला ।
मिलहि जो संत होय अनुकूला ।।

हे आत्मन् ! पद्मपुराण में भक्ति को माता एवं ज्ञान वैराग्य को उनके दो पुत्र कहे गये हैं । इससे यही प्रमाणित होता है कि अकेली भक्ति माता अपने पुत्र वैराग्य तथा ज्ञान के बिना समाज में बाँझ के जैसे कलंकित तथा निर्बल ही है । यदि भक्ति माता स्वतंत्र ही संसार बन्धन काटने में समर्थ होती तो अपनी कौमार्यता, ब्रह्मचर्यता, शीलता को नष्ट कर व्यर्थ गर्भवती बनकर असहनीय कष्ट पाकर वैराग्य, ज्ञान इन दो सन्तान को पैदा करने की क्या जरूरत थी ? इससे तो सिद्ध होता है कि बिना वैराग्य, ज्ञान के मुक्ति रूप महान कार्य को भक्ति स्वयं करने में सर्वथा असमर्थ थी । इसी कारण भक्ति माता ने अपने मुक्ति हितार्थ दो पुत्रों को जन्म देकर कृतार्थ हुई तथा इन वीर पुत्रों ने इस

कार्य को सम्पूर्ण किया जो इनकी माँ के द्वारा प्रारम्भ तो किया गया, किन्तु सम्पूर्ण नहीं हो सका था । भक्ति द्वारा तो संसार से ममता छूट वैराग्य होता है और वैराग्य द्वारा तत्त्व जिज्ञासा उत्पन्न होकर आत्मज्ञान द्वारा मुक्ति की सिद्धि होती है केवल भेद भक्ति से नहीं ।

हे आत्मन् ! जो अज्ञानी लोग भगवान के सगुण रूप को देख ज्ञानी की ब्रह्म समाधि के खंडन का उल्लेख करते हैं वहाँ यह विवेक करना चाहिये कि बह्म समाधि अखंड होती है कभी टूटती नहीं है इसे ही गीता में ब्राह्मी स्थिति कहा है । सन्तों ने इसे सहज योग, सहज समाधि कहा है । मन, आँख, नाक, कान, मुख, लिंग, हाथ, पैर आदि इन्द्रिय द्वारों को रोकने का नाम समाधि नहीं है । गीता ५/८,९ में ब्रह्म समाधि वाले ज्ञानी के लक्षण में बतलाया है कि ठीक अज्ञानी की तरह ज्ञानी के शरीर, प्राण, इन्द्रिय तथा अन्त:करणों द्वारा क्रियाएँ होती रहती है । अन्तर केवल इस बात का है कि ज्ञानी अपने को कर्ता न मान साक्षी द्रष्टा ही जानता है इसलिये वह सदैव मुक्त रहता है गीता १८/१७ एवं अज्ञानी उन्हीं प्रकृतिजन्य क्रियाओं में कर्तापन का अभिमान करने के कारण बन्धन को प्राप्त होता है । गीता ३/२७

हे आत्मन दर्शन की कामना वालों को दर्शन, धन की कामना वालों को धन मिल जावे तो उस समय वासना शान्त-सी दिखती है परन्तु दूसरे ही क्षण दूसरी वासनाएँ उठने को तैयार खड़ी रहती है । भगवान का दर्शन बहुत अच्छा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि भगवान के दर्शन में जो आनन्द होता है उनके चले जाने के बाद उतना ही दु:ख बरस पड़ता है । वह भी असहनीय हो जाता है । तब यह कैसा व्यापार १०० रुपये संग्रह किये एवं नष्ट कर दिये । कृष्ण के मथुरा जाते समय गोपियों की क्या दशा हुई इसमें भागवत का दशम स्कन्ध प्रमाण है ही ।

ध्रुव के साथ ऐसा ही हुआ । भगवान के दर्शन हुए, भगवान ने

ध्रुव को अटल पदवी दी किन्तु उसे पूर्ण सन्तोष नहीं मिला । ध्रुव ने पूछा भगवान ! आप कौन हैं व मैं कौन हूँ, यह देने वाला और पाने वाला कौन है ? भगवान बोले ध्रुव ! यह न पूछो । यह पूछना चाहेगा तो न तू रहेगा न मैं । इसके समाधान हेतु मैं तेरे को संत वामदेव के पास भेज देता हूँ जो तेरे संशय एवं जिज्ञासा को पूर्ण कर सकेंगे ।

''गुरु शास्त्रे विनात्यन्तं गम्भीरं ब्रह्मवेत्तिकः ।''

– पंचदशी – ११/९

गुरु के उपदेश और शास्त्र विचार के अतिरिक्त कभी भी गम्भीर ब्रह्मतत्त्व लाभ नहीं होता ।

''स्यात्कृतार्थ धीर्यावत् तावद् गुरु मुपासश्वेत् ।''

– पंचदशी – ११/९

जब तक आत्म ज्ञान लाभ करके साधक कृत्य कृत्य न हो जाय तब तक गुरु की उपासना करना उसका कर्तव्य है ।

◆◆◆

ईश्वर दर्शन से श्रेष्ठ सन्त

विष्णु भगवान ने ध्रुव से कहा कि अगर सत्य को जानना ही चाहता है तो जाओ मेरे आर्शीवाद से तुमको वामदेव, नारद आदि संत की प्राप्ति होगी जो तुम्हारे मन से मैं एवं मेरे का भ्रम भेद मिटाकर एक अखंड अद्वितीय सत ब्रह्म में सोऽहम् धारणा करा देंगे । और तभी तुम जन्म-मरण के चक्र से छूट शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर सकोगे । यह महान कार्य मुझसे नहीं हो सकेगा । जैसा कि श्रीकृष्ण भगवान स्वयं अर्जुन को कहते हैं कि –

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्व दर्शिनः ।। – गीता ४/३४

हे अर्जुन ! तू किसी तत्त्ववित सद्गुरु की शरण में जा । उन्हें भली प्रकार प्रणाम, सेवा कर अपने उद्धार हेतु प्रश्न करना तब वे तत्त्व के जानने वाले तुझे जो उपदेश करेंगे, उसको ग्रहण कर ही तू शोक-मोह के सागर से सदा के लिये पार हो सकेगा । फिर तुझे न प्रलय का भय होगा न सृष्टि के दुःख ही स्पर्श कर सकेगा ।

नामदेव ज्ञानदेवजी के सत्संग सभा में बैठे थे । ज्ञानदेवजी ने विनोद-विनोद में भक्त गोरा कुम्मार से कहा कि तुम मिट्टी के पारखी हो तो आज देखो इस संत सभा में कि किसकी कैसी मिट्टी है ? ये कच्चे घड़े हैं या पक्के ? गोरा कुम्मार ने अपनी छड़ी उठाकर सभी संतों के सिर पर बड़े प्रेम से मृदु टकोरा लगाया । सभी संत किसी प्रकार बुरा भी नहीं मान रहे थे, किन्तु जब गोरा नामदेव के पास पहुँचा तो वे क्रुध हो उठ खड़े हुए । गोरा ने कहा बस आपकी सभा में यही एक कच्चा घड़ा है । नामदेव विठोवा के मन्दिर में पहुँचे और शिकायत की कि मैं आपके दर्शन करता हूँ, आप मेरे साथ खेलते हैं, फिर भी मुझे संत लोग कच्चा घड़ा कहते हैं । जबकि मेरे जैसा सौभाग्य किसी को प्राप्त नहीं होता है । नामदेव से सुनकर विठोवा ने कहा कि संतों का मत ठीक है, संतों का ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है । नामदेव ने कहा क्या मनुष्य ईश्वर दर्शन से भी कुछ अधिक प्राप्त कर सकता है ? विठोवा ने कहा यह तो संत ही जानते हैं कि क्या सर्वश्रेष्ठ है ? नामदेव ने कहा-क्या आपसे भी कोई अधिक सत्य है ? तो बताने की कृपा करें । तो विठोवा ने कहा मैं इस मामले में तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता, क्योंकि हमारी आपस में घनिष्ठ मित्रता है । यदि ऐसी अवस्था में कुछ हितकर सत्य वचन कहूँगा तो भी तुमको उस पर विश्वास नहीं होगा । नामदेव ने कहा तब फिर आपके दर्शन का लाभ क्या ? विठोवा ने कहा बस सद्गुरु की प्राप्ति हो जाना ही मेरी कृपा का फल है । सद्गुरु से तुम उस परम सत्य को जानलो जो नाम, रूप, लीला, गुण, अवतार से परे है ।

उसको जाने बिना अखंड शान्ति किसी भी साधन से नहीं हो सकती ।

यही समस्या राम–कृष्ण की थी । तोतापुरीजी ने कहा तुम आत्म साक्षात्कार के अधिकारी बन चुके हो अस्तु आत्मज्ञान को गुरुओं से जानों । रामकृष्ण ने सोचा मुझे माँ काली के प्रत्यक्ष दर्शन रोज होते हैं अब क्या बाकी रहा मुझे करने को ? जब वे काली के मन्दिर में पहुँचे व कहा माँ आपके दर्शन से श्रेष्ठ क्या हो सकता है ? अब मुझे क्या करना शेष बचा है ? एक साधु आया है और कहता है तुम मुझसे आत्मज्ञान प्राप्त करो । तब माँ काली ने कहा ''ठीक कहता है साधु'' । तब रामकृष्ण ने पूछा माँ ! ''फिर आपके दर्शन का क्या फल'' है । माँ ने कहा – मेरे दर्शन का फल यही है कि ज्ञानी गुरु घर बैठे मिल रहा है तुम्हारे पास स्वयं आया है । ईश्वर दर्शन आत्म साक्षात्कार के नीचे की सीढ़ी है ।

''बिनु हरि कृपा मिलहि नहीं संता''

मम दर्शन फल परम अनुपा ।
जीव पाव निज सहज स्वरूपा ।।

श्रीराम शबरी को कहते हैं कि – हे शबरी ! मेरे दर्शन का मेरी भक्ति का यही सर्वोत्तम लाभ है कि जो जीव अनादि काल से अपने वास्तविक स्वरूप को अर्थात् ''मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ'' ऐसा जान लेता है । जब तक जीव अपने को देह एवं कर्म का कर्ता मानता रहता है तब तक वह बारम्बार जन्म–मृत्युको प्राप्त होता रहता है ।

जब जीव किसी सद्‌गुरु की शरण ग्रहण करता है तभी उसे यह प्रबोध होता है कि मेरा सच्चा सहज स्वरूप ब्रह्म है । जैसे समुद्र की लहरें समुद्र से भिन्न नहीं उसी प्रकार ब्रह्म समुद्र की लहरे रूप जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है ।

उपरोक्त द्रष्टान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि दर्शन मात्र से कल्याण हो जाता तो सबरी को नवधा भक्ति का उपदेश करने की जरुरत ही नहीं रहती

।

दुसरा घटना अर्जुन की है । यदि कृष्ण का मुरली मनोहर रूप ही सत्य होता तो अर्जुन कृष्ण से उनके अविनाशी रूप दर्शन की इच्छा न करता और कृष्ण अर्जुन को सद्गुरु की शरण में जाने के लिये नहीं कहते ।

◆◆◆

भेदोपासना

– भगवत गीता से

हे आत्मन् ! अज्ञान, मोह, तम, माया, भ्रान्ति, भेद, अविद्या, अनिर्वचनीय, अव्यक्त, बंध, मूढ़ता एक अर्थ के पर्यायवाची शब्द हैं । जिसका नाश केवल आत्मज्ञान द्वारा ही हो सकता है, अन्य भेदोपासना द्वारा नहीं हो सकता है । यदि कर्म द्वारा ही मुक्ति होती तो फिर गीता तीन अध्याय वाली ही होती । यदि मुक्ति भक्ति द्वारा ही होती तो फिर गीता में बारह अध्याय ही होते । फिर उसके आगे १८ अध्याय तक भगवान को उपदेश करने की आवश्यकता ही नहीं होती, एक अध्याय से बारह अध्याय में कर्म, भक्तियोग के पश्चात् कर्म, भक्ति तथा योग का पूरक तेरह से अठ्ठारह अध्याय तक अद्वैत ज्ञान सुनाना भी परमावश्यक साधन है; क्योंकि बिना ज्ञान के मुक्ति अन्य किसी साधन से नहीं हो सकती है ।

‘‘ज्ञानादेव तु कैवल्यम्’’ ‘‘ऋते ज्ञानान्न मुक्ति:’’

हे आत्मन् ! श्रीमद्भगवत् गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय शिष्य अर्जुन को तत्त्वमसि महावाक्य का ही इन अठ्ठारह अध्यायों में उपदेश किया है । प्रथम से षष्ठ अध्याय में ‘‘त्वं’’ पद का एवं सप्तम से द्वादश अध्याय तक ‘‘तत्’’ पद का तथा त्रयोदश अध्याय से अष्टादश अध्याय में

‘‘असि’’पद का प्रतिपादन किया है । इस प्रकार सम्पूर्ण गीता सामवेद के छान्दोग्य उपनिषद् के तत्त्वमसि महावाक्य का ही एकमात्र प्रबोध कराती है । निष्काम कर्म तथा उपासना उस ज्ञान के अधिकारी बनाने हेतु उपयोगी होते हैं; परन्तु गीता का मुख्य विषय अभेद ज्ञान ही है । अठ्ठारह अध्याय के श्लोक ६५ में भगवान कहते हैं कि मैंने तुझे गुह्य से गुह्यतम ज्ञान तेरे प्रति कहा है । कर्म, उपासना तथा योगादि ज्ञान के बहिरंग सहायक साधन रूप हैं तथा १८/७० में गीता अध्ययन का माहात्म्य बताते हुए कहते हैं कि जो मेरे द्वारा उद्घोषित इस गीता ज्ञान संवाद का श्रद्धा, भक्ति सहित का स्वाध्याय, मनन, चिन्तन, ध्यान, धारणा, निष्ठा करेगा उसने मेरी ज्ञानयज्ञ द्वारा पूजा की है ऐसा मैं स्वीकार करूँगा । फिर १८/ ७२ में भगवान अर्जुन से पूछते हैं कि तुने मेरे द्वारा कहे गये गीता ज्ञान को एकाग्रचित्त से सुना है ? यदि हाँ तो बता उसके द्वारा परिणाम स्वरूप तेरा अज्ञान मोह नष्ट हुआ ? तब अर्जुन स्वीकार करता है कि हे गुरुदेव ! मेरा देहभाव रूपी अहंता तथा सम्बन्धियों के प्रति ममता भाव दूर हो गया है । अब मैं आपके द्वारा उपदिष्ट इस ज्ञानामृत का पान कर मोह ममता के द्वन्द्व जाल से मुक्त हुआ हूँ । अध्याय ४/३६ में ज्ञान की महिमा बताते हुए कहते हैं कि ‘‘यदि तुने सब पापियों से भी महान पाप किया है तो भी ज्ञान रूप नौका द्वारा ही सम्पूर्ण पाप रूप समुद्र को भली प्रकार से तर जावेगा । ४/३७ में ज्ञानाग्नि के द्वारा ही एक मात्र जीव के अनादि संचित तथा क्रियमाण कर्म भस्म हो सकते है । किन्तु इसके अलावा जीव के अनादि संचित् कर्मों को, उपासना या योग द्वारा नष्ट होने की घोषणा नहीं की है । तथा ४/३८ में ज्ञान साधन से बढ़कर इस पृथ्वी पर जीव के कल्याण का अन्य कोई साधन नहीं है । ४/३३ में ज्ञान यज्ञ को समस्त द्रव्यमय यज्ञ से श्रेष्ठ तथा सब कर्मों का आश्रय स्थल कहा है, अर्थात् यावन्मात्र कर्मों का फल साक्षात् अथवा परम्परा से ज्ञान का अधिकारी बनाने के लिये ही है । यह कर्म,

उपासना जीव को ज्ञान का अधिकारी बनाकर स्वयं कृतार्थ हो शान्त हो जाते हैं ।

४/३९ में श्रद्धावान को ही ज्ञान की प्राप्ति एवं ज्ञानी को ही परम शान्ति तत्काल प्राप्त होना बताया है । तथा ४/४० में ज्ञान योग में अश्रद्धा करने वाले एवं जीव-ब्रह्म के एकत्व बोध में संशय करने वाले को परमार्थ पथ से गिरने का भय दिखाया है । ९/३ में श्रद्धावान को ही ज्ञान का अधिकारी तथा अश्रद्धालु को जन्म-मृत्यु रूप संसार चक्र में भ्रमण करने का भय बतलाया है । गीता १४/२ में इस ज्ञान यज्ञ का फल बताते है कि इस ज्ञान का आश्रय करके मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए मुनिजन सृष्टि के आदि में भी उत्पन्न नहीं होते और प्रलय काल में भी कष्ट नहीं पाते है । ४/४२ में ज्ञान का प्रभाव बता रहे है कि अज्ञान से उत्पन्न होने वाले इस द्वैत रूप संसार को अपने ज्ञानरूपी तलवार से छेदन करके द्रष्टा आत्मस्वरूप में दृढ़ता से स्थित हो जा ।

उपरोक्त प्रमाणों सहित विचार कीजिये कि क्या इस प्रकार का निरूपण कर्म, भक्ति अथवा योग साधन हेतु भी बारम्बार किया गया है ? ज्ञान योग से भ्रष्ट मुमुक्षु के योग क्षेम वहन करने की घोषणा ९/२२ में की है । ज्ञानी ही केवल परमात्मा को आत्मा रूप जानने के कारण अनन्य भक्ति कर सकता है । अन्य के पक्ष में अनन्य भक्ति न होकर अन्य भक्ति या व्यभिचारी भक्ति कही जावेगी । ६/४० में ज्ञान योग में भ्रष्ट अदृढ़ ज्ञानी की कभी अधोगति नहीं हो पाती हैं एवं १८/१७ में ज्ञानी को किंचित् भी पाप-पुण्य स्पर्श नहीं कर पाते है कि घोषणा के साथ ज्ञानी मेरी आत्मा है ७/१८ में कहकर ज्ञान महिमा को ही प्रकट किया है ।

हे जिज्ञासु भक्तजनों ! अब आप उपरोक्त गीता प्रमाणों पर विचार करे कि यदि अज्ञानजन्य बन्ध, मोह, भ्रान्ति तथा द्वैत दृष्टि, ईश्वर दर्शन रूप भेदोपासना द्वारा ही नष्ट हो जाता तो अर्जुन को गीता का उपदेश करने की

आवायकता पड़ती ? किन्तु १८/७२ में अर्जुन कहता है कि आपके द्वारा आत्मज्ञान कराने के पूर्व मेरा मोह–शोक रूप अज्ञान दूर नहीं हुआ था जैसा कि हे गुरुदेव अब आपकी कृपा से हुआ है । यदि साकार दर्शन से जीव को अखंड शान्ति मिलती होती, मोह भ्रम दूर हो जाता तो वह अर्जुन को ज्ञानोपदेश करने से पूर्व ही प्राप्त था, किन्तु उस दर्शन से उसका मोह दूर नहीं हुआ था इसलिये उपदेश करना पड़ा । नारद द्वारा वसुदेवजी से उनके दु:खी होने का कारण पूछने पर उन्होंने नारद को भागवत ११/२/८ में कहा कि हमने भगवान की भक्ति तो की थी एवं उनसे मूढ़तावश मुक्ति न माँग उन्हीं को पुत्र रूप में प्राप्त करने की अभिलाषा की थी । किन्तु उससे मेरा दु:ख भय दूर नहीं हुआ था । अब आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिये जिससे मैं इस जन्म–मृत्यु रूप भयावह संसार से अनायास ही पार हो जाऊँ । ११/२/९ भागवत ।

भागवत ११/७/१६ में उद्धव भगवान श्रीकृष्ण के दर्शन पाकर भी उन्हीं से कहता हे प्रभो ! मैं विषयासक्ति के कारण विषयों में घुलमिल गया हूँ । मेरे लिये भी विषयों तथा कामनाओं का त्याग अत्यन्त कठिन सा है फिर जो आत्मज्ञान से विमुख हैं उनके लिये तो यह त्याग सर्वथा असम्भव ही होगा । प्रभो मेरी मति इतनी मूढ़ता को प्राप्त हो गई है कि मैं नहीं जानता हूँ कि मैं क्या हूँ तथा मेरा क्या है ? मैं आपकी माया के प्रपंच में अहंता–ममता कर डूब रहा हूँ । वसुदेवजी को वृद्धावस्था में कृष्ण के प्रति मोहासक्ति के त्याग का नारदजी द्वारा ११/५/५१ भागवत में उपदेश मिलता है, जिसे उन्होंने स्वीकार कर तत्क्षण छोड़ दिया । वसुदेवजी कृष्ण को अपना बेटा मान भेदोपासना कर रहे थे । इधर दशरथ राजा की भी यही दशा हो रही है ।

दशरथ भेदभक्ति उर लावा, ताते उमा मोक्ष नहीं पावा ।

दशरथ द्वारा रामजी के प्रति भेदोपासना के परिणाम स्वरूप उन्हें मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो पाई ।

भागवत में नारदजी वसुदेव–देवकी को कह रहे है कि तुम दोनों यदि श्रद्धा के साथ मेरे कहे गये ज्ञानापदेश का आचरण करोगे तो अन्त में सब आसक्तियों से छूटकर भगवान का परमपद प्राप्त कर लोगे ११/५/४५ । नारदजी ने भागवत ११/५/१७ में वसुदेवजी को समझाया कि अज्ञान को ही ज्ञान मानने वाले जो आत्मा व परमात्मा में भेद देखने वाले हैं इन आत्महत्यारों को कभी भी शान्ति नहीं मिल सकेगी । इनके कर्मों परम्परा कभी शान्त नहीं होती । कर्म को श्रेष्ठ मानने वाले अविवेकी जन भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये जन्म–मरण रूप फल को देने वाले एवं बहुत सी क्रियाओं के विस्तार को कहते हैं । अज्ञानी जिस लुभावनी वाणी को कहते हैं तथा उस वाणी को सुनकर जिनकी ज्ञान में अरूचि तथा कर्म में लोभ वृत्ति हो गई है उन भोग एवं ऐश्वर्यों में आसक्ति वालों की परमात्मा के स्वरूप में सोऽहम् रूप में निश्चयात्मक बुद्धि नहीं हो पाती है कि वह आनन्दधन परमात्मा मैं स्वयं ही हूँ गीता २/४२, ४३, ४४ ।

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः ।
नश्वरं ग्रय्हमाणं च विद्धि माया मनोमयम् ।।

– भागवत : ११/७/७

इस जगत में जो कुछ मन से सोचा जाता है, वाणी से कहा जाता है, नेत्रों से देखा जाता है और श्रवणादि इन्द्रियों से जो अनुभव किया जाता है वह सब नाशवान, स्वप्न की तरह मनोविलास, मायामात्र, मिथ्या है ।

अध्यात्म रामायण बालकाण्ड प्रथम सर्ग में हनुमानजी रामजी से अपने जन्म–मरण से छूटने की प्रार्थना करते हैं तब रामजी सीताजी को आदेश देते हुए कहते हैं कि हे सीता ! तेरे व मेरे प्रिय दास हनुमान को तुम उसके उद्धार हेतु ब्रह्म राम का भली प्रकार उपदेश करो ताकि वह उसमें निष्ठाकर जन्म–मरण को देने वाले द्वैत भाव दास भाव से छूट अद्वैत भाव, सोऽहम् भाव को प्राप्त कर सके ।

रामं विद्धि परब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
सर्वोपाधि विर्निमुक्त सत्तामात्र अगोचरम ।।

– १/३२

सीताजी कहती हैं – हे हनुमान ! वह परब्रह्म राम सच्चिदानन्द स्वरूप, समस्त द्वन्द्वों से अतीत, समस्त उपाधियों से रहित ज्ञान मात्र एवं इन्द्रियों से सर्वथा अग्राह्य (अप्रमेय) है । उसकी तुम ''सोऽहम्'' रूप से उपासना करो । हे आत्मन् ! इसी प्रकार अर्जुन भी अपनी मनोदशा साक्षात् श्रीकृष्ण भगवान के सम्मुख कह रहा है कि मेरा चित्त भ्रमित होकर मूढ़ता को प्राप्त हो गया है । अब मैं अपने कल्याण के मार्ग में विवेक हीन हो चुका हूँ । कृपया अब आप मेरे लिये जो उचित कल्याण प्रद मार्ग है उसे बतलाने की कृपा करें, मैं आपका शिष्य हूँ आप मेरे गुरुदेव हैं । गीता २/७ तथा ११/४५ में कहता है कि मैं हर्ष-शोक को प्राप्त हो रहा हूँ अर्थात् मेरा मन आपके विराट दर्शन से भयभीत हो रहा है । गीता १/३९ में अर्जुन को युद्ध करने के द्वारा पाप स्पर्श होने का भी भय बना हुआ है तथा १/२८, २९ में कहता है हे कृष्ण ! अपने स्वजन समुदाय को देखकर मेरे अंग शिथिल पड़ते जाते हैं और मूख सूखा जा रहा है था मेरे शरीर में कम्प एवं रोमांच उत्पन्न हो रहा है ।

भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं –

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्ग जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।

हे अर्जुन ! तू युद्ध करता है तो तेरे दोनों हाथों में लड्डू हैं अर्थात् यदि तू युद्ध करते-करते वीरगति (मूत्यु) को प्राप्त हो गया तो स्वर्ग की प्राप्ति होगी और युद्ध में जीत गया तो पृथ्वी का भोग करेगा । अब यहाँ विचार करे कि ईश्वर दर्शन का कितना सुन्दर फल अर्जुन को प्राप्त हो रहा है ।

ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।

– गीता : २/३३

भगवान श्रीकृष्णजी अपने कृपा पात्र प्राण प्रिय सखा अर्जुन को अब नरक भेजने के लिये प्रस्तुत हो रहे है । यदि अर्जुन श्रीकृष्ण के आदेशानुसार युद्ध नहीं करता है तो वह अपकीर्ति के कारण पाप को प्राप्त होगा जिसे भोगने के लिये स्वर्ग से गिरकर नरक में जाना पड़ेगा ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्षन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।।

– गीता : ४/३४

अन्त में श्रीकृष्ण जी अर्जुन को कह रहे हैं कि – यदि तुझे मेरी बात पर विश्वास नहीं तो अब मैं तुझे अपने मित्रता के नाते कहरहा हूँ कि तू किसी सद्गुरु की शरण में जा एवं उनको भली प्रकार से सेवा, साष्टांग प्रणाम कर सेवा करना । जब वे प्रसन्न, शान्त व एकान्त में हों तब उनसे निष्कपट भाव द्वारा अपने कल्याण का मार्ग पूछना । तब वे जो उपदेश करेंगे उसे श्रद्धा पूर्वक एकाग्रता से श्रवण कर मनन करना । तब तेरा अज्ञान जनित अहंता–ममता नष्ट होकर तू साक्षी भाव को प्राप्त कर सकेगा । तभी तेरी मुक्ति हो सकेगी ।

◆◆◆

भक्ति से भ्रष्टाचार

हे आत्मन् ! परमार्थ सम्बन्ध में भ्रान्तियों की कमी नहीं है । बाल बुद्धि के लोग अपने स्वरूप का विचार करने में तो आलस्य करते हैं; क्योंकि आत्म विचार में सूक्ष्म बुद्धि का उपयोग होता है । देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण के धर्मों का अपने द्रष्टा, साक्षी, आत्मस्वरूप पर अध्यारोप कर लिया है, उस भ्रम का

अपवाद करने हेतु आत्मा को नित्य, शुद्ध, निष्क्रिय, मुक्त रूप अनुभव करने की आवश्यकता है । आत्मज्ञान के लिये शुद्ध बुद्धि की आवश्यकता है । विवेकि बुद्धि सत्संग द्वारा जाग्रत होती है । वह सत्संग करने में प्राय: लोग झंझट, सरफोड़ी कहकर वहाँ से उठकर भाग जाते हैं और मनकल्पित कीर्तन, भजन, नाम, माला, पूजा, यज्ञ, तीर्थ आदि सस्ते साधन ढूंढते हैं जिसमें उन्हें किंचित् भी अपनी सोयी हुई बुद्धि को जगाने का कष्ट न उठाना पड़े । ऐसे अज्ञानी, आलसी, मूर्ख लोग सोचते हैं कि पूजा, पाठ, जप, उपवास, तीर्थादि में दस, बीस पैसा दे भगवान को अपनी मरजी के गुलाम बनाया जा सकता है । भगवान को थोड़ा सेवा भक्ति का प्रलोभन देकर उन्हें उनकी कर्तव्यता से दूर कर अपने अनुकूल उनसे कार्य, लाभ, फैसला कराया जा सकता है । उन्हें मजबूर कर इच्छानुसार कठपूतलीवत् नचाया जा सकता है । किन्तु लोभी जीव अपने विचारों को सच्चाई से अवगत कराना नहीं चाहता है, उर्ध्वगामी बनाना नहीं चाहता बल्कि भगवान को ही ऊपर से नीचे, ब्रह्म से जीव रूप में मानवीय स्तर पर उतार लेने में ज्यादा उत्सुक रहता है ।

ऐसे मन्दबुद्धि मानव अपने को सत्संग द्वारा जीव भाव से उठाकर ब्रह्म भाव में आरूढ़ कराना पसन्द नहीं करते हैं । भक्त कहलाने वाला अपने अमानवीय क्रिया कलापों को छोड़ना भी नहीं चाहता है । वह तो थोड़ा सा जल, फूल, चन्दन, सिन्दूर, गुड़, धूप, पांच, दस पैसा रख अपना कर्तव्य पूरा कर देता है । फिर चौबीस घंटे भगवानजी इनके सम्मुख खरीदे हुए गुलाम की तरह पूछते रहेंगे कि बताईये भक्तराज आपने सस्ते, बासी, पुष्प, फल द्वारा इतनी हमारी सेवा की इसके लिये हम आपकी क्या वफादारी, नमक हलाली करें ? यदि हम आपके द्वारा जल, फूल, फल, गुड़ ग्रहण करके भी बदले में आपका कोई कार्य न करेंगे तो तुम फिर हमें नमकहराम, बेईमान, गद्दार तक कह बदनाम कर डालोंगे । तो बताईये

आपकी सेवा के बदले में हम आपके किस शत्रु को मार आवें ? किसे ऊपर से गिरा दें ? किसका एक्सीडेन्ट कराकर आँख, टाँग, हाथ तुड़वा दें ? किसका धन्धा, नौकरी चौपट कर आवें एवं आपका खजाना भर दें । क्योंकि आपने महान् कष्ट करके हमें भस्म, चन्दन, फूल, जल आदि बहुमुल्य पदार्थ दिये हैं, जो हम अनाथ भाग्यहीन के लिये दूर्लभ थे । आपतो जानते हैं जो भक्त हमारी थोड़ी सी भी सेवा कर देता है फिर उसके पीछे हम भागते रहते हैं ।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

– गीता : ९/२६

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

– गीता : ४/११

फिर हम उसके उचित–अनुचित, योग्यता–अयोग्यता का बिना विचार किये उसके जल, फल, फूल, पत्र की सेवा के परिणाम स्वरूप प्रेम में पागल हुए उस प्रिय भक्त की सेवा करने के लिये व्याकुल हो उठते हैं । उसको इन्कार तो कर ही कैसे सकते हैं ? क्योंकि उसके द्वारा समर्पित जल, पत्र, पुष्प, फलादि द्वारा हम शुद्ध, तृप्त एवं स्वस्थ हुए हैं । आहा ! यह सब कैसी मूर्खों की भ्रान्त धारणा भगवान के प्रति है । प्रथम तो परमात्मा व्यक्ति नहीं शक्ति है, पूर्ण है । यदि वह समर्थ है तो क्या आपके पत्र, पुष्प, जल, फल को पाकर वह भिक्षुक की तरह प्रसन्न होगा । क्या वह कोई अनाथ, अपंग, असमर्थ व्यक्ति है ?

हे आत्मन् ! नाम मात्र के सकामी भक्त उपरोक्त वस्तुएँ भगवान की मूर्ति के सम्मुख रख थोड़ी सी स्तुति कर यह समझते हैं कि भगवान ऐसा खुशामदखोर, कम अकल, नंगा, भूखा व्यक्ति है जो हमारी उचित–अनुचित प्रत्येक माँगों को पूरा करने के लिये हाथ जोड़े सदा तैयार खड़ा रहता है ।

अधिकांश लोग इसी प्रकार उटपटांग कार्य कर भगवान के सम्बन्ध में यही भ्रान्त धारणा करके भक्ति के नाम पर बच्चों की तरह बेमनी से कुछ समय के लिये खिलवाड़ कर दिया करते हैं । फिर अपने दिनभर गलत कामों को करने का साहस पा जाते हैं । वे भगवान से आशा रखते हैं कि भगवान हमारी ५-१०-१५ मिनिट की प्रार्थना पूजा के बदले हमारे पीछे दौड़ते रहेंगे, हमारे कार्य करते रहेंगे । यहाँ तक की हम रात्रि को निश्चिन्त सो जावें और वे हमारे घर के चारों ओर तीर-कमान, डंडा, चक्र, त्रिशुल, बन्दुक हाथ में लिये चोर, डाकुओं से रात जागरण करके हमारी रक्षा करते रहें । हमारे स्थान पर वही बीमारी भोगलें एवं मर भी जावे परन्तु हम सुख भोग करें । यही भक्तों की अभिलाषा अपने मनकल्पित भगवान से होती है ।

हे आत्मन् ! धर्म के नाम पर पण्डा, पुजारी, गुरुओं, मुल्ला, मौलवियों, पादरियों के रूप में धर्म के ठेकेदारों ने भोली जनता को बहुत गुमराह कर उनके तन, मन, धन का अपहरण किया है । जिस कारण बड़े-बड़े प्रतिभाशाली, विचारक, विद्वान, वैज्ञानिक भी ब्रध्या पुत्रवत् अज्ञात भगवान के विषय में बिना सोचे ही किसी न किसी रूप में विश्वास कर लेते हैं ।

हे आत्मन् ! अगर दान, दक्षिणा और पूजा पाठ से खुश होकर ईश्वर किसी के पापों को क्षमा कर देते हैं तो उससे बड़ा भ्रष्टाचारी और रिश्वतखोर अन्य कोई नहीं है, जो सवा रुपया, चिरौंजी, प्रसाद, नारियल, फूल, धूप, दीप, चन्दन, कपूर रखकर प्रसन्न कर लिया जावे एवं उसको उचित न्याय करने के कर्तव्य से हटाया जा सके । क्या सर्वज्ञ, समदर्शी भगवान से अपने द्वारा की गई चोरी, डकैत, हत्या, व्यभिचार के जघन्य पापों को कुछ पैसों का धूप, दीप, जल, फल, फूलादि सामान देकर क्षमा कराया जा सकेगा ? भला ऐसे ईश्वर का न्याय निष्पक्ष हो सकेगा जो स्वयं रिश्वत लेकर पक्षपात करता है ? बल्कि ऐसी मान्यताओं ने ही समाज में

भ्रष्टाचार फैला रखा है । इससे अच्छा तो यह होता कि लोग ईश्वर के सम्बन्ध में की वह सब पापों को क्षमा करदेते हैं एसा भ्रम ही नहीं फैलाते तो लोग यहाँ के समाज के भय से नैतिक बने रहते । अब तो सभी पाप कर्मों को कर लोग नकली ईश्वर को दक्षिणा, पूजा, भेंट आदि द्वारा अपने पापों को क्षमा करा लेने का झूठा विश्वास पाखंडी धर्म गुरुओं ने बहुत जोरों से फैला रखा है । इसलिये चोर, डाकू भी अपने काम पर जाने से पूर्व उनके मन कल्पित इष्ट, देवी-दुर्गा, अम्बा, भैरव की पूजा नमस्कार आदि करते हैं । हाथ में सूत्र, गले व भुजा में ताविज, चित्र लटकाते हैं एवं लूट के धन का एक हिस्सा उनके मन्दिर में लगाते हैं । अधिकांश ऐसे लोगों के द्वारा ही संसार के बड़े-बड़े मन्दिर निर्मित होते हैं । अब एक साधारण व्यक्ति भी सोच सकता है कि जो ईश्वर एक रुपये में इतना नगर, प्रान्त, राष्ट्र व संसार के लिये अहितकर काम करने की भी छूट दे देता है तो भला इससे ज्यादा बेईमान, हत्यारा, लुटेरा, देशद्रोही और कौन हो सकेगा ? फिर चौकीदार, पुलिस आफिसर जैसे लोग अनीति करते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं ।

मैं सत्य कहता हूँ यदि इन पंड़े, पुजारियों ने ईश्वर के भ्रम को न फैलाया होता तो लोक में इतना पाप-अनाचार न फैलता, किन्तु मजहबी ठेकेदारों ने ईश्वर की झूठी महिमा एवं उसके प्रति करूणासागर, दीनबन्धु, पतितपावन आदि नाम का झूठा यश गाकर लोगों को पाप करने का साहस दीला दिया है । कैसा भी पापी हो अपने पापों का जीसू को साक्षी बनाकर, भगवान के सम्मुख होकर, अल्लाह के नाम सिजदा, नमाज, रोजा, प्रार्थना, उपवास करके वह क्षमा करा सकता है । इस प्रकार धर्म गुरुओं द्वारा फैलाई गयी भ्रान्त धारणाओं से लोक में अनाचार, दुराचार, पापाचार, व्यभिचार ज्यादा फैल गया है । सोचने की बात है कि संसार में वर्ष के ३६५ दिन होते हैं जिनमें व्यक्ति ३७० धर्मों को बदल लेता है एवं पृथ्वी पर

किसी न किसी धर्म में श्रद्धा आस्था रखने वाले लोग मिलते ही हैं । मेरे अलावा शायद ही कोई ऐसा नास्तिक होगा जो आत्मा के अलावा किसी देवी-देवता को नहीं मानता होगा ? कभी सोचते हैं कि इतने तीर्थ, मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर, गुरुद्वारा, मक्का, मदीना, गिरनार, माउन्ट आबू, बद्री, केदार, जगन्नाथ जाने वाले नित्य यज्ञ, होम, पूजा, पाठ, मंत्र, माला, नमाज, कीर्तन, भजन करने वाले घर-घर पूजा प्रार्थना करने वाले होने के बावजूद भी संसार में व्यापक रूप से बेईमानी, व्यभिचार, हत्या, लूट, रिश्वतखोरों क्यों बढ़ते जारहे हैं ? व्यक्ति सदा अन्य व्यक्ति से भयभीत ही बना रहता है । जबकि ईश्वर के न मानने वाले लोग मेरी तरह बहुत थोड़े ही होंगे । जब ईश्वर को मानने वाले ईश्वरवादी आपकी तरह आस्तिक भक्त ही सब ओर खचाखच, ठसाठस, भीड़ लगाये धर्म स्थलों एवं ग्रामों, नगरों, शहरों में खड़े हुए हैं । तब फिर मैं आपसे पूछूँ कि इतनी अनीति, अशान्ति, व्यभिचार, हत्या क्यों एवं किसके द्वारा हो रही है ?

हे आत्मन् ! सच तो यह है कि कुछ सच्चे संतों को छोड़ नामधारी ब्राह्मण, गुरु, पंडित, पादरी, मुल्लाओं ने ईश्वर या अल्लाह के नाम पर लोगों को भयभीत कर ठगने के सब रास्ते बना रखे हैं । पूजा, पाठ, मंत्र, तीर्थादि के जाल फैला रखे हैं । डाकू डकैती करने से प्रथम ठाकुरजी के कपड़े, छत्र, जेवर, स्वर्ण, लूट के धनादि चढ़ाने की मानता लेकर चोरी, लूट, हत्या, स्त्री हरण कर ले आते हैं । फिर भी मूर्ख लोग प्रशंसा करते हैं कि डाकू मानसिंग दुर्गा का भक्त था उसकी इतनी बड़ी ख्याति तथा सफलता का श्रेय दुर्गा माता को है; क्योंकि वह दुर्गा माता का अनन्य भक्त था, इसलिये उसकी पुलिस से मुठ-भेड़ होने पर भी बच जाता था । आश्चर्य है इस प्रकार अन्धविश्वास की गहरी जड़ों को पुष्ट करने वाले, दुष्टों को उनके कामों में प्रोत्साहन दिलाने वाले संत, गुरु और भगवान होंगे या उन्हीं चोरों के भाई डाकू ही होंगे ।

हे आत्मन् ! भला भगवान जो प्राणीमात्र का माता-पिता, समदर्शी, न्यायाधीश कहलाने वाला क्या हर अपराधी को बिना दण्ड दिये केवल जप, प्रार्थना, पत्र, फूल, फल, चन्दन, आरती मात्र से क्षमा कर देगा ? यह बात तो वही मान सकेगा जिसकी अपने हृदय की आँख फूट गयी होगी अथवा जिसकी बुद्धि किसी सम्प्रदायी, मजहबी खूँटे से बंधी घास चर रही होगी । जो अकल का अंधा एवं गाँठ का पूरा आदमी होगा वही ऐसी अंधविश्वास की जड़ों को सींचता होगा ।

राम झरोखा बैठीकर सबका मुजरा लेय ।
जैसी जाकी चाकरी वैसा ही फल देय ।।

कर्म प्रधान विश्वकरि राखा ।
जो जस करई सो तस फल चाखा ।।

हे आत्मन् ! परमात्मा तो साक्षी, द्रष्टा मात्र है वह किसी की पूजा पर प्रसन्न हो राग नहीं करता है एवं पूजा स्तुति न करने वालों पर क्रुद्ध हो द्वेष नहीं करता है वह तो न्यायाधीश है । जीवों के कर्मों के अनुसार उचित फल देने वाला है । यदि वह जीवों की इच्छानुसार करता होता तो यह संसार जनशुन्य श्मशान ही हो जाता; क्योंकि प्रत्येक के कोई न कोई अवश्य दुश्मन है । और वे उनके नाशार्थ परमात्मा से प्रार्थना कर एक दूसरे को सम्भव होता तो समाप्त ही करा देते । यदि उनकी प्रार्थना अनुसार कार्य नहीं हुआ तो फिर वे देव, मंत्र, साधना, गुरु, पूजा, स्थानादि सभी को झूठा, खोटा, बकवाद रूप बता छोड़ देते । गालियाँ भी देने लग जाते हैं कि पहले ये देवता सिद्ध था अब यह किसी के द्वारा भ्रष्ट कर दिया गया है । कोई मासिक धर्म वाली स्त्री ने भ्रष्ट कर दिया है इसीलिये इस स्थान पर, इस देवता के पास पूर्व जैसी शक्ति सामर्थ्य फल देने की नहीं रही । अब चलो वहाँ एक नया देवता प्रकट हुआ है जो तत्काल सभी कामना को पूर्ण कर देता है । फिर इसी प्रकार उस दुकान से ग्राहक हट अन्य दुकान पर

भीड़ खड़ी कर देते हैं । जब वहाँ भी काम नहीं बना तो फिर जहाँ के तहाँ नास्तिक, अश्रद्धालु बन चुप बैठ जाते हैं ।

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्ययाच विमुच्यते ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ।।

जीव कर्म से बंधता है और ज्ञान से मुक्त हो जाता है । इसी से पारदर्शी मुनीगण अर्थात् आत्मज्ञानी महापुरुष यज्ञ, तप, तीर्थ, पूजा, पाठादि अनित्य एवं बन्धन कारक कर्म नहीं करते हैं ।

कर्मोदये कर्मफलानुरागा स्तत्रानुयान्ति न तरन्ति मृत्युम् ।।

महाभ. सनत्सुजातीवय १/९

कर्म के अनुष्ठान करने पर कर्मफल में आसक्त जीव उस कर्मफल भोगने के लिये जन्म-मरण के चक्र में भटकते हैं । आत्मज्ञान बिना मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकेंगे ।

◆◆◆

नास्तिक भक्त

हे आत्मन् ! अधिकांश भगवत प्रेमियों को, भगवत आराधकों को भगवान से कोई प्रयोजन ही नहीं है । हम भगवान के सम्मुख माँगने भर जाते हैं । यदि माँग न हो, काम न हो तो मन्दिर गुरुद्वारे जाने को भी मन नहीं कहेगा । घर से परमात्मा के मंदिर की ओर चलने से पूर्व हमारा मन हिसाब बैठा लेता है कि आज क्या-क्या काम भगवान से करवाना है, क्या-क्या मुझे माँगना है; क्योंकि हमें ऐसी आशा है कि वहाँ पुकार करने से मिल जाता है । यदि मिल जाय तो हम उन्हें पाँच आने, सवा रुपया, पाँच रुपया द्वारा धन्यवाद दे देते हैं और नहीं मिला, कामना पूर्ण न हुई तो हम उसे छोड़ शीघ्र ही कोई नया भगवान चुन लेते हैं जो हमारा शीघ्र एवं ठीक काम कर सके । भीतर से तो हम

प्राय: सकामी नास्तिक ही हैं । आस्तिक तो सफलता की आशा में बन गये हैं कि शायद उसे पुकारे उसके द्वार पर खटखटाते, जाते, गाते, बजाते रहेंगे तो हमारी मनोकामना पूर्ण हो जावेगी ।

हे आत्मन् ! तुम मन्दिर, मस्जिद, चर्च घर, गुरुद्वारा, तीर्थ, काबा, मक्का, गंगा जाते हो एवं फिर वहाँ जाकर अपनी मांग, कामना सुनाते हो । मैं सच कहता हूँ कि जो कुछ तुम चाहते हो और वह सब कुछ तुम्हें हिन्दु के मन्दिर से मिलने की आशा न हो और तुमसे कोई कह दे कि फँला गाँव के फँला फकीर की फँला मजार, कब्र, दरगाह पर जाने से सब कुछ मिल सकता है । तो तुम रात अंधेरे चोरी से मुसलमान फकीर की मजार अजमेर वाले ख्वाजा साहब की दरगाह पर भी बिना विलम्ब पहुँच जाओगे । माँगने वाले का, नौकर का क्या भरोसा आज इस द्वार पर खड़ा है तो कल किस द्वार पर आशा पूर्ति में खड़ा दिखाई पड़ेगा कहा नहीं जा सकता ? जहाँ मिलने की आशा है वहीं ''क्यु'' (लाईन) में खड़ा हो जावेगा । माँगने वाले की न तो कोई आस्था है न परमात्मा से कोई सम्बन्ध है और न उसका अपना कोई धर्म है । वह जो माँगता है अगर कोई सब दिला ने का विश्वास दिला दे और कहे कि तू प्रथम नास्तिक हो जा इस शर्त पर में तेरी कामना पूर्ण कर देता हूँ तो वह तत्काल ही नास्तिक होजा तो क्या नंगा भी हो जावेगा । वह कह देगा ठीक है यदि तुम हमारी कामना पूर्ण किये देते हो तो आज से हमारे लिये तुम्ही भगवान हो और हमें अज्ञात भगवान से क्या अटकी पड़ी है ? वह स्वार्थी कहेगा हमने छोड़ा परमात्मा से क्या हमें लेना-देना ? हम तो इसीलिये जाते थे कि वह हमारा काम कर दे । हम परमात्मा के मन्दिर में इसीलिये पुकारते थे कि हमें अमुक वस्तु, धन, व्यक्ति, पद, स्वास्थ्य प्राप्त हो जावे, परन्तु परमात्मा उस कार्य को न कर पाया । यदि किसी आदमी ने विश्वास दिला दिया कि हम तुझे एक मंत्र देते हैं उससे सभी कामना पूर्ण हो जावेगी जो आज तक नहीं हुई, किन्तु एक शर्त है कि तुम आज से

परमात्मा का नाम न लेना, उसके द्वार पर न जाना, अन्यथा मंत्र सिद्ध नहीं होगा, कामना पूर्ण नहीं होगी तो तुम उस व्यक्ति के ही पैर पकड़ लोगे और उसे अपना विश्वास प्रकट कर दोगे कि हम बिल्कुल तैयार हैं, हम पहले से ही उस पर आस्था नहीं रखते हैं, वह तो गरज के कारण मानना पड़ गया ।

हे आत्मन् ! लोभी, पापियों एवं डरपोकों ने भगवान भी अपने भय एवं कामना के कारण ही पैदा किया गया है । वह हमारे भय का ही प्रतिबिम्ब है । जब हम भयभीत होते हैं तभी उसे याद करते हैं । जब निर्भय होते हैं सुखी होते हैं तब उसे बिलकुल भूल ही जाते हैं, याद ही नहीं आती, जरूरत ही नहीं समझते हैं । जब तुम दुःखी होते हो तब एकदम राम-राम, हे भगवान ! या खुदा ! पुकारने लगते हो, तभी तो कबीर जैसे ज्ञानी संत कहते हैं -

दुःख में सुमिरन सब करे, सुख में करे न कोय ।
जो सुख में सुमिरन करे, तो दुःख काहे को होय ।।

नहीं तुम नास्तिक हो । आस्तिकता तुम्हारी ओढ़नी है, चालाकी है, जब जरूरत हुई तुम आस्तिक । जब तुम निश्चिन्त हो, शान्त हो, निर्वासनिक हो तब तुम नास्तिक ही होते हो । हे आत्मन् ! सकामी भक्त एवं नास्तिक एक ही वस्तु के दो छोर हैं । एक तो परमात्मा को पहले से ही नहीं मानता है, उसे तो परमात्मा पर विश्वास ही नहीं है । दूसरा विश्वास उतना ही करता है जब तक कि कामना की पूर्ति की आशा है । कामना पूर्ण हो गई तो भी परमात्मा की तरफ से दृष्टि हटा लेगा, नहीं हुई तो हटा हुआ ही है एवं अन्य द्वार पर खड़ा हो जावेगा । भक्त सकामी है तो उसके नास्तिक होने में देर नहीं लगेगी । वह तो हिसाब बैठाकर रखा है कि मैं औरों की अपेक्षा मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, चर्च घर, तीर्थादि जाता हूँ मेरा तो संसार सुखी होना चाहिये, लड़का, पत्नी, पति आज्ञाकारी होना चाहिये ।

दुकान, मकान, नौकरी, स्वास्थ्य ठीक रहना ही चाहिये । और जिस दिन उसके सजाये सपने में से कुछ कमी पड़ गई, उसकी कामना, आशा, सम्मान को थोड़ा भी धक्का लग जावे तो क्रुद्ध हो उठेगा कि इतना भजन किया, अखण्ड पाठ किया इतनी पूजा उपवास किया फिर भी मेरा ही इकलौता बेटा, पति, पत्नी मरा । वही भक्त चिल्लाने लगेगा सब झूठ है । भगवान नाम की कोई श्रद्धा करने जैसी वस्तु सत्ता ही नहीं है । मैं नहीं मानता कि भगवान कहीं है और वे भक्तों की पुकार सुनते होंगे । सब बकवाद है । यह आस्तिक भक्त जो नित्य प्राय: जल्दी उठ गंगा स्नान करने वाला, लम्बे तिलक छापे लगाने वाला, राम नाम की चादर लपेटने वाला एवं ऊँचे-ऊँचे स्वर में नाम जप करने वाले को अब आप घर में देर तक सोया पाओगे । अब वह भगवान को गाली देते पाया जावेगा । अब वह गीता, रामायण, बाईबिल, कुरान व भगवान की तस्वीरों को फाड़ता, फेंकता, तोड़ता, जलाता हुआ एवं निन्दा करता हुआ पाया जावेगा ।

''ज्ञानी प्रभुहि विशेष पियारा''

हे आत्मन् ! ज्ञानी भक्त ही सच्चा भक्त है; क्योंकि वह परमात्मा के यथार्थ स्वरूप को जानता है । वह परमात्मा को व्यक्ति रूप में नहीं देखता न उससे अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये प्रार्थना ही करता है । वह जानता है कि मानव का पूर्व किया गया कर्म ही स्वत: फलित होकर अवश्य भोगने को मिलता है । हमें जो चाहिये हम वैसा औरों के लिये करना प्रारम्भ कर दें । जो काटना चाहते हैं खेत से वही खेत में बोना प्रारम्भ करें । जो सेवा सम्मान व्यवहार हम अपने लिये औरों से चाहते हैं वह सब हम उनके प्रति करने लगें तो हमें सभी मिलने लग जावेगा । मूर्खों द्वारा केवल भगवान की प्रतिमा के सम्मुख थोड़ा जल, फल, दुध, मिष्ठान्न, नारियल, फूल, चन्दन, सिन्दुर रखने से धुप, दीप, अगरबती करने से वह प्रसन्न हो उनकी मनमानी न पूर्ण कर सकेगा और न करने ही देगा । प्रत्युत किये शुभाशुभ कर्मों का

फल अवश्य भोगना पड़ेगा ।

ज्ञानं विशिष्टं न तथा हि यज्ञाः ।
ज्ञानेन दुर्गं तरति न यज्ञैः ।।

जैसा ज्ञान उत्तम है वैसा यज्ञादि अनित्य कर्म नहीं है । पुरुष ज्ञान से उत्तम मुक्ति को प्राप्त होता है जिससे जन्म-मरण जैसा दुर्गम संसार चक्र को पार कर जाता है किन्तु जप, तप, यज्ञ, दान, तीर्थ, मन्दिर, पूजा, पाठादि अनित्य कर्मों से नित्य मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ।

◆◆◆

भक्ति योग

भक्ति ही समस्त धार्मिक जीवन का आधार है । भक्ति, वासना और अहंकार का नाश करती है और ज्ञान मार्ग का द्वार खोलने वाली कुञ्जी है । भक्ति की परिसमाप्ति ज्ञान में होती है । भक्ति का आरम्भ दो में होता है और अन्त होता है एक में । उदाहरणार्थ ''आस पास गोपियाँ बीच में कन्हैया'' और अन्त में ''जित देखूँ तित श्याम'' । आत्म ज्ञान का मूल स्रोत प्रत्येक के अपने हृदय में ही निहित है और सच्ची भक्ति के द्वारा कोई भी व्यक्ति उसे प्राप्त कर सकता है ।

भक्ति योग में प्रिया-प्रियतम दोनों होते हैं । जब प्रेमी को पता चलता है कि वह और उसका प्रिय एक है तो वह दासोऽहम् भक्ति समाप्त हो सोऽहम् ज्ञान का रूप ले लेती है । द्वैत मिट जाता है एवं अद्वैत ज्ञान का प्राकट्य हो जाता है । अद्वैत वादियों के अनुसार ''मैं वह हूँ'' इस प्रकार का सतत चिन्तन ही भक्ति है अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ, सोऽहम् चिन्तन ही भक्ति है । जो मनुष्य सर्वत्र नारायण का ही दर्शन करता है, सभी पदार्थों में एकता का अनुभव करता है, सभी वस्तुओं को नारायण रूप में देखता है, सर्वत्र उन्हीं की उपस्थिति का अनुभव करता है, इस प्रकार जिसने अपने सहित एक

अखंड सत्ता का अनुभव कर लिया है, वह अवश्य ही पूर्ण शान्ति आनन्द का उपभोग करेगा ।

सियाराम मय सब जग जानी ।
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी ।।

यही विराट् की उपासना है । प्रहल्लाद ने अपनी आत्मा की पूजा साक्षात् भगवान के रूप में की, यह अभेद भक्ति कहलाती है जो भक्ति की चरमावस्था है । अपने इष्ट के दर्शन कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, आत्मज्ञान भी आवश्यक है । अविद्या का नाश दर्शन मात्र से नहीं होता है । उद्धव, अर्जुन, नामदेव, मीरा, हनुमान, दशरथ, गोपी, शबरी आदि ने कई बार दर्शन किये थे । यहाँ तक कि सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य, सारूप्य मुक्ति पाने वाले सभी भक्त बिना आत्मज्ञान के भवसागर से पार नहीं हो सकेंगे ।

आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।।

– गीता : ८/१६

ज्ञान क्या है ? समस्त अलंकारों में स्वर्ण, बर्तनों में मिट्टी, कपड़ों में सूत, फर्नीचरों में लकड़ी की तरह प्राणी मात्र में आत्मा का दर्शन करना ''वासुदेवः सर्वमिति'', ''आत्मैवेदं सर्वम्'', ''ब्रह्मैवेदं सर्वम्'' यही ज्ञान है । भक्ति प्रगाढ़ हुई कि ज्ञान का उदय हुआ । अनन्य भक्ति का फल ही ज्ञान है । अद्वैत वेदान्ती सभी प्रथम भगवान इष्टों के उपासक रहे हैं । ज्ञान योग का साधक अपनी आत्मा की निरन्तर अनन्य उपासना करता है । ''मैं सच्चिदानन्द, अखंड, परिपूर्ण ब्रह्म हूँ'' इससे बढ़कर भी क्या कोई भक्ति हो सकती है ? भक्तिका पुष्प परिपक्व होकर जब गिरता है तभी ज्ञान का फल निकलता है ।

हे आत्मन् ! निरन्तर यह अनुभव कीजिये कि आपका शरीर भगवान का चलता, फिरता, उठता, बैठता, बोलता मन्दिर है । आपका

घर, दूकान, आफिस ही परमात्मा का नाट्य मन्दिर है तथा आपकी समस्त क्रियाएं जागने से शयन तक सभी भगवान की है, भगवान ही कर रहे हैं, यह भावना ही भक्ति एवं भगवान की सेवा है । कर्ता–भोक्ता का अहंकार किये बिना प्रभु प्रसन्नतार्थ कार्य कीजिये । अपने को परमात्मा के हाथ का उपकरण समझिये । सारे विश्व एवं उसमें होने वाली क्रियाओं को परमात्मा का स्वरूप एवं इच्छा जानिये । आपके परिवार के प्रत्येक लोग परमात्मा के परिवार के लोग हैं, उन्हीं की सन्तान हैं एवं आप उसके लिये संरक्षक रूप में नियुक्त किये गये हैं । माली बनकर उनका पोषण कीजिये किन्तु मालिक न बनें ।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।

गीता : ५/१८

प्रत्येक रूपों में परमात्मा का दर्शन कीजिये जैसे नामदेव कुत्ते में, ज्ञानदेवजी भैंसा में, एकनाथजी गधे में भी परमात्मा के दर्शन कर रहे थे । ज्ञानी गौ–गधा, हाथी–कुत्ता, चाण्डाल तथा ब्राह्मण में भी बाह्य नाम रूप का भेद छोड़ परमात्मा का ही दर्शन करते हैं । इस साधना के लिये किसी बाह्य कर्मकाण्ड, समय, आसन, वस्तु, एकान्त की जरूरत नहीं है । आपके प्रत्येक कर्म परमात्मा की प्रसन्नता के लिये हो एवं प्रत्येक रूपों को परमात्मा का रूप जाने । बस हो गई सर्वोच्च भक्ति, जप, साधन एवं योग ।

आप चींटी और हाथी के साथ, कुत्ते व गाय के साथ, चाण्डाल एवं ब्राह्मण के साथ, हिन्दु एवं मुसलमान के साथ, साँप व शेर के साथ अपनी एकता एवं घनिष्ठता, आत्मियता का अनुभव कीजिये । सभी प्रकार के प्रतिरूपों या अभिव्यक्तियों में केवल आकार का ही अन्तर है । प्रत्येक आकार परमेश्वर का सगुण रूप है एवं प्रत्येक आकार का आधार निर्गुण निराकार ब्रह्म ही है । नाम रूप आवरण के पीछे छिपे चैतन्य का दर्शन करना

ही भक्ति है । ज्ञानी ज्ञानचक्षु से देखते हैं । सर्वत्र इसीलिये देखते हुए भी उनकी समाधि बनी रहती है एवं अज्ञानी ध्यान समाधि का प्रयत्न करते हुए भी उसे नहीं देख पाते हैं । इस साधना का प्रतिदिन एक-एक घन्टे अभ्यास बढ़ाईये, फिर देखिये आप में अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव होगा और सभी के प्रति घृणा भाव हट प्रेम भाव जागृत हो जावेगा ।

हे आत्मन् ! विश्व शान्ति हेतु ज्ञान यज्ञ अर्थात् आत्मीयता का होना जरूरी है । बिना आत्मीयता के कानून द्वारा या द्रव्य यज्ञ द्वारा शान्ति स्थापित नहीं हो सकती है । जो भक्त केवल मूर्ति में ही भगवान का दर्शन करता है वह निम्न स्तर का भक्त है । जो भक्तों में ही भगवान की भावना करता है एवं नास्तिकों के प्रति बुरा भाव, घृणा भाव रखता है वह मध्यम श्रेणी का भक्त है तथा जो सर्वत्र भगवान का ही दर्शन करता है वह उत्तम भक्त है । (वासुदेव: सर्वमिति)

भगवान यदि मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, चर्च घर एवं तीर्थ में हैं तो बाकी स्थलों पर कौन है ? प्रत्येक जीव-जन्तु में भगवान को पहचानिये । श्वास, प्रश्वास, मन, वाणी, नेत्र, शरीर यहाँ तक कि कण-कण में वही है । भिखारी, शत्रु, कुष्टी भी सम्मुख आवे तो उससे प्रेम पूर्वक व्यवहार करें । यह भगवान नारायण ही अपने अनेक रूपों में विराजित हुए आपकी सेवा, भक्ति भाव एवं प्रेम को ग्रहण करने आते रहते हैं । एकनाथजी के सम्मुख गधे रूप, नामदेवजी के सम्मुख कुत्ते रूप में, ज्ञानदेवजी के लिये भैंसा रूप में, हिरण्यकश्यपु के लिये नृसिंह रूप में, बली के लिये वामन रूप में अवतरित हुए । यह इतिहास, पुराण प्रसिद्ध घटना कौन नहीं जानते हैं ?

श्रीरामजी ने हनुमान से पूछा कि आप अपने विषय में क्या सोचते हैं ? इस पर हनुमान ने कहा-हे प्रभु ! जब मैं अपने को शरीर समझता हूँ तब आपका दास हूँ, जब अपने को जीव समझता हूँ तब आपका अंश हूँ और जब मैं अपने को आत्मा समझता हूँ तब मैं और आप एक ही हैं ।

हे आत्मन् ! प्रत्येक वस्तु की वाणी में ब्रह्म का ही नाद सुनिये । टिमटिमाती तारिकाऐं, नीलगगन, तेजोमय सूर्य, हिमालय, पुष्पों, सरिताओं एवं सागर की तरंगे, सभी दृश्यमान जगत धीमे-धीमे स्वर में, भूले पथिकों को कह रहा है । ''ब्रह्म यहाँ है प्रभु यहाँ है ।'' ''घूँघट के पट खोलरे तोहे पिया दिखेंगे'' ।

नाम और रूप भले भिन्न-भिन्न हों पर उनमें जो तत्त्व है, वह समान और एक ही है । ये समस्त असार नाम-रूप उसी एक सार वस्तु आत्मा, ब्रह्म पर आधारित है । इसलिये सभी हम एक आधार कीली से जुड़े हुए हैं । नाई, धोबी, भंगी, चमार, स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी सभी को एक परमात्मा रूप जान प्रणाम करो । जो आप से घृणा करे तो भी उससे आपको प्रेम करना चाहिये । प्राणी मात्र की सेवा ही परमात्मा की पूजा है । यदि आप भगवान की इन चैतन्य झाँकियों, प्रति कृतियों से, प्राणी रूप में दृश्य परमेश्वर से प्रेम नहीं कर सकोगे, इनकी भक्ति सेवा नहीं कर सकोगे तो फिर उस निराकार अदृश्य परमात्मा की सेवा कैसे कर सकोगे ? वह किस दिशा से हाथ लम्बा कर आपकी भेंट, पूजा, फूल, फल, जलादि को स्वीकार करेगा ?

यद् यत्पश्यति चक्षुभ्याँ तत्तदात्मेति भावयेत् ।
यद् यच्छणोति कर्णाभ्यां तत्तदात्मेति भावयेत् ।।
दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा, पश्येत् ब्रह्ममयं जगत् ।
सा दृष्टि परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी ।।

आँखों से जो देखाजाता है, कानों से जो सुनाजाता है, त्वचा से जो स्पर्श किया जाता है, नासिका द्वारा जो सूंघा जाता है, जिह्वा द्वारा जो रस लिया जाता है उन्हें एक आत्मा रूप ही निश्चय करना चाहिये । क्योंकि यहाँ आत्मा से भिन्न अन्य कुझ भी नहीं है । ऐसा श्रुति मत है ।

अतः सद्गुरु के द्वारा ज्ञान दृष्टि प्राप्त कर अपने सहित सर्वत्र जगत में एक ब्रह्म का ही अनुभव करें । यही दर्शन यथार्थ दर्शन है । नासिका के अग्रभाग पर ध्यान करना यह बालकों का काम है ।

नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा, नान्योऽतोऽस्ति श्रोता, नान्योऽतोऽस्ति मन्ता, नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता, एष त आत्मऽन्तर्याभ्यमृतो ऽतोऽन्यदार्तम् ।।

– वृह. उप

इस आत्मा से पृथक अन्य कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता नहीं है । एक ही आत्मा अनेक नामों से कहा जाता है । ''**एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति**'' । यह आत्मा श्रोत्र, त्वचा, चक्षु आदि उपाधियों के कारण शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की तरह भास रहा है । यही अन्तर्यामी, अमृत स्वरूप अविनाशी परमात्मा ही अपना निज स्वरूप है । इस आत्मा से भिन्न जो कुछ भी अज्ञानी जन देखते एवं मानते हैं वह सब स्वप्नवत् कल्पित, दुःखरूप एवं नाशवान ही है ।

''यस्मात् परं ना परमस्ति किंचित् ।''

– श्वेता. उप. ३/९

इस आत्मा से पर एवं अपर कुछ भी तत्त्व पृथक् नहीं है ।

''यत् साक्षाद् परोक्षाद् ब्रह्म ।''

– बृह.उप. ३/४/१

जो किसी इन्द्रिय के द्वारा जाना नहीं जाता है फिर भी मैं रूप में प्रत्यक्ष है, वह साक्षात् स्वयं प्रकाश प्रत्यक्ष आत्मा ब्रह्म है ।

उत्तमातत्त्व चिन्तैव मध्यमं शास्त्र चिन्तनम् ।
अधमा मंत्र चिन्ता च तीर्थ भ्रात्य धमाधमा ।।

आत्म तत्त्व ही श्रेष्ठ है अतः आत्म चिन्तन ही श्रेष्ठ एवं सहज साधन

है । शास्त्र चिन्तन कर शास्त्रीजी बनकर शास्त्रार्थ करते रहना यह मध्यम है । मंत्र जप करना अधम साधन है तथा तीर्थ भ्रमण करते रहना तो अधमा से अधम है ।

''अज्ञात शिव तत्त्वानामाकाद्यर्च्यनं कृतम् ।।''

–योग.वा. ६/९/२८/९२३

जिन लोगों को प्रकृत शिवतत्त्व अर्थात् आत्मतत्त्व अवगत नहीं है उन अल्प एवं मंद बुद्धि वालों के लिये बाह्य आकार अर्थात् प्रतिमा, तप, तीर्थ, मन्दिर, जप, हवनादि की व्यवस्था है । आत्म निष्ठ ज्ञानी पुरुषों के मन से द्वैत भाव समाप्त हो जाने से वे भेद उपासना कभी नहीं करते हैं ।

◆◆◆

परा भक्ति

हे आत्मन् ! यदि यह बात संसार के सभी मनुष्यों के ध्यान में आ जाये कि ईश्वर जड़-चेतन, चराचर में समान है, वही चलाने वाला है और वही चलने वाला है तो मानव समाज का दृष्टिकोण इतना उदार सरल एवं प्रेमी हो जावेगा कि भाषा, प्रान्त, धर्म, मजहब, सम्प्रदाय का पक्ष लेकर अदृश्य निराकार परमात्मा के साकार रूप मनुष्य, पशु, पक्षी, जल, जीवों की हत्या, लूट एवं तिरस्कार नहीं कर सकेगा; क्योंकि यह ८४ लाख योनियाँ सब ब्रह्म के ही रूप हैं ।

''वासुदेवः सर्वमिति ।''

''हरि व्यापक सर्वत्र समाना ।''

''जड़-चेतन जग जीव यत, सकल राममय जानी''

''सातव मोहि सम जग लेखा''

“सियाराम मय सब जग जानी ।”
“विश्व रूप रघुवंश मणि”
“मनुज वास सचराचर रूप राम भगवान”
“राम उमा सब अन्तर्यामी”
“अस प्रभु हृदय अछत अविकारी”
“देश, काल दिशि विदेशहुँ माहि ।
कहहुँ सो कहा जहाँ प्रभु नाहि ।।”

गीता कहती है –

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।

हमें भक्ति, पूजा उसकी करनी है जो सब में हैं, जो सबका संचालन करते हैं और सर्वरूप है । वही अमृत है, वही अमृत पीने योग्य है । वह स्वयं ढूंढ़ता है और स्वयं ढूंढ़ने योग्य है । परमेश्वर के सर्वरूप में न लोक परलोक का भेद है न मैं और तू का भेद है और न शत्रु मित्र का भेद है । ऐसा सर्वात्म व्यापक ईश्वर का स्वरूप है । इस प्रकार सर्वरूप में जो ईश्वर का दर्शन है इसी को परमात्मा का विराट् दर्शन या भक्ति का यथार्थ स्वरूप बतलाते हैं ।

हे आत्मन् ! परमात्मा सर्व रूप होने से पृथ्वी, पेड़, पौधे, जल, वायु, प्रकाश, पक्षी, पशु, कीट, पतंग आदि सभी परमात्मा हैं । अतः चलते समय पृथ्वी पर भी बड़ी श्रद्धा भक्ति तथा प्रेमपूर्वक पैर रखो । कहीं आपके कदमों, चरणों की आहट पृथ्वी माता के हृदय पर आघात न पहुँचादे । कहीं कोई कीटाणु, जीवाणु कुचलकर मर न जावे । घास, दूब न मर जावे; क्योंकि वह भी तो किसी शरीर में जाकर दूध या रजवीर्य होकर मनुष्य प्राणी बनने की आशा में है । सबसे मधुर वचन कहो । परमेश्वर के किसी मन को हमारा व्यवहार न चुभने पावे । पशु, पक्षी के मन में भी आपकी कर्कश वाणी स्पर्श न कर पावे । कुत्ते को भी कटु शब्द न कहो । पशुओं से भी

अमानवीय व्यवहार न करो । पड़ोसी भी भगवान का रूप हैं उनके तन मन पर भी आपके व्यवहार वाणी का कुप्रभाव न पड़ने दो, ईश्वर सबमें समान हैं ।

हे आत्मन् ! परमात्मा बाहर नहीं भीतर है । भीतर वाले का स्मरण जगाने हेतु बाहर के मन्दिर में देव स्थापित किया है । वहाँ भोग, वस्त्र, स्वच्छता, प्रसाद इसी बात की शिक्षा देने हेतु है कि जब घर में आप भोग लगावे तो आत्मदेव को प्रेम से अर्पित करे । जल, पत्र, फल, जो भी दे प्रीति पूर्वक समर्पित करें । अपने प्रति भगवत् भावना रखने वाला ही अन्य के प्रति भगवत् भावना कर सकता है । जो अपने साथ शत्रुता करने में लग गया है, जो अपने को ही नाना कष्ट प्रद उपवास, तपस्या से पीड़ित करने में लगा है वह दूसरों के प्रति दयावान कभी नहीं हो सकेगा । वह कभी सबमें परमात्मा रूप का दर्शन नहीं कर सकता, वह तो आसुरी प्रकृति का अपना शोषण रूप आत्महत्या करने वाला अधोगति ही प्राप्त करेगा ।

हे आत्मन् ! ईश्वर पूजा करते समय यह ध्यान रखो कि तुम ईश्वर पूजा कर रहे हो या व्यक्ति की पूजा कर रहे हो ? याने सर्वात्म प्रभु की पूजा कर रहे हो या एक मूर्ति प्रतिमा की ? जब तुम सर्वात्म प्रभु की पूजा कर रहे हो तो फिर विश्व के किसी एक जीव का भी तिरस्कार नहीं कर सकोगे । फिर तो एक चींटी, चिड़िया, पशु, भिखारी, नौकर, पत्नी सभी परमात्मा हैं । जिसका तिरस्कार करते हो उसके शरीर का तो तिरस्कार नहीं होता बल्कि जिस शरीर से तिरस्कार निकल रहा है उसी तिरस्कार कर्ता का ही तिरस्कार सम्मुख व्यक्ति में स्वयं से होता है । क्योंकि एक ही आत्मा दोनों में विद्यमान है । इसलिये अपने को मन, वचन, कर्म से सभी प्राणियों के लिये सरलता, दया, क्षमा, प्रेम, सहयोग रखना ही भक्ति है । अपने को सत्कर्म से, सद्भाव से, सद्विचार से सम्पन्न रखना ही ईश्वर की पूजा है । तो अपने कर्मों से अपने को ईश्वर रूप में अवतीर्ण कर लेना यही उसकी पूजा है और यही कर्म योग का स्वरूप

है ।

हे आत्मन् ! आप कोई भी कार्य करें उसमें मुख्य भावना यह रहे कि इस कार्य से जीवों को लाभ मिलेगा, चाहे मिठाई बनाकर बेच रहे हों चाहे भोजन बना अपने परिवार वालों को या अन्य को भोजन करा रहे हों, चाहे फेक्ट्री खोल छाते, जूते, कपड़ा, मशीन बनाकर बेच रहे हों या डाक्टरी, वकीलात, व्यापार, खेती, नौकरी कर रहे हों, चाहे आफिसर बन रहे हों परन्तु आपके मन में सब क्रियाओं में यही भावना रहे कि मेरे प्रभु नाना रूप में विचरण कर रहे हैं, सब में वही भोग रहे हैं । हमारे द्वारा ऐसा सुन्दर कर्म पुष्प समर्पित हो कि मन, वचन तथा कर्मों से उन्हें सुख मिले बस यह भावना प्रबल रहे । पैसे के लिये यह कार्य कर रहा हूँ यह भावना न बनावे । पैसा तो उसी प्रकार प्राप्त हो जाता है जिस प्रकार बीज बोने के बाद घास पात । बीज सेवा है फल परमात्मा की प्रसन्नता है । अपने जीवन निर्वाह की सामग्री तो घास पातवत् स्वत: ही आ मिलेगी । बस तुम्हारे प्रत्येक कर्म प्रभु की अर्चना के लिये हो ।

हे आत्मन् ! हम किसी रूप-रंग आकृति विशेष की आराधना पूजा न करें । किसी काले-गोरे, दिगम्बर, श्वेताम्बर, मुरली, धनुष की भक्ति नहीं करें । यह देखे कि हमारे सामने जो भी है चाहे वह कुत्ता हो या गाय, मित्र हो या शत्रु सब परमात्मा ही है । जैसे नामदेवजी कुत्ते के लिये घी का कटोरा लिये दौड़े कि प्रभो ! रोटी में अभी घी नहीं लगाया है, रूखी रोटी तो न खाओ । ज्ञानदेव ने भैंस पर लगे डन्डों को अपने ऊपर उभरा हुआ दिखा दिया । मौत आवे तो भी उससे न डरे, उसे भी मित्र जाने, प्रभु का रूप जाने । पति के हाथ में पिस्तौल हो तो पत्नी को डर नहीं लगता है; क्योंकि पति अपना है । वह कभी मेरे साथ धोखा, विश्वासघात नहीं करेगा । ऐसा दृढ़ विश्वास मन में बना रहता है । इसी प्रकार परमात्मा के हाथ में मौत का फंदा हो तो डर नहीं लगना चाहिये; क्योंकि वह अपना

प्रियतम है, पति से ज्यादा भरोसेमंद है, सुहृद है, ''बिन हेतु सनेही'' है । और जब आपके हृदय में परमात्मा प्रकट हो जावेंगे तब, आपके शब्द से, स्पर्श से सम्पर्क में आने वाले जीवों को आनन्द ही आनन्द अनुभव में आने लगेगा । जब आपके चारों ओर रहने वाले व्यक्ति, पशु, पक्षी निर्भय तथा प्रेम में विभोर हो जावे, तभी आपके द्वारा ईश्वर भक्ति हुई जानना ।

प्रेम कूआँ है । जितना निकालो, बहाओ उतना फिर ताजा हो भर जाता है, नये-नये श्रोत फूट पड़ते हैं । प्रेम बाँटने से बढ़ता है अतः कृपणता न करें, जो बोयेंगे, बाँटेंगे, वही काटेंगे, पायेंगे, वही मिलेगा ।

सर्वत: पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वत: श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।

– गीता : १३/१३

सबको भोजन देना ही ईश्वर को खिलाना है । ईश्वर अपने लिये थाली लगवाकर मेज, चौकी पर बैठ अलग से भोजन नहीं करता । आप जो दूसरों को खिलाते हैं वही ईश्वर को भोग लगाना है । आप जो किसी प्राणी को पानी पिलाते हैं, प्रेम से मधुर वचन कहते हैं तो उनके हृदय में विराजमान हुआ ईश्वर वहीं से खाता है । इस प्रकार की सेवा, व्यवहार, वचन तथा भावना से ईश्वर रोज आपके यहाँ से भोजन, प्रार्थना, भक्ति सेवा, पूजा ग्रहण करता है ।

यज्ञाशिष्टशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।।

– गीता : ३/१३

जो दूसरों को तृप्त करके बचे हुए अन्न को अपने क्षुधा निवृत्ति हेतु ग्रहण करते हैं वह अमृत को पान करने वाला सब पापों से मुक्त हो जाता है । किन्तु जो अपने लिये कमाता है और अपने लिये पकाकर खा लेता है वह पाप को ही प्राप्त होता है । अर्थात् दुःख को ही प्राप्त होता है ।

यज्ञ का अर्थ दूसरों का उपकार करना है । अतः किसी की हिंसा, निन्दा तथा दोषों की बात मत करो । किसी के प्रति दुर्भाव मत करो । किसी के अहित की बात मत सोचो । यही यज्ञ है, यही ईश्वर की पूजा है । अपना कम से कम में निर्वाह कर लेना तपस्या है । दूसरों का अधिक से अधिक भला करना यज्ञ एवं सगुण साकार परमात्मा की भक्ति है ।

ईश्वर की भक्ति, भोग सोने की थाली में नाना मिष्ठान्न सजाकर जड़-मूर्ति के सम्मुख रखने से नहीं होता । उनके सम्मुख हाथ जोड़ने से प्रार्थना पूजा नहीं होती । अक्षत, पुष्प चढ़ाने एवं आरती उतारने से पूजा, अर्चना नहीं होती । बस तन, मन, वचन से सबका भला कीजिये, सबसे प्रेम कीजिये, यही ईश्वर का प्रिय भोग है । **GOD IS LOVE & LOVE IS GOD.**

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुखभाग्भवेत् ।।

हे आत्मन ! जटा, दाढ़ी, मूछ रखने से या घोटम-घोट कराने से, स्त्री परित्याग करने से या आसन बाँधकर अचल बैठ जाने से, गेरूआ कपड़ा पहनने से कोई संन्यासी, योगी, भक्त, ज्ञानी या मुक्त नहीं होता है । बुद्धि की विशेषता ही सर्वोपरि है । जड़वत पत्थर की तरह एक जगह गर्मी-सर्दी में पड़े रहने से कोई काम सिद्ध होने वाला नहीं है ।

हे आत्मन् ! आप किसी को एक रोटी देते हैं या एक गिलास पानी पिलाते हैं, किसी के लिये आश्रय की व्यवस्था करते हैं या किसी के लिये औषध, आँख, वस्त्र, शिक्षा की सहायता प्रदान करते हैं बहुत अच्छी बात है परन्तु एक बात का ध्यान रखिये आप किसी सेवा कार्य के बदले में कुछ फल की आशा तो मन में नहीं कर रहे हैं न ? लेकिन आप तो अपने को तब तक कृत्य-कृत्य सफल ही नहीं मानते जब तक कि आपके द्वारा हुए कर्म से

सम्बन्धित व्यक्ति द्वारा आपको की गई सेवा के बदले धन्यवाद, आभार, शाबासी, बड़ाई देने वाला संयोग प्राप्त नहीं होता । आप कुर्सी, प्रशंसा, धन्यवाद, गले में माला ग्रहण करने, पेपर में अपना नाम, फोटो अथवा सार्वजनिक स्थान पर नाम का पत्थर रखाने की इच्छा से कोई कर्म न करें न फल की आशा करें ।

हे आत्मन् ! प्यासे को पानी, भूखे को रोटी, नंगे को वस्त्र देना ये स्वयं में बहुत अच्छे कार्य हैं । उनको करते समय ही आपको मन में सुखानुभूति होनी चाहिये । उस कर्म के फल से अपने को न सजावे, आनन्दित न माने । अपनी कीर्ति से अपने को सुखी श्रेष्ठ न माने । कर्म करते-करते ही अन्तःसुख की अनुभूति होनी चाहिये । जो सुख माला पहनकर, कीर्ति प्रशंसा सुनकर, पेपर में नाम फोटो देख, धर्मशाला मन्दिर में अपने नाम का पत्थर देख मिलता है वह पराया सुख है; क्योंकि –

''निज सुख बिन मन होय की थीरा''

आत्म सुख बिना किसी का मन शान्त नहीं हो सकता है । स्वर्ग, बैकुण्ठ जाकर जो सुख मिले वह सच्चा सुख नहीं है । सच्चा सुख तो कर्म करते समय ही प्राप्त हो जाता है । फल न मिलने पर भी आपको यह आत्म संतोष रहे कि हमने कर्म तो अच्छा ही किया है । कर्म करने में मन में ग्लानि न हो, दिल मलिन न हो, पश्चाताप न हो, कर्म करने के पूर्व तथा कर्म करते समय भी अपने में संतोष एवं पूर्णता का बोध बना रहे । यही तो कर्म का सर्वोत्तम फल है ।

हे आत्मन् ! जो फल का आश्रय लिये बिना कर्म करता है वह संन्यासी है । जो स्वयं में आनन्द का अनुभव करता हुआ कर्म करेगा उससे अन्य भी आनन्दता का अनुभव करेंगे, उसका फल भी आनन्द ही होगा । जो अपने कर्म का स्वयं सुख नहीं ले रहा है, अपने ज्ञान की पवित्रता का अनुभव नहीं

कर रहा है तब वह चाहे गेरूआ कपड़ा धारण करे, चाहे मुंडन करे या बाबा वेश धारण करे, चाहे जगत् के जीवों को मनमोहक प्रवचन करे, किन्तु वह संन्यासी नहीं है । यदि आपकी दृष्टि अब कर्म के प्रति न होकर फल के प्रति हो गई है तो कर्म निष्प्राण हो जावेगा । फलासक्ति कर्म में तन्मयता नहीं लाने देगी । वह कर्म में दृष्टि नहीं करेगा, बल्कि उससे मिलने वाले फल पर उसकी पैनी दृष्टि रहेगी । यदि आप अच्छा कार्य कर रहे हैं तो अच्छा कार्य स्वयं में एक फल है । अच्छा काम सत है, चित है एवं आनन्द है, अर्थात् अच्छा काम करना सच्चिदानन्द ब्रह्म है ।

''ददामि बृद्धियोगं तं येन मामुपयान्तिते'' भगवान कहते हैं मैं बुद्धि योग देता हूँ तो इन वचनों से यह सिद्ध होता है कि भगवान बुद्धि योग से मिल जाते हैं और भगवान कर्म, सेवा, भक्ति से प्रसन्न होकर बुद्धि योग देते हैं । संसार में भारतीय हिन्दु संस्कृति में जो स्थान बुद्धि को दिया है उतना किसी मजहब में बुद्धि का इतना आदर नहीं किया गया है । अन्य सभी धर्म चाहे वे मुस्लिम हो या क्रिश्चियन, जैन हो या बौद्ध या सिक्ख सब हो वे विश्वास की प्रधानता से चलते हैं ।

हे आत्मन् ! जो मजहब किसी एक व्यक्ति विशेष के द्वारा चलाया जाता है वह व्यक्ति के प्रति विश्वास करने के लिये बाध्य करता है किन्तु सनातन वैदिक धर्म एक व्यक्ति के प्रति विश्वास करने को बाध्य नहीं करता । वह सच्चे ज्ञान के प्रति विश्वास करने के लिये प्रेरित करता है । किसी भी वेद, उपनिषद्, श्रौत सूत्र, कल्प सूत्र, धर्म सूत्र, स्मृति, तन्त्र, मन्त्र, पुराणों में ''हिन्दु'' शब्द का प्रयोग, कहीं भी नहीं हुआ है । हमारा धर्म किसी एक देश, जाति, व्यक्ति, राष्ट्र का नहीं बल्कि मनुष्य मात्र के लिये है । समस्त पृथ्वी का धर्म है ''पृथ्वी मेरी माता'' ऐसा कहा भी जाता है ।

हे आत्मन् ! दूसरे किसी मजहब में ऐसा नहीं माना है कि परमात्मा केवल जानने मात्र से मिल जावेगा । ''ज्ञात्वा मां शान्ति मृच्छति'' मजहबी

लोग अपने पीछे चलने को, अपने पास आने वाले को, अपनी बात मानने पर शान्ति दिलाने का भरोसा दिलाते हैं किन्तु कृष्ण दूसरी ही बात कहते हैं कि मुझ (आत्मा) को जानलो, तुम्हें शान्ति मिल जावेगी ।

ईश्वर ने अपने रहने के लिये कोई मकान नहीं बनाया । जितने भी अन्तःकरण हैं सब ईश्वर के मकान हैं । जितने भी कण हैं वे ईश्वर के आवास हैं । जितने भी क्षण हैं उनमें ईश्वर ही चमचमा रहा है, चहचहा रहा है । प्रत्येक क्षण ईश्वर का प्रकाश है, प्रत्येक कण ईश्वर का आविर्भाव है । प्रत्येक मन ईश्वर का निवास स्थान है । सबमें ऐसी परमात्मा भावना ही ईश्वर की सच्ची पूजा, भक्ति एवं दर्शन है ।

हे आत्मन् ! यदि आप सच्चे वेदान्ती भक्त बनना चाहते हैं तो दीन, दुखी, शोकाकुलों को सांत्वना दे उनमें परमात्मा का दर्शन करते हुए उनसे निष्कपट व्यवहार, सेवा एवं प्रेम करें । बीमारों एवं गरीबों की सेवा-सुश्रुषा करने के लिये प्रयास करो एवं अन्य लोगों में भी भावना जगाओ यही सच्चा भक्ति प्रचार है । मानवता की सेवा किये बिना कोई सर्वान्तर्यामी, घट-घट व्यापी परमात्मा को प्रसन्न नहीं कर सकता है । किसी रोगी के पैर दबाओ, सेवा करो तो समझो मेरे प्रभु के विराट् सगुण परमात्मा के पैर दबा रहा हूँ । पशुओं को भी कठोर शब्दों से न ललकारो उन्हें भी प्रेम करो । अपने पड़ोसी से प्रेम करो, सेवा करो । अपने लिये जो अधिक पसन्द हो उसे दूसरों को आनन्द और स्वेच्छा से दो । जो बोयेंगे, वही तो काट सकेंगे ।

सबके प्रति दयालु रहो, किसी की भावना को चोंट मत पहुँचाओ; क्योंकि आपके प्रभु सभी के मन-मन्दिर में निवास करते हैं । जहाँ-जहाँ, जब-जब, जो-जो आप कार्य किसी के साथ करते हैं आपकी जहाँ दृष्टि पड़ती है उसी में छुप वहाँ से आपकी आँख में आँख डाल परमात्मा निहारता रहता है । तभी तो कहा -

राम झरोखे बैठकर सबका मुजरा लेय ।
जैसी जाकी चाकरी वैसी ही फल देय ।।

संन्यास ले एकान्त जंगल गुफा में बैठ ध्यान करने की अपेक्षा घर गृहस्थ एवं भीड़ के बीच रहकर सबमें एक परमात्मा को देखना ही एकान्त साधना करना सर्वोत्तम भक्ति है । ज्ञानी ही आदर्श कर्मयोगी होता है । वही सच्चा निष्काम कर्म कर सकता है । कर्म चाहे कितना ही सुन्दर हो, किन्तु बिना ज्ञान संसार बन्धन का ही कारण होगा मोक्ष का नहीं ।

भक्तेस्तुया पराकाष्ठा सैव ज्ञानं प्रकीर्तितम् ।

– देवी भावगत पुराण : ७/३७/२८

हे आत्मन् ! भक्ति का चरम फल ज्ञान है । सकाम कर्म जीव को बन्धन में डाल जन्म–मरण चक्र में फसाने वाला है एवं अधोगति दिलाने वाला है । अतः निष्काम कर्म ही करें । निष्काम कर्म करने वाले का मन निर्मल होता है जो परमात्मा की यथार्थ भक्ति करने का अधिकारी बनता है । यथार्थ भक्ति करने वाला ही ज्ञान को प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त करता है ।

निर्मल मन जन सो मोहि पावा ।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा ।।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।।

– गीता : १०/९

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।

– गीता : १०/१०

निरन्तर प्राणी मात्र में भगवत् बुद्धि करने वाला एवं जीव सेवा में ही अपने तन, मन, धन को लगाने वाला निरन्तर सन्तुष्ट रहने वाला भक्त परमात्म

भाव में ही रमण करता है । उस निरन्तर परमात्मा परायण भक्त को जो सब जीवों में मेरा वास जान सबसे प्रीति पूर्वक व्यवहार करता है उस भक्त को किसी सद्गुरु रूप से मैं तत्त्वज्ञान रूप योग देता हूँ, जिससे वह परमधाम को प्राप्त होता है । जहाँ जाकर उसे पुनर्जन्म नहीं होता है ।

है आत्मन् ! धर्मशाला बनाना, कुआँ खुद्वाना, पक्षी को अन्न देना, पशुओं को घांस, चींटी को आटा, कुत्ते को रोटी, भूखे को भोजन, नग्न को वस्त्र, रोगी को औषध देना यह सब कर्म अपने में अच्छे हैं, लोक कल्याण के लिये उपयोगी है किन्तु जब तक आप आत्मज्ञान प्राप्त नहीं करेंगे तब तक कल्याण नहीं है । आत्मा को जाने बिना कोई बाह्य क्रियाओं को करने से धार्मिक नहीं बन सकता । राम नाम की चादर ओढ़ने, तिलक, माला, चोटी, जनेउ, गैरिक वस्त्र, दाढ़ी, मूंछ धारण से धार्मिकता का कोई सम्बन्ध नहीं है ।

◆ ◆ ◆

प्रार्थना कैसी हो ?

तज्जपत्तदर्थ भावनम्

उपासना के दो भेद माने जाते हैं । एक प्रार्थना और दूसरा ध्यान । प्रार्थना में भी दो भेद हैं । एक स्तुति तथा दूसरी याचना । ईश्वर के गुण-गान करना स्तुति है और ईश्वर को साक्षात् पतित पावन, दीनबन्धु, भक्तवत्सल, करूणासागर, बिनहेतुसनेही आदि उपाधि वाला जान उससे अपने योग-क्षेम वहन के लिये याचना करना प्रार्थना कहलाता है ।

लोग प्राय: ईश्वर प्रार्थना का गलत अर्थ समझते हुए उसका दुरूपयोग ही करते हैं । बहुत से लोग समझते हैं कि जैसे मंत्री एवं राज कर्मचारियों को रिश्वत दे देने से हमारे बहुत से विफल कार्य सफल हो जाते हैं एवं हम अपनी मनमानी करा लेते हैं । ईश्वर प्रार्थना द्वारा भी इसी प्रकार लाभ हो जाता होगा, ऐसा अंध विश्वास रखते हैं । मूढ़ लोग मनमाने ढंग से अनेकों स्वार्थ एवं द्वेष

से भरे हुए पण्डितों द्वारा अन्य के अनिष्ट एवं अपने इष्ट प्राप्ति के लिये कर्म अनुष्ठान किया करते हैं ।

जैसे हे प्रभो ! मुझे लाटरी खुल जावे, व्यापार में लाभ हो जावे, मुकदमा जीत जाऊँ, परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाऊँ, रोग कट जावे, मेरे शत्रु का बेटा मर जावे, शत्रु के घर में आग लग जावें, उसका बेटा, पत्नी या पति मर जावे, उसके घर में चोरी हो जावे, उसका धन्दा बन्द हो जावे आदि । तो मैं आपके यहाँ हजार रुपये की भेंट चढ़ाऊँगा । रोज १०८ बार गायत्री जाप करूँगा । इस प्रकार करना परमात्मा एवं प्रार्थना का तात्पर्य ठीक न समझने के कारण ही हैं । ईश्वर को न हमारे धन की आवश्यकता न हमारे प्रार्थना, पूजा, स्तुति की । वह हमारा न पुण्य लेता है न पाप, न वह क्षमा करता है न आशीर्वाद देता है ।

प्रार्थना का विशेष सम्बन्ध हमारे मन से है एवं मन का प्रभाव हमारे शरीर पर पड़ता है । मस्तिष्क में प्रथम विचार उठता है और यह विचार ज्ञान तन्तुओं के द्वारा हमारे शरीर के अवयवों को कार्य करने के लिए प्रेरणा करता है । भिन्न-भिन्न विचार हमारे मस्तिष्क पर अलग-अलग प्रभाव डालते हैं । जैसे मन में किसी सुन्दर युवती या युवक के प्रति काम विचार जागृत हुए हैं तो वह विचार हमारे अवयवों में कामोत्तेजना करने लगेंगे । वीर रस की कथाऐं श्रवण की जाए तो श्रोता की बाहुओं में कम्पन् हो उठेगा । इसी प्रकार जब हम ईश्वर की स्तुति या गुणगान करते हैं तो उसी प्रकार के संस्कारों का प्रभाव हमारे मस्तिष्क, रक्त तथा तन पर पड़ने लगता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ।

प्रार्थनाएँ हमारे मस्तिष्क के विचारों में परिवर्तन करने के लिए है । प्रार्थना लोक रंजन, व्यर्थ चिल्लाने, लोगों को सुनाने या अपने को भक्त कहलाने के लिये नहीं है । अतः प्रार्थना ऐसी हो जिनका हम ठीक से अर्थ समझते हो, जो हमारे मस्तिष्क में ठीक प्रभाव पैदा करने वाली हो एवं जो ईश्वर के

वास्तविक प्रभाव को प्रकट करने के लिए हो । प्राय: भक्त, भगवान में एक साधारण मनुष्य सम्बन्धी गुणों का आरोपण करते हुए प्रातः जोर से चिल्लाते हैं, ''उठो नन्दलाल भोर भयी'' कोई मूर्ति के सम्मुख भोग रख कहते हैं ''लाला माखन मिश्री खाओ'' 'तो कोई माखन चोर, 'चित्त चोर', 'चोर जार शिरोमणि' आदि कहकर पुकारते हैं । अब आप विचारें कि इस प्रकार की प्रार्थनाएँ करने से आपके मस्तिष्क पर कैसा प्रभाव पड़ेगा ? क्योंकि हम व्यवहारिक जीवन में चोर, जार आदि शब्दों का अर्थ जानते हैं । यदि उच्चारण किये गये शब्दों का हम अर्थ ही नहीं जानते हैं तो फिर हमारी प्रार्थना ही व्यर्थ हो गई । इस प्रकार की दूषित प्रार्थनाओं का दूषित प्रभाव ही हमारे मस्तिष्क पर पड़ता है । यदि हम कोई भी कर्म बिना विचारे कर रहे हैं तो वह व्यर्थ ही है । इसके लिए सन्त कहते हैं कि :-

बिन विचारे जो करे, सो पाछे पछताय ।
काज बिगाड़े आपनो, जग में होत हंसाय ।।

लोग भक्ति के नाम पर ईश्वर को अपना जैसा बनाना चाहते हैं, ईश्वर जैसा बनना नहीं चाहते । यदि अफ्रिका का निग्रो ईश्वर का ध्यान करेगा तो उसे अपने ही अनुरूप ईश्वर की नाक चपटी रंग काला ही नजर आयेगा । यदि पशु, पक्षी प्रार्थना करते होंगे तो वे अपने जाति के सर्वश्रेष्ठ रूप, आकृति को ही परमात्मा के ध्यान में ला सकेंगे । यदि वे मूर्ति, चित्र बनाने में समर्थ हो जावे तो ईश्वर मूर्ति को भी वे अपने जाति जैसा ही बनावेंगे ।

बिहार एवं वृन्दावन में सखी सम्प्रदाय का बहुत प्रचार है । वे मानते हैं कि राम-कृष्ण को सीता-राधा ज्यादा प्रिय थी इसलिए जो भक्त राम, कृष्ण की भक्ति कर उन्हें प्रसन्न करना चाहते हैं, तो वे पुरुष होकर भी स्त्री वेश धारण कर स्त्री की तरह उठते, बैठते, बातें करते, हाथों में चूड़ी, मांग में सिन्दूर, चोली-ब्लाऊज, पेटी-कोट, साड़ी पहन राम, कृष्ण, मूर्ति के सम्मुख हाव-

भाव करते हैं, जैसा स्त्री, पुरुष के सम्मुख करती है । इस भाव के अनुयायी अपने को सखी सम्प्रदायी मानते हैं । ऐसी प्रार्थनाओं का एक ही सुन्दर फल होगा कि वे अगले जन्म में स्त्री शरीर धारण कर बच्चे पैदा करने लगेंगे । भक्तों का अपनी कल्पनाओं के पीछे दौड़ते रहना, भक्ति का वास्तविक अर्थ न जानने के कारण ही है । भक्ति शब्द संस्कृत के ''भज सेवायाय्'' धातु से बना है । यदि हम ईश्वर के सच्चे सेवक हैं तो उसकी आज्ञा में चले न कि हम ईश्वर को अपनी मनमानी शर्तों को पूरा करने के लिये मजबूर करें । मूर्खों की इस प्रकार की प्रार्थनाओं द्वारा ईश्वर अपनी सृष्टि के नियमों को बदलने वाला नहीं । यदि वह आपके ही इच्छा की पूर्ति अन्य जीवों के हित का ख्याल किये बिना करता जावें तब वह समदर्शी, न्यायी ईश्वर भी नहीं कहा जा सकेगा । इस भक्ति के नाम पर पन्डे पुजारी, साधु, गुरु लोग 'ईश्वर तुम्हारी इच्छा पूर्ति करे', इस प्रकार का प्रलोभन दिलाकर झूठे, मंत्र, प्रार्थना, साधन आदि बताकर भोले लोगों का तन, मन, धन, शोषण कर अपना स्वार्थ सिद्ध किया करते हैं ।

प्रार्थना ऐसी हो जिससे हमारे जीवन में ईश्वर के स्वभाव, गुण, दया, प्रेम, समता, क्षमा, सन्तोष, परोपकार, प्रसन्नता, ब्रह्मचर्यादि दैवी, सम्पदा की वृद्धि हो एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा, ईर्षा, मद, मात्सर्य, असन्तोष, निन्दा, द्वेषादि, असुर सम्पदाओं का नाश हो । तात्पर्य यह कि जो कुछ प्रार्थना करें उसके अर्थ पर विचार करें । जिससे चित्त एकाग्र हो, अन्तःकरण की शुद्धि एवं शान्ति की प्राप्ति हो ।

यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो ज्ञात होगा कि वर्तमान में लोभी भक्तों ने संसार में जितनी नास्तिकता फैलाई है उसका शतांश भी वैज्ञानिकों एवं कॉलेज के नवयुवकों द्वारा नहीं फैलाई गई है । ये आस्तिकता की ओट में ईश्वर के नाम पर अनेक प्रकार के अत्याचार निर्भयता से करते रहते हैं । ईश्वर के नाम पर नाच, गान, खान, पान, नशा, नृत्यादि

वैश्याओं की तरह करते रहते हैं । मूर्खों ने ईश्वर के नाम पर दासी प्रथा, बाल हत्या, पशु हत्या, बाल विधवा, सती प्रथा जैसी अनेकों कुप्रथाओं को जन्म दे रखा है ।

अपने हाथों से गढ़ी कल्पित जड़ पाषाण मूर्ति को बचाने, पुजवाने, मनवाने के लिये दुष्टों ने परमात्मा के द्वारा बनाई चेतन मूर्ति पशु व नर को बलि के नाम जीवित ही काट दिया, जला दिया एवं जिस शक्ति द्वारा संसार का संचालन हो रहा है उस आत्म शक्ति का सर्वथा भुला दिया । इसका परिणाम यह हुआ कि आज का शिक्षित वर्ग इन अन्ध विश्वासी लोगों की भक्ति देख हंसता है एवं ईश्वर के सच्चे भक्तों के प्रति भी तिरस्कार भाव रखने लगा है ।

दूसरों के हित का खयाल रखते हुए अपने सुख, शान्ति हेतु पुरुषार्थ करते रहना ही ईश्वर की सच्ची पूजा प्रार्थना है । बिना कड़ी मेहनत किए केवल मंत्रों, प्रार्थनाओं द्वारा आकाश मार्ग से कुछ प्राप्त होने वाला नहीं है । कर्म ही पूजा है ।

अग्नि र्देवो द्विजातीनां मुनीनां हृदि देवताम् ।
प्रतिमा स्पल्प बुद्धीनां सर्वत्र समदर्शिनाम् ।।

– उत्तर गीता : ३/७

ब्राह्मणों का देवता अग्नि है जो सदा यज्ञ होम करते रहते हैं । मुनि लोग हृदय स्थित परमात्मा का ध्यान करते रहते हैं । अल्पबुद्धि मानव के लिये काष्ट, पाषाण, धातु, मिट्टी, कागजादि की प्रतिमा ही देवता है वे उसे ही जीवित मानव की तरह, उठाना, नहलाना, वस्त्र पहनाना, भोजन करना तथा शयनादि क्रिया करते रहते हैं । किन्तु तत्त्वज्ञानियों का परमात्मा सर्व रूपों में सर्वत्र विद्यमान रहता है ।

उत्तमों ब्रह्म सद भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः ।
स्तुति जपोऽधमो भावो वहिः पूजा धमाधमा ।।

– महानिर्वाण तन्त्र १४/१२२

ब्रह्म प्राप्ति के लिये ब्रह्मज्ञान ही उत्तम साधन है । ध्यानाभ्यास मध्यम है । स्तुति एवं मन्त्र जाप अधम तथा बाह्य प्रतिमा पूजा तो अधम से अधम मूर्खों का साधन है ।

कर्म कहाँ उपयोगी ?

कर्म के कर्ता को कर्म द्वारा पाँच प्रकार से उपयोग होता है । (१) पदार्थ की उत्पत्ति (२) नाश, (३) प्राप्ति, (४) विकार तथा (५) संस्कार ।

(१) उत्पत्ति :– जैसे कर्म से कुम्हार मिट्टी द्वारा नाना प्रकार के उपयोगी बर्तन बना लेता है यह कर्म का उत्पत्ति रूप उपयोग कुम्हार को है । इसी प्रकार मुमुक्षु को मोक्षार्थ उत्पत्ति रूप कर्म का उपयोग नहीं है; क्योंकि अनर्थ की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति को ही मोक्ष कहते हैं ।

अनर्थ की निवृत्ति आत्मा में नित्य सिद्ध ही है अर्थात् आत्मा में अनर्थ की निवृत्ति सदैव विद्यमान ही है । जैसे रस्सी में व्यावहारिक सत्ता वाले सर्प का अत्यन्ताभाव ही रहता है उसी प्रकार परमार्थ सत्ता वाले आत्मा में कार्य सहित अज्ञान रूप अनर्थ का अत्यन्ताभाव नित्य सिद्ध है । इस प्रकार स्वभाव सिद्ध मोक्ष हेतु मोक्षार्थी को उत्पत्ति रूप कर्म करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि जो वस्तु प्रथम से नहीं होती है उसी की कर्म द्वारा उत्पत्ति होती है, किन्तु सिद्ध वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है । आत्मा में मोक्ष सर्वदा अग्नि उष्णवत् सिद्ध ही है इस वास्ते मोक्ष की उत्पत्ति कहना नहीं बनता ।

मोक्ष की उत्पत्ति में वेदान्त श्रवण, मनन आदि भी साधन नहीं है ।

आत्मा नित्य मुक्त है किंचित् भी कर्तव्य नहीं है, बस यह बात जानने हेतु ही श्रवण की उपयोगिता है । वेदान्त श्रवण करने के बाद भी जिसको कर्तव्यता की प्रतीति होती है उसने फिर तत्त्व अभी समझा ही नहीं । इस कारण से ही नित्य निवृत्त रूप जो अनर्थ है उसकी ही निवृति तथा नित्य प्राप्त आनन्द रूप आत्मा की प्राप्ति ही वेदान्त श्रवण का फल है । इस वास्ते मोक्ष की उत्पत्ति में मुमुक्षु को कर्म के उत्पत्ति रूप फल की जरूरत नहीं है ।

(२) नाश :- जैसे लकड़ी, पत्थर के मारने रूप कर्म से उत्पन्न घड़े का नाश करने में उपयोग है उसी प्रकार मुमुक्षु को कर्म के द्वारा अन्य किसी का नाश करने की इच्छा तो होती नहीं है केवल बन्धन का ही नाश करने में उपयोग हो सकता है; किन्तु आत्मा में बन्धन है ही नहीं । मरुस्थल के जल की तरह मिथ्या ही प्रतीत होता है और उस मिथ्या बन्ध की निवृत्ति कर्म के द्वारा तो हो नहीं सकती; किन्तु आत्मा के यथार्थ ज्ञान से ही होती है । यदि अज्ञान का नाश करना है तो वह केवल ज्ञान से ही होगा अन्य अनेक साधनों से नहीं । इस वास्ते मुमुक्षु को नाश रूप कर्म की भी आवश्यकता नहीं है । उसके लिये तो मात्र ''ज्ञान का पंथ कृपाण के धारा, परत खगेश लगे नहिं वारा ।''

(३) प्राप्ति :- जैसे चलते-चलते गमन रूप क्रिया के द्वारा स्थान, ग्राम की प्राप्ति हो जाती है यह कर्म का प्राप्ति रूप उपयोग है । मुमुक्षु को प्राप्ति रूप कर्म की उपयोगिता भी नहीं है; क्योंकि पूर्व से अप्राप्त तत्त्व की ही प्राप्ति सम्भव होती है । फिर जो वस्तु पहले नहीं अब मिलेगी तो वह वस्तु भी अनित्य ही होगी । आत्मा नित्य प्राप्त है तथा उसका मोक्ष अग्नि उष्णवत् नित्य प्राप्त स्वरूप ही है । जैसे अग्नि से उष्णता भिन्न नहीं उसी प्रकार आत्मा से मुक्ति भिन्न नहीं है, किन्तु मोक्ष तो आत्मा का स्वभाव ही है । इस प्रकार आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति कहना नहीं बनता, बल्कि

आत्मा में बन्ध है ही नहीं । इस वास्ते मोक्ष की प्राप्ति रूप कर्म का उपयोग मुमुक्षु को सम्भव नहीं है ।

(४) विकार :- जैसे भोजन बनाने रूप कर्म से अन्न का अन्यथा विकार रूप उपयोग भोजन बनाने वाले को होता है । पदार्थ के प्रथम रूप को छोड़कर अन्य रूप की प्राप्ति को विकार कहते हैं । उसे विक्रिया तथा परिणाम भी कहते हैं । आत्मा में अन्य कोई विकार तो हो नहीं सकता अर्थात् उसका अन्य रूपान्तर तो हो नहीं सकता । यदि आत्मा में प्रथम बन्धन माने और फिर मोक्ष दशा में चतुर्भुज, लक्ष्मी, विष्णु, अम्बा आदि विलक्षण रूप की प्राप्ति स्वीकार करे तब तो अन्य रूप की प्राप्ति रूप विकार मुमुक्षु को सम्भव हो सकता था; किन्तु आत्मा तो कूटस्थ, निर्विकार, निर्गुण, निराकार, निरवयव एकरस है । अस्तु आत्मा में अन्यथा रूप विकार कर्म की भी आवश्यकता नहीं है ।

(५) संस्कार :- जैसे वस्त्र को धोने रूप क्रिया के द्वारा कपड़े से मल की निवृत्ति तथा शुद्धता गुण की प्राप्ति रूप संस्कार होता है इस प्रकार संस्कार रूप कर्म मुमुक्षु मोक्षार्थ आवश्यकता नहीं है । मुमुक्षु को अन्य किसी प्रकार के मल की निवृत्ति तो करना नहीं । आत्मा के मल निवृत्ति की चाह अवश्य हो सकती है; किन्तु आत्मा तो नित्य शुद्ध है उसमें मल ही नहीं है तब निवृत्ति की इच्छा भी नहीं हो सकती । इस वास्ते मल की निवृत्ति संस्कार रूप कर्म का उपयोग मुमुक्षु को नहीं है ।

यदि कहें कि अन्त:करण की शुद्धि हेतु तो कर्म का उपयोग है । हाँ अशुद्ध मन हेतु तो अवश्य उपयोग है; किन्तु यहाँ मुमुक्षु का प्रसंग चल रहा है । जिसने प्रथम ही मल-विक्षेप दोषों की निवृत्ति कर्म-उपासना द्वारा करली है और अब केवल एक अज्ञान दोष ही जिसके अन्तःकरण में शेष रहा है । अतः उस शुद्ध अन्त:करण वाले मुमुक्षु को कर्म का संस्कार रूप उपयोग भी असिद्ध है ।

यदि कहें कि अज्ञान को निवृत्त करने हेतु कर्म की जरूरत है तो यह भी कहना भूल होगा, क्योंकि अज्ञान निवृत्ति एक मात्र ज्ञान द्वारा होती है, करोड़ों अन्य साधनों से नहीं होती । जैसे कपड़े में कुसुम्बा रंग करने में रंगने रूप क्रिया से कपड़े में रक्त रंग की उत्पत्ति होने से संस्कार रूप कर्म का उपयोग होता है । उसी प्रकार आत्मा को शुद्ध करने की जरूरत भले न हो किन्तु उसमें गुण उत्पन्न करने हेतु तो कर्म का उपयोग किया जाना चाहिये । यदि कोई भेदवादी ऐसा विचार दे तो यहाँ ऐसा भी नहीं । आत्मा में संस्कार उत्पत्ति हेतु भी मुमुक्षु को कर्म के संस्कार रूप उपयोग की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि आत्मा तो निर्गुण है उसमें गुण की उत्पत्ति सम्भव नहीं है । इस वास्ते मुमुक्षु को आत्मा में गुण उत्पत्ति रूप संस्कार के लिये भी कर्म का उपयोग किसी प्रकार सम्भव नहीं है । कर्म का कुल पाँच प्रकार का ही उपयोग होता है इससे भिन्न नहीं । मुमुक्षु को अपने मोक्षार्थ इन पाँचों प्रकार के कर्म में से किसी एक प्रकार के भी कर्म का उपयोग नहीं है । इसलिये मुमुक्षु कर्म को छोड़ ज्ञान के श्रवण, मनन आदि साधनों में ही प्रवृत्त होता है ।

उपासना भी मानसिक कर्म होने से उसका फल भी नाशवान है अतः उससे भी नित्य मोक्ष सम्भव नहीं है । फिर कोई परलोक गमन के अभिलाषी पुरुष कर्म करना चाहे तो भले करे पर मैं सम्पूर्ण लोकों का अधिष्ठान किस लोक एवं भोग की कामना को लेकर कर्म करूँ ? अर्थात् परलोक गमन हेतु भी मुझे कर्म की कर्तव्यता किंचित् भी नहीं है ।

यदि कहें कि अपने लिये भले कर्तव्य रूप नहीं है किन्तु लोक कल्याण हेतु ही कर्म करे । तो यह कहना भी उचित नहीं । क्योंकि जिसकी दृष्टि में अपने से पृथक् सत्य रूप से लोक भास रहा हो एवं जिसे स्वयं मुक्त तथा अन्य जीव बन्धन रूप प्रतीत होते हैं; वही लोक कल्याण की वासना से भले कर्म करे । चाहे कोई शास्त्रों की व्याख्या प्रवचनादि करे; किन्तु मेरा इसमें अधिकार

नहीं है । मैं तो अपने से भिन्न अन्य व्यक्ति लोक सत्ता को मानता ही नहीं । स्वप्न में जैसे स्वप्न दृष्टा का मनोराज्य मात्र है जागने पर कुछ नहीं उसी प्रकार अज्ञानी के लिये भेद रूप जगत सत्य लगता है किन्तु मुझ अद्वितीय आत्मा से पृथक् कुछ भी प्रतीत नहीं होता है । मैं क्रिया से रहित निष्क्रिय, सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद शून्य एक अखंड़, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्म सत्ता मात्र हूँ । मैं किस अभाव की पूर्ति हेतु इन भेदमूलक, विक्षेपदायक, दु:खरूप अनित्य कर्मों को करूँ ?

''कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हे''

– रामायण

अन्तवन्त क्षत्रिय ते जयन्ति लोकाञ्जनाः कर्मणा निर्मितेन ।
ज्ञानेन वद्वांस्तेज अभ्येति नित्यं न विद्यते ह्यन्यथा तस्य पन्थाः ।।

– उद्योग पर्व, महाभारत : ३/१८

हे क्षत्रिय ! कर्म परायण लोग तो अपने किये हुए यज्ञादि कर्म द्वारा नाशवान लोकों को ही प्राप्त होते हैं किन्तु ज्ञान के द्वारा विद्वान आत्मज्ञानी महापुरुष नित्य प्रकाश स्वरूप ब्रह्म मोक्ष को प्राप्त होता है । उसके अतिरिक्त मोक्ष पाने का अन्य मार्ग नहीं है ।

''ज्ञानादेवं तू कैवल्यम्''
''ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः''

क्रम समुच्चय

(१) कर्म तथा ज्ञान साथ-साथ होने का नाम सम-समुच्चयवाद अर्थात् ज्ञान के साधन श्रवणादि एवं चित्त शुद्धि के साधन पूजा-पाठ यज्ञ, ध्यानादि का एक ही समय में अनुष्ठान करने को सम-समुच्चय कहते हैं ।

(२) प्रथम अन्तःकरण की शुद्धि एवं आत्मजिज्ञासा होने तक कर्म करते रहना चाहिये । अन्तःकरण शुद्धि के पश्चात आत्मा को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होने के साथ-साथ कर्म का अनादर करके अर्थात् पूर्व की तरह उसी के आधीन न होकर ज्ञान के साधन वेदान्त महावाक्यों का श्रवण, मनन आदि साधन को श्रद्धा भक्ति पूर्वक सम्पादन करने का नाम क्रम समुच्चय है । अतः आत्मजिज्ञासा होने पर सम-समुच्चय का त्याग करे और क्रम समुच्चय का आदर कर ऐसा वेद के आचार्यों का तात्पर्य है ।

कर्म, उपासना के साथ ज्ञान का विरोध है दोनों एक साधक के द्वारा साथ-साथ नहीं हो सकते । आत्मा देह से भिन्न है ऐसा जो नहीं जानता है वह तो परमार्थ सम्बन्धी कर्म करता ही नहीं है; क्योंकि दूसरे जन्म में भोग प्राप्ति की इच्छा से ही कर्म किये जाते हैं । अज्ञानी तो अपने को देह रूप ही मानता है इसलिये वह तो पुनर्जन्म में विश्वास ही नहीं करता है । देह के नाश को ही अपना नाश जानता है इसलिये परमार्थ सम्बन्धी कर्म में उसकी प्रवृति नहीं हो सकती ।

अब कर्म में वे ही प्रवृत्त होते हैं जो अपने को स्थूल देह से भिन्न एवं कर्ता-भोक्ता रूप से जानते हैं कि मैं पुण्य एवं पाप फल रूप कर्मों का कर्ता हूँ और मैं उसका फल भोग करूँगा । ऐसा विपरीत ज्ञान जिसे आत्मा के प्रति होगा वही परमार्थ सम्बधी कर्म करने में प्रवृत्त होगा ।

ज्ञानी पुरुष को आत्मा के सम्बन्ध में ऐसा विपरीत ज्ञान नहीं होता बल्कि पुण्य-पाप, सुख-दुःख और कर्ता-भोक्ता भाव से रहित असंग जन्म-मरण से रहित अविनाशी ब्रह्म रूप मैं आत्मा हूँ इस प्रकार का उसे दृढ़ ज्ञान होता है । यह ज्ञान कर्म का सहायक नहीं बल्कि कर्म का विरोधी है । इसलिये ज्ञानवान् कर्म में प्रवृत नहीं होते हैं; क्योंकि कर्ता, कर्म और फल आत्मा से भिन्न है ऐसी विपरीत बुद्धि ज्ञानी को नहीं होती है । उसे तो कर्ता, कर्म एवं फल एक आत्मा रूप से ही प्रतीत होता है । इस हेतु से ज्ञानी भेद

मूलक कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता । फिर कर्म का फल अनित्य संसार है और ज्ञान का फल नित्य मोक्ष है । कर्ता और कर्म फल भेद ज्ञान का हेतु है और भेद ज्ञान भय का हेतु है । ''द्वितीया द्वै भयं भवति'' ऐसा श्रुति का कथन है तथा ज्ञानी को कर्म की कर्तव्यता का अभाव ही शास्त्रों में दर्शाया है ।

तस्य कार्यं न विद्यते ।

– गीता ३/१७

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृत कृतस्य योगिनः ।
नैवास्ति किंचित् कर्तव्यमस्ति चेत् न स तत्त्ववित् ।।

– जाबाल दर्शनोपनिषद् १/२३

अर्थात् मैं द्रष्टा, साक्षी आत्म ब्रह्म हूँ इस प्रकार का निश्चयवान् कृतकृत्य हो चुका है । अब उसको अपने कल्याण सम्बन्ध में कुछ भी साधन करने की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है । यदि वह आत्म ज्ञान होने के बाद भी अपने कल्याणार्थ कुछ कर्तव्य रूप मानता है तो समझना चाहिये कि अभी उसने अपना साक्षी, द्रष्टा, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, आनन्द आत्म स्वरूप नहीं पहचाना है । अभी वह अपने को देह रूप ही जानता है भले वह वेदान्त ग्रन्थ प्रस्थानत्रय पढ़कर केवल मुँह से ही शिवोऽहम्, सोऽहम् का अहंकार कर रहा है ।

तभितो ऐसे मिथ्या देह, आश्रम, जाति के अभिमानी, अज्ञानी को ही उसके अभिमान निवृत्ति हेतु वेद में कर्म की कर्तव्यता कही है । ज्ञानी को देह में आत्म बुद्धि नहीं होने से वह कर्म में प्रवृत्त नहीं होता । देह से भिन्न कर्ता रूप से आत्मा का भान ही कर्म का हेतु है, किन्तु आत्मा का कर्ता रूप ज्ञान भ्रान्ति रूप है और विद्वान को अज्ञानी की तरह आत्मा में ऐसी भ्रान्ति नहीं होती है । इसलिये ज्ञानी को कर्म करने का कर्तव्य नहीं

है ।

दूसरी बात जब देह में आत्म बुद्धि याने ''मैं देह हूँ'' ऐसी अपरोक्ष बुद्धि हो तब ही देह के धर्म, जाति, आश्रम, अवस्था की प्रतीति आत्मा में होती है, किन्तु ज्ञानी को देह में आत्म बुद्धि नहीं होती है । बल्कि ब्रह्म रूप से आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान ही रहता है अर्थात् ''मैं ब्रह्म हूँ'' ऐसा दृढ़ निश्चय रहता है । ज्ञानी को जाति, आश्रम, अवस्था का अभिमान न होने से कर्म में कर्तव्यता नहीं है ।

तीसरी बात यह है कि उपासना में तो मैं उपासक हूँ देव उपास्य है इस प्रकार की भेद बुद्धि से ही हो सकती है, लेकिन ज्ञानी को ऐसी उपास्य-उपासक भाव की भेद बुद्धि नहीं होती । ज्ञानी पुरुष का तो यह निश्चय होता है कि देहादिक समुदाय तो मेरा तथा ब्रह्म लोक के देवता तक का कल्पित ही है और चेतन अंश तो देव, मनुष्य, कीट, पतंग समस्त में एक समान ही है । इस कारण मोक्षार्थी को ज्ञान के साथ कर्म-उपासना का विरोध है । ज्ञान व कर्म का आपस में विरोध हैं । वे दोनों एक समय में एक साथ नहीं बन सकते, इसलिये कर्म, उपासना एवं ज्ञान का सम-समुच्चय नहीं हो सकता ।

अतः आत्म ज्ञान के साधकों को क्या करना चाहिये उसके लिये भगवान श्रीराम कहते हैं -

तस्मात् त्यजेत कार्यमशेषतः
सुधीर्विद्या-विरोधान्त समुच्चयो भवेत् ।
आत्माऽनुसन्धान परायणः सदा
निवृत्त-सर्वेन्द्रिय-वृत्ति गोचरः ।।

- राम गीता १६

आत्म चिन्तन में लगे हुए बुद्धिमान साधक इन्द्रियों के विषयों से निवृत

होकर सम्पूर्ण कर्मों का त्याग कर दे । आत्मनिष्ठा एवं कर्म, उपासना परस्पर विरोधी धारणा का एक समय एक अन्त:करण में साथ नहीं हो सकता । जन्म-मरण से छूटने का एकमात्र उपाय ज्ञान है । कर्मादि साधन फल प्राप्ति हेतु इस प्रत्यक्ष आत्म ब्रह्म में परोक्ष की भावना पैदा करते हैं या अपने आपके प्रति अब्रह्मत्व की हीन भावना, मिथ्या देव प्रतिमा एवं देव लोक में सत्यत्व बुद्धि, सुख बुद्धि कराते हैं । इस कारण भेद भक्ति के द्वारा जीव दु:खों से पार नहीं हो सकते हैं । इसी बात की पुष्टि सनतकुमार तीसरे अध्याय के १८ श्लोक में करते हैं ।

अन्तवन्त: क्षत्रिय ते जयति लोकाञ्जना: कर्मणा निर्मितेन ।
ज्ञानेन विद्वांस्तेज अभ्येति नित्य न विद्यते ह्वन्यथा तस्य पन्था: ।।

हे क्षत्रिय ! वे अज्ञानी लोग तो अपने किये हुए कर्म के फलस्वरूप नाशवान लोकों को ही प्राप्त होते हैं, किन्तु ज्ञान द्वारा विद्वान नित्य प्रकाश रूप परब्रह्म को ही ''मैं'' रूप से प्राप्त कर लेते हैं । इस आत्म ज्ञान के अलावा मोक्ष का अन्य कोई उपाय नहीं ।

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय ।

– श्वेता. उप. ६/१५

अर्थात् इस आत्म तत्त्व को मैं रूप से जानकर ही जीव मृत्यु के भय से मुक्त हो सकते हैं । मोक्ष पद को पाने के लिये अन्य कोई मार्ग नहीं है । कर्म तो बन्धन का हेतु है, यदि निष्काम कर्म किये तो वे भी चित्त शुद्धि में ही सहायक है । मनु महाराज कहते हैं –

तपसा कल्मषं हन्ति विद्यायमृतमश्नुते ।

साधक तप द्वारा पाप की निवृत्ति करता है और आत्म ज्ञान से मोक्ष पद अमृतत्त्व को प्राप्त करता है । एकबार ब्रह्म ज्ञान से अज्ञान का नाश हो जाने पर फिर जीव-ब्रह्म का भेद सदा के लिये समाप्त हो जाता है ।

फिर भेद जनक उपासना कौन करेगा ? अर्थात् अभेद निश्चय होने के बाद ज्ञानी कर्मकाण्ड में प्रवृत्त नहीं होता है । जो लोग ज्ञान से साक्षी भाव की जागृति आने पर भी यदि वे यज्ञादि कर्मों में आग्रह रख उन्हें करना नहीं छोड़ते हैं तो उनके अन्तःकरण से ज्ञान बीज का अंकुर भेदोपासना रूप कर्म धूल के नीचे दब नष्ट हो जावेगा । श्रीकृष्ण महाराज कहते हैं –

शरीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।

– गीता : ४/२१

अर्थात् केवल शरीर रक्षार्थ ही कर्म करे ऐसा ज्ञानी प्रारब्धानुसार भोग होने पर भी दोष युक्त नहीं होता ।

सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।

– गीता : १२/१६

जो शुभ तथा अशुभ कर्मों का त्याग करने वाला है ऐसा मेरा ज्ञानी भक्त मुझको प्रिय है । व्यास देवजी कहते हैं ।

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्याया च विमुच्यते ।
तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ।।

– गरुड़ पुराण पूर्व खण्ड २४१/११

जीव कर्म से बन्धता है एवं ज्ञान से मुक्त हो जाता है । इसलिये ज्ञानी दूरदर्शी कभी भी भेदमूलक यज्ञादि कर्म या उपासना का अनुष्ठान नहीं करते हैं । वेद भगवान भेदोपासना करने वालों को आत्महत्यारा कहते हैं जो आत्म ज्ञान में प्रवृत्त नहीं होते हैं ।

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रत्याऽभिगच्छन्ति ये के चात्मन्हतो जनाः ।।

जो आत्म विमुख हो नाना देवी–देवताओं के प्रति भेदोपासना करते हैं वे आनन्द से शुन्य घोर अन्धकार युक्त लोक में अर्थात् जहाँ सत्–असत् का

विवेक ही न कर सके ऐसी जड़ता पूर्ण योनि में जाते हैं । वे आत्मघाती हैं, आत्म कल्याण के मार्ग में न लग भोग एवं उपासना मार्ग में लगे हैं । शिव गीता में कहा है –

न कर्मणा मनुष्ठानैर्न दानैस्तपसापिवा ।
कैवल्यं लभते मर्त्यः किन्तु ज्ञानेन केवलम् ।।

– शिव गीता : १.२

यह प्राणी न कर्मों के अनुष्ठानों से, न दान से, न तप से ही कैवल्य को प्राप्त कर सकता है; बल्कि केवल ज्ञान से ही मोक्ष पद को पाता है ।

विश्वं शिवमयं यस्तु पश्यत्यात्मान मात्मना ।
तस्य क्षेत्रेषु तीर्थेषु किं कार्यं वाऽन्य कर्मसु ।।

– शिव गीता : १६/१९

जो ज्ञानी महापुरुष सम्पूर्ण विश्व को शिव स्वरूप (ब्रह्मस्वरूप, आत्मस्वरूप) देखता है और वेदान्त के संस्कारों से युक्त शुद्ध बुद्धि द्वारा शिव स्वरूप आत्मतत्त्व का प्रत्यक्ष अनुभव करता है, फिर उस महापुरुष के लिये तीर्थ भूत क्षेत्रों में अर्थात् कुरूक्षेत्र व पुष्करादि तीर्थों में जाने से क्या प्रयोजन ? तथा यज्ञादि कर्मों के करने का क्या लाभ ? केवल श्रम ही हाथ लगेगा । उस आत्म ज्ञानी के लिये कुछ भी कर्तव्य रूप साधन नहीं है ।

न कर्म तज्जनोपास्तिः विरोधाऽभावतो गिरे ।
प्रत्युताऽऽशाऽज्ञाननाशे कर्मणा नैव भाव्यताम् ।।

– देवी गीता : ४/९

हे पर्वतराज ! यज्ञादि कर्म और सगुण ब्रह्म की भेद–भक्ति अज्ञान को नष्ट नहीं कर सकती; क्योंकि ये स्वयं अज्ञान से ही उत्पन्न हुई है । भला कार्य अपने कारण को कैसे क्षति पहुँचा सकता है ? भेद–भक्ति से तो अज्ञान वृक्ष

को पोषण मिल जाने से वह और घना हो जाता है ।

इस प्रकार अनेक श्रुति, स्मृति, पुराण द्वारा यह सिद्ध होता है कि बहिरंग कर्मों को मुमुक्षु त्याग दे । कर्म आत्म ज्ञान में सहयोगी नहीं बल्कि बाधक ही है ।

छूटे देहाध्यास तो नहीं कर्ता तू कर्म ।
नहीं भोक्ता तू तेहनो ऐज धर्म नो मर्म ।।
अेज धर्म थी मोक्ष छे तू छे मोक्ष स्वरूप ।
अनन्त दर्शन ज्ञानतु अव्याबाध स्वरूप ।।
शुद्ध बुद्ध चैतन्य धन स्वयं ज्योति सुख धाम ।
बीजु कहिये केटलुं कर विचार तो पाम ।।

''कर्म कि होहि स्वरूपहिं चीन्हें'' ?

जिसने आत्म स्वरूप को जान लिया है या जिसे जानने की तीव्र उत्कंठा हो चुकी है उनके द्वारा भेदमूलक कर्म कभी नहीं हो सकते हैं । न तो करना कर्तव्य ही है और न करना ही चाहिये, बल्कि मुमुक्षु के लिये कर्म उपासना का त्याग ही कर्तव्य है ।

तज्ज्ञाज्ञयोरशेषेषु भावा भावेषु कर्मसु ।
ऋते निर्वासनत्वात् तु न विशेषोऽस्ति कश्चन ।।

– योग वा. : ६/२/२२/५३

ज्ञानी तथा अज्ञानी व्यक्ति का कर्म एक ही भाव से सम्पन्न होता है । दोनों के कार्य सम्पादन में कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता है । किन्तु अज्ञानी के कर्म वासना युक्त होने से बन्धन रूप होते है जब कि ज्ञानी के कर्म वासना रहित होने से सर्वदा मुक्त रहता है ।

कूटस्थानीह कर्माणि कोटि जन्मार्जितान्यपि ।
ज्ञानेनैव विनश्यन्ति न तु कर्मायुतैरपि ।।

– शिव गीता : १३/२६

कोटि जन्म के संचित कर्म फल बिना भोगे एक मात्र ज्ञान द्वारा ही ध्वसं हो जाते हैं । सहस्त्रों शुभ कर्मों द्वारा कर्म फल बिना भोगे समाप्त नहीं होता । जैसे रात्रि का अन्धकार सूर्य प्रकाश की किरण से दूर हो जाता है करोड़ों ताराओं द्वारा अन्धकार दूर नहीं होता है ।

तत्कर्म यन्न बन्धाय, सा विद्या या विमुक्तये ।
आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुण्यम् ।।

– विष्णु पुराण : १/१९/४१

वही कर्म प्रकृत कर्म है जो बन्धन का हेतु नहीं होता है तथा वह विद्या प्रकृत विद्या है जो जीव को नम्रता, समता तथा मुक्ति दिलाने वाली है । इसके अतिरिक्त अन्य कर्म दुःख का ही कारण है एवं अन्य विद्या अभिमान एवं जीविका निर्वाह का ही साधन है ।

कर्म से मोक्ष नहीं

मुक्ति की प्राप्ति कर्म अथवा उपासना द्वारा नहीं, वह तो केवल आत्म ज्ञान द्वारा ही सम्भव होती है । "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" आत्म ज्ञान को छोड़ अन्य साधन से मुक्ति नहीं है । "ज्ञानान्मुक्तिर्नचान्यथा" "नान्य: पंथा विमुच्यते" ।

भगवान शंकराचार्य विवेक चुड़ामणि में लिखते हैं –

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया ।
ब्रह्मात्मैकत्व बोधेन मोक्षः सिद्ध्यति नान्यथा ।। ५८ ।।

अर्थात् दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति रूप मोक्ष न अष्टांग योग से, न भेद–भक्ति से, न कर्मों के द्वारा हो सकता है । वह

तो केवल ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्व निश्चय अर्थात् सोऽहम् भावना द्वारा किसी सद्गुरु कृपा से ही हो सकता है । आगे भी लिखते हैं –

वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान् कुर्वन्तु कर्माणि यजन्तु देवता: ।
आत्मैक्य बोधेन बिना विमुक्तिर्न सिद्ध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि ।।६ ।।

अर्थात् भले कोई शास्त्रों की व्याख्या करे, देवताओं का यजन करे, नाना शुभ कर्म करे अथवा देवताओं को भजे, तथापि जब तक ब्रह्म आत्मा की एकता का बोध नहीं होता तब तक सौ ब्रह्माओं के बीत जाने पर भी मुक्ति अन्य किसी प्रकार नहीं हो सकती है ।

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये ।
वस्तु सिद्धिर्विचारेण न किंचित् कर्म कोटिभि: ।।

– विवेक चुड़ामणि : ११

अर्थात् कर्म साधन मात्र चित्त शुद्धि के लिये ही है, किन्तु आत्मोपलब्धी के लिये कर्म उपयोगी नहीं है । आत्म सिद्धि तो आत्म ब्रह्म एकत्व विचार से होती है । अन्य करोड़ों कर्मों आत्म साक्षात्कार नहीं होता वह केवल मोक्षार्थी हेतु श्रम मात्र ही होगा । मुण्डकोपनिषद् कहता है –

परीक्ष्य लोकान् कर्म चितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायात् न अस्ति अकृत: कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थ स गुरु मेवाभिगच्छेत
समित्पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।

– मुण्डकोपनिषद् १/२/१२

अपना कल्याण चाहने वाले को कर्मों द्वारा प्राप्त होने वाले स्वर्गादि लोक तथा भोग को विवेक द्वारा भलीप्रकार जान लेना चाहिये कि ''क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'' ''आब्रह्म भुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन'' पुण्य समाप्ति पर वहाँ से गिरा दिये जावेंगे । फिर वह स्वर्गादि लोक एवं वहाँ का

सुख भी कैसा है ? ''स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुःखदाई'' अल्पकालिक तथा अन्त में दुःख को देने वाला है । अस्तु ऐसे क्षणभंगुर नाशवान कर्म से प्राप्त समस्त लोक भोगादि से मन को खाली कर परम वैराग्यवान् हो किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के निकट हाथ में समिधा लेकर जावे । फिर उस नित्य मोक्ष की अनुभूति हेतु सद्गुरु को भली प्रकार दंडवत् प्रणाम करें एवं निष्कपट सेवा द्वारा प्रसन्न करें । फिर जिज्ञासु भाव से निज कल्याणार्थ प्रार्थना करे ।

असतो मा सद्गमय ! तमसो मा ज्योतिर्गमय !! मृत्योर्माऽमृतंगमय !!! नित्यात्मा अनित्य कर्म साधनों द्वारा सर्वथा अप्राप्य है । कारण आत्मा में बन्ध सत्य रूप से होता तो फिर उसकी निवृत्ति रूप मोक्ष ज्ञान से नहीं अपितु कर्म अथवा उपासना से ही होता । परन्तु आत्मा में बन्ध सत्य नहीं है । जैसे मंद अंधकार में पड़ी रस्सी में सर्प भ्रान्ति हो जाने की तरह आत्म अज्ञान से बन्ध भ्रान्ति हो रही है । भ्रान्ति की निवृत्ति बिना अधिष्ठान ज्ञान के अन्य किसी भी प्रकार के साधन से नहीं हो सकती है । जैसे रस्सी में भ्रम से प्रतीति रूप सर्प केवल रस्सी ज्ञानोदय से ही दूर होता है उसी प्रकार आत्मा के अज्ञान से प्रतीति रूप बन्ध आत्म ज्ञान से ही दूर होगा ।

यदि कर्म का फल मोक्ष होगा तो वह मोक्ष अनित्य होगा । ऐसा नियम है कि जो कर्म का फल होता है वह अनित्य ही होता है । जैसे कर्म का फल अन्न, धन, घर, शरीर, मशीनें इत्यादि समय के बाद नष्ट हो जाते हैं इसलिये अनित्य है । सकाम कर्मों के फलस्वरूप जो स्वर्ग रूप अदृष्ट फल है वह भी अनित्य है । यदि मोक्ष को भी इसी प्रकार कर्म का फल मानेंगे तो मोक्ष भी कर्मों के फल की तरह अनित्य ही होगा, अस्तु कर्म का फल मोक्ष नहीं है ।

इसी प्रकार उपासना का फल भी मोक्ष नहीं है; क्योंकि उपासना भी

एक प्रकार का मानसिक कर्म है उसका फल भी बैकुण्ठादि लोक की तरह नाशवान ही होगा ।

निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत् ।
जिज्ञासायां संप्रवृत्यो नाद्रियेत् कर्मचोदनाम् ।।

– भागवत : ११/१०/४

जो जन आत्म ज्ञान के इच्छुक हैं उनका कर्तव्य है कि उन्हें विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति, मुमुक्षता, श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा 'तत् त्त्वं' पदार्थ शोधन ये ज्ञान के आठ अन्तरंग साधनों को ही अपनावे । मुमुक्षुता जाग्रत होने के बाद बहिरंग साधन अग्निहोत्र, यज्ञादि कर्म एवं सगुणोपासना आदि स्थूल, सूक्ष्म कर्म नहीं करना चाहिये । मुमुक्षु हितार्थ इनका त्याग ही उचित है; क्योंकि इस प्रकार के कार्य भेद बुद्धि के कारण सदा जन्म–मरण रूप संसार में ही जीवों को बाँध कर रखते हैं ।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।।

– गीता : ६/३

कर्म का उपयोग कहाँ तक है इसके लिये ज्ञानेश्वर कृष्ण कहते हैं – मुमुक्षुता जाग्रत होने के लिये सर्व प्रथम कर्म की आवश्यकता है, किन्तु मुमुक्षुता जाग्रत होने पर उसके लिये कर्मों का त्याग ही कर्तव्य है । यदि वह मुमुक्षता जाग्रत होने पर भी पूर्ववत् कर्मों का सेवन करता रहेगा तो उत्पन्न मुमुक्षुता भी नष्ट हो जावेगी ।

सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।।

– गीता : ४/३३

समस्त कर्मों का फल साक्षात् या परम्परा से दृष्ट–अदृष्ट रूप से ज्ञान का अधिकारी बनाने में है एवं ज्ञानाधिकारी हो जाने के बाद कर्म उसी प्रकार व्यर्थ हो जाते हैं जैसे किनारे पर पहुँचते ही नौका व्यर्थ एवं त्याज्य

रूप हो जाती है ।

जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाद्रियेत कर्म चोदनाम् ।।

अर्थात् जिज्ञासा में प्रवृत्त हुआ साधक कर्म-विधि का आदर न करे । भाव यह है कि ज्ञान मार्ग में प्रवेश पाने के बाद अर्थात् वेदान्त श्रवण, मनन के साधन में चल पड़ने के बाद फिर सगुण उपासना एवं यज्ञादि के विधायक उपासना काण्ड सहित कर्मकाण्ड का आदर न करे । यानि फिर लौटकर कर्म आदि में प्रवृत्त होकर आरूढ़-पतित न बने ।

जो लोग हठ करके ज्ञान मार्ग में जाने पर भी भेद उपासना (सगुण भक्ति) में प्रवृत्त रहते हैं उसे छोड़ते नहीं हैं । कर्म, उपासना एवं ज्ञान के पृथक् पृथक् उपयोग को न जानने के कारण ही ऐसा करते रहते हैं । इसी कारण वे दोनों अग्नि एवं जल मिश्रण की तरह बेमेल उपासना का मिलान करते रहते हैं । इसी से उनकी श्रद्धा भक्ति का पता चलता है कि उन्हें स्वयं को अपनी निराकार अथवा साकार किसी भी साधना पद्धति पर पूर्ण विश्वास नहीं है । अन्यथा यह दुविधाजनक शौचनीय अवस्था क्यों होती ? क्या दो नावों पर एक साथ पैर रख नदी पार हो सकते हैं ?

केचिद्वदन्तीति वितर्कवादिनः
तदप्यसद्-दृष्ट-विरोध कारणात् ।
देहाऽभिमानादभिवर्धते क्रिया -
विद्यागताहङ्कृतितः प्रसिद्धयति ।।

- राम गीता : ४

राम लक्ष्मण से कहते हैं - ज्ञान एवं कर्म में जो इस प्रकार मेल करते हैं उन कुतर्की के कथन में प्रत्यक्ष विरोध होने के कारण साथ सम्पादन करने की आशा या दुराग्रह उचित नहीं है । क्योंकि पूजा, अग्निहोत्रादि कर्म, आदि कर्म देहाभिमान से ही सम्पन्न होते हैं । द्वैत बुद्धि बिना भेदोपासना कर्म हो ही नहीं

सकते और ज्ञान तो अहंकार देहाभिमान के नष्ट हो जाने पर सिद्ध होता है । राम गीता में पुनः इसी बात को कहते हैं ।

उदेति कर्माऽखिलं कारकाऽऽदिभि ।
निर्हन्ति विद्याऽखिल कारकाऽऽदिकम् ।।

अर्थात् कोई भी कर्म अथवा उपासना सब कारक आदि की सहायता से याने ''मैं कर्ता हूँ'', ''मैं भोक्ता हूँ'', ''मैंने यह किया'', ''मैं ऐसा करूँगा'', ''यह देवता है'', ''यह यज्ञ सामग्री है'', ''मैं वैसा करूँगा'' आदि भेद भावना के द्वारा ही होता है; जबकि ज्ञान 'सोऽहम्', 'शिवोऽहम्', 'अहंब्रह्मास्मि' अर्थात् वह परमात्मा मैं स्वयं हूँ इस अभेद निश्चय से चलता है । इस कारण कर्म एवं ज्ञान परस्पर विरोधी होने से एकसाथ नहीं हो सकते हैं । जैसे दूध व खटाई एक बर्तन में, एक काल में नहीं रह सकते हैं उसी प्रकार एक काल में एक साधक द्वारा कर्म तथा ज्ञान का अनुष्ठान भी नहीं हो सकता ।

आदौ स्ववर्णाश्रम वर्णिताः क्रियाः
कृत्वासमासादित शुद्ध मानसः ।।
समात्प तत्पूर्वमुपात्त साधनः
समाश्रयेत्सद्गुरु मात्मलब्धयो ।।

– अ.रामा. उ. काण्ड : ५/६

हे लक्ष्मण ! अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कर्म करके अन्तःकरण में ब्रह्म जिज्ञासा उदय होते ही समस्त कर्म, उपासना का त्याग करदे । फिर आत्मसाक्षात्कार हेतु किसी सद्गुरु की शरण में जावे ।

यावन्न पश्येद खिल्वं मदात्मकं,
तावन्मदाराघनतत्परो भवेत ।
श्रद्धालुरत्युर्जित भक्ति लक्षणो,
पस्तस्य दृश्योऽहमर्निशंहृदि ।। –८५

हे भाई लक्ष्मण ! जब तक सारा प्रपंच तृण से लेकर ब्रह्मादिक पर्यन्त अपना स्वरूप न दिखाई दे तब तक किसी इष्ट की आराधना करे । सारे जीवन घण्टी हिलाना, आतरी उतारना, शंख बजाता न रहे । यदि किसी ने सगुण उपासना नहीं भी की है तो किसी सद्गुरु की शरण में चला जावे । वहाँ वेदान्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन होते रहने से जीव का मल, विक्षेप, आवरण दोष का नाश हो जावेगा । मैं आत्मा हूँ इस प्रकार निश्चय होना ही जीवन की सार्थकता है ।

◆◆◆

गुणातीत आत्मवान्

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भावार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।

– गीता : २/४५

हे आत्मन् ! वेदों में १,००,००० मंत्र माने जाते हैं जिनमें ८०,००० मंत्र जीव के चित्त शुद्धि के साधन हेतु हैं, जिनका प्रयोजन निष्कामता द्वारा जीव के चित्त शुद्धि करा उपासना एवं ज्ञान का अधिकारी बना मोक्ष दिलाना ही है । किन्तु अज्ञानी व्यक्ति वेद को कर्मकाण्ड परक ही मानते हैं । वे अनित्य कर्म के फल रूप स्वर्ग को ही अपना चरम लक्ष्य मान उपासना एवं ज्ञान में रुचि नहीं करते हैं; बल्कि वेद के अन्तिम भाग ज्ञान काण्ड की निन्दा ही करते हैं । चारों वेदों के कर्मकाण्डों द्वारा इस त्रिगुण रूप संसार का ही पोषण होता है तथा सत, रज तथा तम इन तीन गुणों से हुए सकाम कर्म तथा पुण्य-पाप मिश्रित फल रूप इस संसार को ही प्राप्त कराते हैं । समस्त याग, यज्ञादिक सकाम अनुष्ठानों से उन-उन काम्य भोगों की ही प्राप्ति होती है; किन्तु चित्त शुद्धि नहीं होती है । निष्काम कर्म बिना चित्त

शुद्धि नहीं, चित्त शुद्धि बिना ज्ञान नहीं एवं ज्ञान बिना मोक्ष की योग्यता प्राप्त नहीं होती है ।

हे आत्मन् ! कर्म अनेक साधन सामग्री द्वारा सम्पन्न होता है इसलिये विक्षेप का हेतु ही विशेष होता है । दूसरा कर्म करने में परिश्रम एवं परिश्रम से क्लेश एवं दु:ख ही प्राप्त होता है । तीसरा कर्म सर्वांग पूर्ण न होने से फल प्राप्ति नहीं होती तथा भूल हो जाने से विपरीत फल भी होता है तथा कर्म सर्वांग पूर्ण होने पर भी फल भोगार्थ जन्म-मरण चक्र बना ही रहता है । इसलिये निष्कामी, फलेच्छा रहित हो नाम, रूपात्मक द्वन्द्व रूप संसार से सत्यत्व बुद्धि हटाकर देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्त:करण के धर्म सुख-दु:ख, शीत-उष्ण, मान-अपमानादि द्वन्द्व से रहित अपने को उनसे असंग, द्रष्टा, साक्षी रूप जानते हुए नित्य वस्तु आत्मा में ही मैं पना अर्थात् ''सोऽहम्'' भाव कर स्थित हो जाना चाहिये ।

हे आत्मन् ! ये तीनों गुण जीवात्मा को संसार में ही बांधने वाले हैं । सत्वगुण सुख की आसक्ति में बांधता है, अन्त:करण के धर्मों में अभिमान कराता है, रजोगुण तृष्णा एवं कर्म आसक्ति में बांधने वाला है तथा तमोगुण जीव को आलस्य, निद्रा एवं प्रमाद के द्वारा बांधता है । इसलिये जो इन तीनों गुणों के प्रकाश रूप वेद के कर्म काण्ड का ही सेवन करता है वह संसार चक्र जन्म-मृत्यु से पार नहीं हो पाता है ।

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृत: कृतेन ।

– मुण्डक. उप. २/१/१२

कर्म से प्राप्त किये जाने वाले लोकों की भली प्रकार परीक्षा करके जानलो कि –

आब्रह्मभुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन । – गीता : ८/१६

इस मृत्युलोक से लेकर जहाँ तक के और लोकादि के भोग हैं वे सब

नाशवान ही है । अस्तु मुमुक्षु इस देह से लेकर विष्णु आदि लोकों एवं वहाँ के सुख भोगों से मन को उपरामता दिला दे । एवं निश्चय करले कि वेद के सकाम कर्मकाण्ड का फल अनित्य लोक-भोगादि ही है । कर्म द्वारा नित्य वस्तु आत्मा, परमात्मा, मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है इसीलिये -

वेदेषु यज्ञेषु तप:सु चैव दानेषु यत्पुण्यफल प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैतिचाद्यम् ।।

- गीता : ८/२८

ज्ञानी पुरुष इस रहस्य को जानकर वेदों के पढ़ने में तथा यज्ञ, चन्द्रायणादि कठोर तप और देश, काल, पात्र विचार कर श्रद्धापूर्वक सात्विक दानादिकों के करने में जो पुण्य फल कहा है उन सबसे -

''न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते''

- गीता : ४/३८

ज्ञान को पवित्र एवं श्रेष्ठ जान तथा -

यावानर्थ उदपाने सर्वत: संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानत: ।।

- गीता : २/४६

ब्रह्मानन्द को सर्व सुखों का आलय स्थान जान कामना रहित ब्राह्मण पुरुष समस्त वेदोक्त कर्मों का उल्लंघन कर जाता है; क्योंकि वेद में जितने सुख कहे हैं वह निष्कामी आत्मकामी को सहज ही सब प्राप्त हुए रहते हैं ।

ते ये शतं प्रजापतेरानन्दा: स एको ब्रह्मण: आनन्द: ।
श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य ।

- तैत्तिरीयो ब्रह्मानन्दवल्ली अष्ट अनुवाक

हे आत्मन् ! जिस विचारवान् ज्ञानी पुरुष ने ब्रह्म को मैं रूप से जान लिया उसे पुण्य के हेतु भूत, तीर्थ, स्नान, मन्त्र, वेदपाठ तथा जपादि से क्या प्रयोजन ?

– शुक रहस्योपनिषद् १/१६

हे आत्मन् ! जो ज्ञान शौच का परित्याग करके बाह्य शौच रूप वेद के कर्मकाण्ड में रमा करता है वह मूढ़ स्वर्ण को त्यागकर मिट्टी के ढ़ेले का संग्रह करने जैसा कार्य ही कर रहा है । ज्ञानी रूपी अमृत से तृप्त एवं कृतार्थ हुए ज्ञानी पुरुष के लिये कोई भी वेदानुसरित कर्म अनुष्ठान करने की कर्तव्यता नहीं है ।

– जावाल दर्शनो. : १/२३, २४

हे आत्मन् ! जो ज्ञान रूपी जल से अज्ञान रूपी मल और कीचड़ धो डालता है, वही सर्वदा शुद्ध है । कर्म–उपासना करने वाले, तप–तीर्थ करने वाले पवित्र नहीं हैं क्योंकि ये तो ज्ञान की निन्दा करके केवल कर्म में ही आसक्त होकर बन्धन को ही प्राप्त होते हैं ।

तपस्तीर्थं जपो दानं पवित्राणी–तराणि च ।
नालं कुर्वन्ति तां सिद्धि या ज्ञानकलया कृता ।।

– भागवत : ११/१९/४

हे आत्मन् ! तत्त्व ज्ञान के लेश मात्र से जो शुद्धि शान्ति उत्पन्न होती है वह तपस्या, तीर्थ, जप, दान तथा वेद कथित अन्य शुद्धि साधन से भी नहीं प्राप्त हो सकती है । अस्तु –

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

– गीता : १८/६६

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरत्येव मृत्युं श्रुति परायणाः ।।

– गीता : १३/२५

उस परमात्मा को कोई ध्यान के द्वारा कोई प्रकृति पुरुष के ज्ञान द्वारा, कोई कर्मयोग के द्वारा प्राप्त करते हैं । किन्तु जो उपरोक्त साधन करने में समर्थ नहीं है वह श्रद्धा परायण मन्दबुद्धि वाला सद्गुरु से श्रवण कर उसी अनुसार अपने को आत्मरूप से निश्चय करलेने से भी वह मृत्यु रूप संसार-सागर को निःसन्देह तर जाता है ।

◆◆◆

बन्धन से छुटो

सद्गुरु शरणापन्न हो जाने पर गुरु द्वारा बताये गये साधन द्वारा जीव की भव बन्धन से मुक्ति हो सकती है । मुक्ति हेतु अन्य कोई उपाय नहीं है । देहादिक में से अहंता-ममता रूप प्रबल महाशत्रु को दूर करने हेतु विवेक तथा वैराग्य रूपी तेज तलवार की सहायता अवश्य लेनी होगी; क्योंकि बिना आत्मा (नित्य) अनात्मा (अनित्य) का विवेक हुए कोई भी साधन, भजन, क्रिया, त्याग, जीव को बन्धन में ही डाल देगा । बिना विवेक के लिये साधनों द्वारा देह अभिमान और वृद्धि को प्राप्त हो जाता है । जैसे कि मैं त्यागी हूँ, सब मेरा मान करें, मुझे महापुरुष या भगवान का अवतार कहें, मुझे माला चढ़ावें, पैर छूवें, मेरी जूठन खावें यह सब अविवेक के कारण अभिमान वर्द्धक साधन होने से सीधे पतन के मार्ग में ढ़केल देते हैं । किन्तु अभिमान के सिंहासन पर अज्ञानी आरूढ़ जीव को यह पता तक नहीं चलता है । जब पूरा-पूरा फँस जाता है तब होश आता है, तब पछताता है, फिर कभी काल को, कभी कर्म को व कभी ईश्वर को मिथ्या दोष लगाता फिरता है ।

''कालहि कर्महि ईश्वर हि, मिथ्या दोष लागहि ।''

अतः ऐसे अविवेकी को अगर कोई सदुपदेश करे तो वह अहंकार के कारण सुनता भी नहीं है; क्योंकि उसे यह घमंड होता है कि मैं त्यागी हूँ, सब

जानता हूँ, मैं गृहस्थ के पास जाकर शिक्षा क्यों ग्रहण करूँ ? बनने चले थे चौबेजी से छब्बेजी तो अभिमान ने ऐसा नीचे ही धर दबाया कि रह गये दुबेजी । गये थे घर से बिल्ली को बाहर फेंकने को, इतने में ऊँट आकर आँगन में मर बैठा अर्थात् विवेक बिना जो देहाभिमान को दूर करने हेतु त्याग करते हैं, तो उन्हें अपने समस्त त्याग करने का अभिमान मन में आ घुसता है जो ऊँट की तरह विशाल काया वाला है । बिल्ली रूप गृहस्थाश्रम का त्याग करना तो सरल है, परन्तु त्याग रूप ऊँट का भी त्याग करना बड़ा कठिन है और वही त्याग मुख्य है, अगर त्याग कर, त्यागने का भी अहंकार मन में घुस गया तो फिर त्याग हुआ ही कहाँ ? वह तो एक अभिमान की नई जगह घिर गई । अस्तु अभिमान त्यागने हेतु क्रियाओं में कर्तापन के अहंकार का त्याग ही मुख्य साधन है । केवल बाह्य वेष धारण द्वारा अथवा सकाम जप, तपादि अन्य साधनों से अहंता-ममता रूपी बन्धन की निवृत्ति हो नहीं सकती । उसके लिये विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति, मुमुक्षुता इन चार साधनों से सम्पन्न होकर ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण में जाना चाहिये । उनके उपदेशानुसार आत्मा-अनात्मा के विचार द्वारा उत्पन्न हुए स्वरूप ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति कर अहंता-ममता रूपी शत्रुओं का युक्ति पूर्वक नाश करना चाहिये । अतः उसके लिये देहादिक के कार्य तथा स्वरूप का जानना आवश्यक है ।

यह देह जिसे मैं कहकर सम्बोधित करता हूँ यह मेरा नहीं है, मेरा कार्य नहीं है, यह पंच महाभूतों का कार्य है इसलिये अनात्मा है, दृश्य है एवं यह सिद्धान्त है कि द्रष्टा से सदैव दृश्य भिन्न होता है । जैसे घट से घट का द्रष्टा अथवा कर्ता कुम्भकार भिन्न रहता है । उसी तरह यह शरीर दृश्य से मैं इसका जानने वाला द्रष्टा भिन्न हूँ । मैं आत्मा हूँ, चैतन्य हूँ, अविकारी हूँ, देह जड़ है, विकारी है, मलिन है, क्रियावान है, संगवान है । किन्तु मैं (आत्मा) शुद्ध, अक्रिय, असंग, निर्लेप तथा निर्मल हूँ ।

इसलिये मैं देह नहीं हूँ एवं जब यह सिद्ध हो गया कि मैं देह नहीं हूँ तो देह में कल्पित नाम, जाति, आश्रम, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी, संन्यासी तथा बाल, युवा तथा वृद्धा स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण, छोटा-बड़ा, मोटा-दुबला, काला-गोरा और भी जितने शरीर के अवस्था है वे सब मुझ आत्मा के नहीं हैं । ऐसे विचार द्वारा ही देहात्म बुद्धि नष्ट होकर ज्ञानोदय होता है । एवं अहंता-ममता दूर होकर मोक्ष स्वरूप की प्राप्ति होती है ।

जो देह का राम, श्याम, उमा, रमा, रेखा आदि नाम रखा जाता है वह केवल व्यवहार की सरलता हेतु रखा जाता है, ताकि इच्छित व्यक्ति ही बुलाने पर आ-जा, काम कर सके । देखा जाता है कि जो नाम लड़के का है वही नाम नौकर का है तो मालिक नौकर का नाम बदल देते हैं, किन्तु नाम बदलने से नौकर के शरीर में कोई बदलाहट, भेद नहीं होता । इससे सिद्ध होता है कि नाम व्यवहार सिद्धि के हेतु है । अधिकांश घर में एक नाम की दो बहु आ जाने पर छोटी बहु का नाम बदल दिया जाता है यह सबको विदित ही है ।

कोई आपसे पूछता है कि आप कौन है ? तो आप सीधे बिना विचार किये कह देते हैं कि मैं रामलाल हूँ, मोहनलाल हूँ । मैं राधा हूँ, मैं नेहा बेन हूँ किन्तु विचार कीजिये कि यह आपका शरीर इस जन्म से पूर्व भी यही था या कोई अन्य था जिसे छोड़कर इसमें आये हैं ? यह आपका नाम आपके जन्म के साथ आया था अथवा दस बारह दिन बाद किसी पंडित द्वारा किसी शब्द का संकेत पाने पर घरवालों ने बहुमत से आपके लिये चुना था । तब फिर आप यह नाम वाले कैसे हुए ? यह नाम तो आपका नहीं है, यह तो घरवालों का दिया हुआ नाम है ? यह स्थूल देह की पहचान हेतु रखा है, आवश्यकता पड़ने पर बदला भी जा सकता है । अतः यह स्थूल देह एवं नाम आप कैसे हो सकते हैं ? और सारे शरीर के

अंगों को हाथ से छूकर देखें तो जो आप अपना नाम बताते हैं वह कहीं सिद्ध नहीं कर सकेंगे; क्योंकि जहाँ भी हाथ द्वारा शरीर का निरीक्षण करेंगे आपके बताये नाम को खोजेंगे तो वहाँ आपके हाथ, कान, नाक, आँख, मुँह, गाल, ओठ, सिर, बाल, पेट, पीठ, टाँग, पंजा, जाँघ, उपस्थ आदि अंग ही प्रतीत होंगे । आपके नाम का कहीं पता नहीं चलेगा । आपने जो इतना लम्बा-चौड़ा अपना नाम बताया वह विचार द्वारा शरीर में कहीं भी खोजने से पता नहीं चलता है । जब देह से देह का नाम ही सिद्ध नहीं होता है तब देह से भिन्न तुझ आत्मा का यह शान्ता, राधा, नेहा, मोहनादि नाम कैसे सिद्ध हो सकेगा ?

अतः यह नाम व्यवहार सिद्धि हेतु स्थुल देह का है न कि तुझ आत्मा का है । स्थूल देह मेरा नहीं और न मैं स्थूल देह ही हूँ । तब फिर उसका अभिमान करना अज्ञान ही तो सिद्ध होगा । अतः स्थूल देह में अहंता-ममता का विवेक पूर्वक त्याग करना ही मुक्त होने का सुगम एवं मुख्य साधन है ।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे
ऽस्तं गच्छन्ति नाम रूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नाम रूपा द्वि मुक्तः
परात्परं पुरुष भुपैति दिव्यम् ।।

- मुण्डको ३/२/८

जिस प्रकार निरन्तर बहती हुई नदियाँ अपने नाम एवं आकार को समुद्र में मिलते ही त्याग देती है उसी प्रकार विद्वान आत्मज्ञान प्राप्तकर नाम, रूप प्रपंच से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष मोक्ष स्वरूप परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ।

◆◆◆

अविद्या का स्वरूप

अविद्या का नाम अज्ञान है । इस अज्ञान की आवरण शक्ति जीव के अपने वास्तविक स्वरूप को ढ़क लेती है तथा अज्ञान की दूसरी विक्षेप शक्ति मायामय जगत् को दिखाती है । जीव ब्रह्म का स्वरूप होने से सच्चिदानन्द स्वभावी है किन्तु अज्ञान के इन दोनों आवरणों के कारण वह अपने नित्यानन्द स्वरूप को भूल दृश्य जगत् में सुख की आशा रख मृग-मरीचिका नीर से तृष्णा बुझाने की तरह व्यर्थ चेष्टा किया करता है । अविद्या की विक्षेप शक्ति चार प्रकार की होती है ।

(१) अनित्य में नित्य बुद्धि

(२) दु:ख में सुख बुद्धि

(३) अपवित्र में पवित्र बुद्धि तथा

(४) अनात्मा में आत्म बुद्धि

(१) **अनित्य में नित्य बुद्धि :-** देह एवं स्वर्गादि लोक अनित्य, जड़, क्षण भंगुर नाशवान है । बच्चे, युवा, वृद्ध देखते-देखते काल-कवलित हो जाते हैं । यह देखते हुए भी लोगों को यह भय नहीं होता है कि इसी प्रकार अचानक कब हमारा भी प्रारब्ध भोग समाप्त हो जावेगा एवं इस शरीर को संसार वाले, परिवार वाले यहीं जलाकर, गाड़कर, नदी में बहा देंगे या कुत्ते, भेड़िये, गिद्ध आदि पशु इसे नोंचकर समाप्त कर देंगे । प्रतिदिन आँखों के समक्ष यह मानव शरीर की लीला हो रही है, किन्तु अपने मरने का ख्याल कभी नहीं करते हैं । यह जीव मकान, धन, परिवार की वृद्धि में सब समय लगा रहता है जैसे कि वह सदा भोग करता रहेगा । प्राय: लोग इस प्रकार की योग, सिद्धि औषधियाँ एवं भोजन का प्रयोग करते रहते हैं कि हम देह से सदा युवा रहें, कभी न मरें एवं सुख भोग करें । इस प्रकार कभी न समाप्त होने वाली कल्पना योजना सदा बनाया करता है । किन्तु आश्चर्य है जिसके लिये सब कुछ संग्रह करना चाहता है उस शरीर की आयु का कोई भरोसा तक नहीं कि वह इस क्षण है तो अगले

क्षण भी रह सकेगा या नहीं ।

सामान सौ वर्ष का पल की खबर नहीं ।
पानी केरा बुदबुदा अस मानुष की जात ।
देखत ही छिप जायगा ज्यों तारा प्रभात ।।

जो कल तक हमारा नहीं था एवं आने वाले कल तक हमारा नहीं रहेगा जो चार, छह घन्टों में अन्न सड़कर फिंकने योग्य है उससे पोषित ऐसे क्षणभंगुर यह अनित्य शरीर एवं इसके सम्बन्धीजनों में नित्य बुद्धि कर जीव सदा दु:खी बना रहता है । यह देहवासना ही जीव को जन्म–मृत्यु के चक्र में भ्रमित कराती रहती है, जब हिरण्यकश्यप, भीम, रावण, कंस, हाथी जैसे बलिष्ठ देहवालों को एवं राम कृष्णादि अवतारी भगवान की भी देह स्थिर न रह सकी तो अन्य प्राणियों का देह भी अवश्य नष्ट होगी ही इसमें सन्देह नहीं है ।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।

– गीता : २/२७

जो देह जन्मा है उसकी निश्चित ही मृत्यु होगी, किन्तु सबकी नित्य मृत्यु देखकर भी मनुष्य अपने मरने की घटना को भूल बैठा है ।

(२) **दु:ख में सुख बुद्धि :–** प्रत्येक मनुष्य इस संसार में दैहिक दैविक एवं भौतिक तापों में जल रहा है । जन्म से मृत्यु तक नाना प्रकार के रोग, भय, आक्रमण होते ही रहते हैं जिन्हें न चाहकर भी जीव को भोगना ही पड़ता है । यह शरीर दु:खालय है यह कभी भी पूर्ण स्वस्थ एवं मन को इसकी ओर से निश्चिन्त नहीं पाओगे । घर से बाहर जिस हेतु से गया है, जा रहा है पुन: सुरक्षित लौट आवेगा इतना भी इस देह का भरोसा नहीं है । बाहर ही इसे खतरा है ऐसा नहीं घर में बिजली, छत, दीवार के गिर जाने से अथवा चोर, साँप, बिच्छु के आक्रमण से भयभीत रहता है कभी माता, चेचक, प्लेग, हैजा, भगन्दर, केंसर, मधुमेह, टी.बी., टाइफाईट आदि रोगों का प्रकोप तो

कभी लकवा, अर्धांग, अन्धता, बधिरता का प्रकोप सताता रहता है । तो कभी चेतना शुन्यता को प्राप्त हो जाता है । फिर भी अज्ञानियों को देह दुःख रूप होने पर भी इससे मोह कम नहीं होता है एवं इन दुःखों से सदा के लिये छूट जाने का कोई स्थाई उपचार भी नहीं करते हैं ।

(३) **अपवित्र में पवित्र बुद्धि :-** देह माँस की छबाई, हड्डी के खम्बे, चमड़ी के रंग वाला बिना नींव का महल है । इसमें श्वाँस-प्रश्वाँस रूपी पंखे, नेत्र रूपी लाईट, कर्ण रूपी फोन, नासिका रूपी वेन्टीलेशन तथा बाल रूपी छत पड़ी है । इसमें रज-वीर्य, रक्त, कफ, लार, मूत्र मल आदि के भिन्न-भिन्न कक्ष (कमरे) हैं । ऐसे अपवित्र स्थान में यह जीव पवित्रता की भावना कर इसे सुन्दर रमणीय मानकर उसी प्रकार आसक्त हुआ रह रहा है जैसे कीचड़ में सूअर, भैंस तथा टट्टी में कृमि आदि रहते हैं । कोई जैसे स्वर्ण की थाली तथा कटोरे में मल, मूत्र, लार, कफ, रक्त, रज, वीर्य आदि भर सुन्दर वस्त्र से ढक कर स्वाद पूर्वक खाता हो । जैसे कुत्ता एकान्त में सूखी हड्डी को चबाकर स्वाद अनुभव करता है, उसी प्रकार यह जीव बाहरी चमड़ी से ढ़के इस नरक कुण्ड रूप शरीर में सुख बुद्धि, पवित्र बुद्धि कर दुःख भोग रहा है । अपनी स्त्री के मुख एवं मुत्राशय जैसे अपान वायु से महान दुर्गन्ध युक्त स्थलों में पवित्र एवं सुख बुद्धि कर अपनी जिह्वा से उसका श्वानवत् आस्वादन करता है । बिना दुग्ध के स्तनों एवं बिना रस के गाल चुम्बन तथा चूसने की क्रिया में पवित्र एवं सुख बुद्धि कर नित्य आसक्त होता रहता है । दुर्गन्ध स्वभावी शरीर को ईत्र, सेंट, स्प्रे, पाउडर, लिपस्टिक, नकली बालों की वेणी, चोटी, हेअर डाई, खिजाब, कपड़े, अलंकार, नकली दाँत, बिन्दी आदि से सजाकर सुन्दर-सुन्दर उपमा देकर प्रसन्न रहता है । भूतों की तरह घर एवं बाहर नंगे रहने में लोगों को दिखाने में ही अपनी महानता समझते हैं ।

धार्मिक क्षेत्र में भी यह भ्रष्टाचार फैल गया है । गन्दे अपवित्र, दुराचारी, गुरु, पंडित, पुरोहित के शरीर को अत्यन्त पवित्र मान उनके चरणों को धोकर

पान करते हैं एवं उस जल को अपने घर, तन, सर पर छिड़काव कर पवित्र मानते हैं । उसी गन्दे अपवित्र जल को बोतलों में भर कर रखते हैं जिसे रोज-रोज निरोगता की आशा से ग्रहण कर रोगी हो जाते हैं । उधर उनके गुरु स्वयं रोग ग्रसित हो डाक्टर द्वारा उपचार कराते-कराते भी काल-कवलित हो जाते हैं और इधर शिष्य गुरु चरणामृत पान कर अमर बनने की आशा रखते हैं । इसी प्रकार झूठा तमोगुणी अन्न उन नामधारी महात्माओं की थाली से उठा सब भक्तजन मुक्ति की आशा में बाँटकर महाप्रसाद कहकर खाते हैं । तब फिर कुत्ते, बिल्ली, चूहा, मक्खी, भिखारी, गाय, कौवा भी उनके झूठे अन्न को खाकर क्यों न मुक्त होवेंगे ? क्योंकि जहाँ भक्त लोग गुरुजी का उच्छिष्ट ग्रहण करने वाले नहीं होते हैं वहाँ इन कुत्ते, बिल्ली, कौवा, गायादि जीवों को ही ग्रहण करने का सौभाग्य मिलता है । देह दृष्टि से कीट पतंग से ले ब्रह्मादिक पर्यन्त सभी के शरीर इन समान पाँच तत्त्वों के बने हुए हैं । उनमें न किसी का शरीर पवित्र है न अपवित्र है । मानव तो अपनी उपयोगिता के अनुसार उन-उन शरीरों में पवित्र अपवित्र, उत्तम, अधम की कल्पना की है ।

पञ्चात्मकेषु भूतेषु समानेषु च वस्तुत: ।
को भवानिति व: प्रश्नो वाचारम्भो ह्यर्थक: ।।

– भागवत : ११/१३/२३

देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी शरीर पंच भूतात्मक होने के कारण अभिन्न ही है और परमार्थ रूप से भी अभिन्न है । ऐसी स्थिति में किसी भी प्राणी के शरीर व आत्मा में भेद देखना अविचार पूर्वक निरर्थक कथन है । उपरोक्त सभी प्रकार का वर्णन देह में से पवित्र बुद्धि को दूर करने के लिये किया गया है अपने को पवित्र मान अन्य से नफरत, घृणा के लिये नहीं । फिर आपका शरीर भी तो उसी गन्दे रज-वीर्य से उत्पन्न होकर उसी अपवित्र मूत्र द्वार से आया है ।

(४) **अनात्मा में आत्मबृद्धि :–** सबकी देह अनात्मा है एवं आत्मा सबकी एक एवं नित्य है । देह के धर्म आत्मा के धर्म से बिल्कुल विपरीत है । देह असत्, जड़, दुःख एवं अनेक रूप है तथा आत्मा सत–चित–आनन्द एवं अद्वैत रूप है । कोई भी व्यक्ति जिस मकान में रहता है, जिन कपड़ों को पहनता है उस मकान एवं कपड़ों को यह नहीं कहता है कि ये मकान, कपड़े मैं हूँ । किन्तु महान आश्चर्य है कि जीव ने जिस शरीर रूप मकान में आश्रय पाया, जिन शरीर रूपी कपड़ों से अपने को ढ़का उसी देह रूपी मकान, कपड़े को मैं स्त्री, पुरुष, बालक, युवा, गोरा, काला, मोटा, दुबला, लम्बा, नाटा हूँ ऐसा भ्रान्त देहअभिमान कर चौरासी लाख योनियों में भटकता, आश्रय पाताहुआ महान कष्टों को भोग रहा है ।

शरीर से जैसे वस्त्र पृथक् है वैसे ही जीव रूपी पुरुष से यह शरीर रूप वस्त्र भी पृथक् है । इस प्रकार अज्ञान के कारण आत्मा में अनात्म बुद्धि एवं अनात्मा में आत्म बुद्धि कर लेता है । विचार द्वारा स्पष्ट पता लगता है कि देह असत् एवं जड़ है तथा मैं आत्मा सत एवं चेतन हूँ । देह दुःख रूप और मैं आत्मा आनन्द रूप हूँ । देह विकारी तथा मैं आत्मा षड् विकार से रहित निर्विकार हूँ । जन्म से मृत्यु पर्यन्त सभी अवस्थाएँ विकारी शरीर की है । मैं आत्मा सबसे असंग निर्विकार कूटस्थ रूप हूँ ।

उपरोक्त चारों भेद अविद्या के हैं । सद्गुरु की कृपा से मुमुक्षु विवेक–वैराग्य, षट् सम्पति साधन युक्त हो वेदान्त महावाक्यों का श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि ज्ञान के अन्तरंग साधन ग्रहण करे तो तत्काल अविद्या का नाश होकर मुक्त हो जावे ।

घटे भिन्न घटाकाशमाकाशे लीयते यथा ।
देहाभावे तथा योगी स्वरूपे परमात्मनि ।।

– अवधूत दत्तात्रय

जिस प्रकार घड़े के फूट जाने पर उस आवरण से घिरा आकाश महाकाश में ही स्थित हो जाता है । उसी प्रकार जीव को आत्मज्ञान हो जाने पर एवं शरीर के प्रारब्ध भोग समाप्त हो जाने पर यह जीव का नाम, रूप स्थूल शरीर समाप्त हो जाता है । तब उसमें स्थित जीव आवरण मुक्त हो जाने के फल स्वरूप ब्रह्म रूप में ही सदा के लिये स्थित हो जाता है ।

◆◆◆

दु:खों का मूल

मनुष्यों के शारीरिक रोगों की कल्पना कर पूर्व से ही चरक, धन्वंतरी आदि आयुर्वेदाचार्यों ने उनके ग्रन्थों में बीमारी के लक्षण, औषध तथा पथ्य विधि लिख चुके हैं । यदि वैद्य द्वारा रोग का निर्णय ले लिया जावे तो औषध का खोजना कोई मुश्किल काम नहीं है । डाँ, वैद्य की समस्त चेष्टा, परिश्रम, चतुराई रोग खोज लेने में ही है । यदि उचित रोग निदान कर लिया गया तो ५० % रोग निवृत्त तभी हो गया समझो एवं शेष ५० % रोग औषधियों के द्वारा निवृत्त हो ही जावेगा । यदि गलत निदान कर, उपचार प्रारम्भ कर दिया तो वह रोग से ज्यादा मंहगा पड़ता है । इसीलिये तो अच्छे डॉक्टर सर्व प्रथम हमारे रोग को जानने, खोजने में ज्यादा प्रकार के परिक्षण-निरिक्षण करते हैं । इसी प्रकार आज हम भी हमारे मानसिक रोग का मूल कारण खोजने की चेष्टा करेंगे कि आखिर हमारे दुःखों का मूल रोग क्या है जो अनादि से इतने प्रकार के भजन, पूजन, जप, मन्दिर, तीर्थ, ध्यान आदि साधन कर लेने पर भी अशान्ति रोग किंचित् भी दूर नहीं हो सका ।

संसार के सभी प्राणी देह रहते दु:खों से पूर्ण छुटकारा चाहते हैं, किन्तु देह रहते आजतक कोई विज्ञान भी देह के रोग वृद्धावस्था, बाल पकने, दाँत गिरने, आँख की ज्योति कम होने एवं मृत्यु आदि विकारों को दूर नहीं कर सका । हाँ विकारों से दूर रखने के साधन तो अवश्य बतलाये, अपनाये जाते

हैं, किन्तु विकारों से देह को कोई नहीं रोक सकता है । यदि देह के दु:ख असहनीय है तो इसके लिये यही एकमात्र उपाय है कि आप देह को स्वीकार न करें, देह धारण न करें तो ही दु:खों से बच सकते हैं । आग के पास रहेंगे तो वह तपन पहुँचावेगी एवं एक दिन कपड़े जलाकर ही उठेंगे । अस्तु दु:ख से बचने के लिये देह धारण न करें । देह को हमने तो नहीं चाहा था कि सुन्दर-असुन्दर, नाटा-लम्बा, दुर्बल-मोटा, रोगी या निरोगी शरीर हमें प्राप्त हो । हमने तो नहीं चाहा था कि बचपन से जवानी एवं जवानी से बुढ़ापा आ जावे एवं बुढ़ापे से मृत्यु में चले जावें । तब ऐसा किस की प्रेरणा, संकल्प, न्याय के अनुसार होता है ? विचार करने से ज्ञान हुआ 'कर्म' ही हमारे शरीरों को देने वाला जनक है । जब तक जीव द्वारा कर्म होते रहेंगे, तब तक तदानुसार उसे शुभाशुभ योनियों में जाना ही पड़ेगा । अब यदि हम कर्म करना रोक सकें तो शरीर से छुटकारा मिल सकता है ।

विचार करने से पता चला कि कर्म क्यों होते हैं ? हम कुछ भी कर्म न करें तो भी कैसे कर्म हो जाते हैं ? और गीता कहती है कि जीव एक क्षण को भी अकर्मा नहीं रह सकता । ज्ञात हुआ कि जब तक जीव "राग-द्वेष" किसी के साथ मन में करता हुआ क्रिया करता है तो वही क्रिया कर्म बन जावेगा एवं तदानुसार शरीर एवं दु:ख मिलता रहेगा ।

अब प्रश्न उठता है कि हम राग-द्वेष नहीं करना चाहते हैं फिर क्यों हो जाता है ? तो पता चला कि जब तक हमारे बुद्धि में "अपना-पराया" भाव किसी के प्रति रहेगा तो उसके प्रति की गई क्रिया स्वाभाविक अपने के प्रति राग तथा पराये के प्रति द्वेष भाव उत्पन्न करेगी । जिससे कर्म बनकर शरीर मिलेगा एवं दु:ख की प्राप्ति होगी ।

फिर प्रश्न उठता है कि अपना-पराया भाव हम नहीं करना चाहते हैं तो भी यह कैसे उदय हो जाता है ? तो ज्ञात हुआ कि जब तक जीव "भेद

बुद्धि'' रखेगा तब तक अपने-पराये पन से ग्रसित होता ही रहेगा । जिसके फलस्वरूप राग-द्वेष, कर्म, शरीर एवं दु:ख की प्राप्ति निश्चित ही होगी ।

अब यह विचार उठता है कि जब यह भेद बुद्धि दु:ख का हेतु है तो इसे हम छोड़ क्यों नहीं देते हैं ? तो पता चला कि जब तक जीव में ''अज्ञान'' (आवरण) रहेगा तब तक बुद्धि भेद भाव से ग्रसित ही रहेगी । अत: समस्त दु:खों से छूटने हेतु अज्ञान से निवृत्त होना परमावश्यक है । जैसे अंधकार की निवृत्ति एकमात्र प्रकाश द्वारा ही सम्भव है उसी प्रकार अज्ञान की निवृत्ति एकमात्र ज्ञान द्वारा ही हो सकती है अन्य करोड़ों साधनों से भी नहीं ।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह हमारे मन से अज्ञान दोष कैसे हटाया जावे ? शास्त्र कहता है सद्गुरु द्वारा स्वरूप ज्ञानोदय हुए बिना यह अज्ञान किसी प्रकार दूर नहीं हो सकेगा ।

''गुरु बिन होहीं कि ज्ञान ?''

फिर प्रश्न उठता है कि यह सद्गुरु की प्राप्ति कैसे एवं कब होती है ? तो उत्तर मिलता है कि जब जन्म जन्म के सुकृत फलित होता है तभी ऐसे तत्त्वदर्शी ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु एवं उनका ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है अन्यथा कभी नहीं ।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् माम् प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।।

– गीता ७/१९

तरति शोकं आत्मवित्

– छान्दोग्य उपनिषद्

सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य, सारूप्यादि मुक्ति प्राप्त भगवान के साथ सदा रहने वाले भक्ति मार्गाचार्य श्री नारद अत्यन्त दुःखी होकर जिज्ञासु भाव से श्री सनत्कुमार के पास गये और प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो ! यह आपका दास नारद दुःखों के सागर में डूब रहा है । भगवन् ! मैंने सुना है कि, ''तरति शोकं आत्मवित्'' आत्म ज्ञानी शोक के सागर से पार हो जाता है । अतः गुरुदेव ! मैं आपसे विनम्र प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझ दास नारद को ब्रह्मविद्या का उपदेश कीजिये ताकि मैं कैवल्य मुक्ति प्राप्त कर सकूँ ।

सनत्कुमार ने कहा–कि हे नारद ! सर्वप्रथम आप यह बतलाइये कि आप क्या–क्या जानते हैं ?

नारद ने कहा – हे भगवन ! मैं चारों वेद इतिहास, पुराण, व्याकरण, श्रद्धा, कल्प, गणित, निरूक्त, शिक्षा, छन्द, तर्क, नीति, विधि, शास्त्र जानता हूँ । धनुर्विद्या, भूतविद्या, नक्षत्रविद्या, शिल्प विद्या, ज्योतिष विद्या, नृत्य विद्या, गीत विद्या, संगीत विद्या, गारूडी विद्या आदि अनेकों विद्याओं को मैं अच्छी प्रकार से जानता हूँ, ये सब मुझे सम्पूर्ण मुखस्थ हैं । परन्तु भगवन् ! मैं केवल वेदों, शास्त्रों के शब्दार्थ रूप मंत्रों को ही जानता हूँ, आत्मा का वास्तविक साक्षात्कार मुझे नहीं है । मैं शोक, मोह में डूब रहा हूँ आप मुझे अपना शिष्य स्वीकार कर उपदेश प्रदान कीजिये । मैंने सुना है कि आत्मवेता शोक से रहित होता है, ''तरति शोकं आत्मवित्'' । किन्तु मैं शोक करता हूँ, इसलिए यह बात प्रमाणित है कि मैं ईश्वरोपासक तो हूँ किन्तु आत्मवित नहीं हूँ । और मैंने सुना भी है कि आत्म ज्ञान के बिना जीव को परम शान्ति किसी भी साधन से प्राप्त नहीं हो सकती है ।

सनत्कुमार ने नारद की मनोदशा एवं साधनों का विचार कर सोचा कि, नारद यद्यपि सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता है तथापि जो शास्त्रों में अनेक प्रकार की

बाते कही गई है और उनमें परस्पर जो विरोधाभास दिखाई पड़ता है उस कारण इनकी बुद्धि संशय जाल में फंसी हुई है एवं इसकी बुद्धि जब तक संशय विपर्यय से रहित नहीं होगी, तब तक इसे आत्म साक्षात्कार से भी नहीं हो सकेगा । अत: इसे आत्म ज्ञान का रहस्य समझा दूँ ताकि ये शोक, मोह के सागर से पार हो जावे । ऐसा विचार कर नाम, रूप उपासना से श्रेष्ठ प्राणब्रह्म की उपासना बतलाई । नारद प्राण को ही ब्रह्म समझ चुप हो बैठा है । तब सनत्कुमार ने कहा ''नारद ! तुम अतिवादी बनो'' नारद ने पूछा-अतिवादी कैसे बनूँ ? आप ही मुझे अतिवादी बनाइये । सनत्कुमार ने कहा-सत्य भाषण आदि साधनों से सम्पन्न होने पर मनुष्य सत् परमार्थ वस्तु के विज्ञान से 'अतिवादी' होता है ।

नारद ने पूछा - सत् वस्तु का विज्ञान कैसे प्राप्त होता है ?

सनत्कुमार ने कहा - मनन से विज्ञान प्राप्त होता है ।

नारद ने पूछा - मनन किसे कहते हैं ?

सनत्कुमार ने कहा-ब्रह्मनिष्ठ गुरु के द्वारा सुने वेदों के महावाक्यों का तात्पर्य से निश्चय करने हेतु, अभेद की साधक तथा भेद की बाधक युक्तियों द्वारा अद्वितीय ब्रह्म के चिन्तन करने को मनन कहते हैं ।

नारद ने पूछा - मनन की सिद्धि कैसे होती है ?

सनत्कुमार ने कहा - मनन की सिद्धि तत्त्व में श्रद्धा से होती है ।

नारद ने पूछा - श्रद्धा प्राप्ति का क्या उपाय है ।

सनत्कुमार ने कहा - श्रद्धा ''निष्ठा'' से प्राप्त होती है ।

नारद ने पूछा - निष्ठा किसे कहते हैं ?

सनत्कुमार ने कहा - ब्रह्मचर्य का पालन तथा सद्गुरु सेवा उपासना एवं उनके उपदेशों में कल्याण का विश्वास करने का नाम ही निष्ठा है ।

नारद ने पूछा – निष्ठा कैसे प्राप्त होती है ?

सनत्कुमार ने कहा – ''कृति'' से निष्ठा प्राप्त होती है ।

नारद ने पूछा – कृति किसे कहते हैं ?

सनत्कुमार ने कहा – शम्, दम, तितिक्षा, श्रद्धा, उपरामता, समाधानता आदि साधन चतुष्टयता का नाम ही कृति है ।

नारद ने पूछा – कृति कैसे सिद्ध होती है ?

सनत्कुमार ने कहा – कृति के सिद्ध करने का उपाय अपने अखण्डानन्द के अनुभव की तीव्र इच्छा ही है ।

नारद ने पूछा – अखण्डानन्द किसे कहते हैं ?

सनत्कुमार ने कहा – जो सुख कभी दुःख में न बदले, जो सर्वकाल में बिना इन्द्रिय, वृति तथा विषय के सहज प्राप्त हो उसे अखण्डानन्द कहते हैं । वह नित्य है, निरतिशय है, परिपूर्ण एवं व्यापक है । आनन्द तो पूर्ण में ही है । अल्प तो दुःख रूप ही है । अतः हे नारद ! तुम अल्प वस्तुओं की उपासना छोड़, जो भूमा ब्रह्म है उसकी उपासना अहं रूप से करो तब तुम शोक–मोह के सागर से मुक्त हो पाओगे । वह भूमा सबका मूल कारण तुम्हारा आत्मा अर्थात् तुम स्वयं ही हो ''तत्त्वमसि'' । तुम अपने को नश्वर शरीर मानकर क्यों भ्रमित हो रहे हो । अपने को तीन शरीर, तीन अवस्था, पंचकोष से पृथक् इनका साक्षी, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तानन्द, अद्वितीय ब्रह्मात्मा ही जानो ।

हे नारद ! वह भूमा तुम्हारा आत्मा ही ब्रह्म है । वही परमात्मा है । तुम अपना ध्यान लगाकर अनुभव करो तो मालूम होगा कि मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही दक्षिण में हूँ, मैं ही उत्तर में हूँ, मैं ही पूर्व में हूँ, मैं ही पश्चिम में हूँ, मैं ही दाहिने हूँ, मैं ही बाँये हूँ, सब ओर मैं ही मैं विद्यमान हूँ, सबके शरीरों में मैं हूँ, सब रूपों में मैं ही हूँ, सब देश एवं कालों के रूप में मैं ही

विद्यमान हूँ, सबका द्रष्टा, साक्षी कुटस्थ ब्रह्म मैं ही हूँ ।

हे नारद ! जो अन्य देवताओं की भेदोपासना करते हैं वे पराधीन हो नाना कष्ट उठा नाशवान् लोकों में जन्मते एवं मरते रहते हैं । परन्तु जो अपने अखण्ड, व्यापक, एकरस आत्मा का ''मैं'' रूप से अनुभव कर लेते हैं वे कृतकृत्य हो जाते हैं ।

नारद – हे भगवन् ! आपके द्वारा इस ब्रह्म विद्या (भूमा–विद्या) का उपदेश सुनकर मैं कृतार्थ हो गया हूँ । मैं अब देहाभिमान एवं शोक–मोह से रहित हुआ ''सोऽहम्'' का अनुभव करता हूँ ।

तात्पर्य यह है कि सद्गुरु भगवान सनत्कुमार ने भक्त नारद को वेदान्त तत्त्व का श्रवण करा कर ही शोक–मोह से मुक्त कर अभय एवं अमृत पद की प्राप्ति हेतु उन्हें किसी कर्म, उपासना या योग साधन की कर्तव्यता नहीं बतलाई । इसी प्रकार शुकदेवजी ने राजा परीक्षित को ज्ञान के श्रवण, मनन मात्र से मुक्ति का अनुभव करा दिया ।

मोक्ष प्रतिबन्धक

(१) बुद्धि की मन्दता
(२) भेदवादी गुरु का संग
(३) प्रिय वस्तु का वियोग (विक्षिप्त)
(४) अश्रद्धा
(५) वैर

हे आत्मन् ! उपरोक्त पाँचों हेतु मोक्ष प्राप्ति अर्थात् अपने अखंड अद्वितीय ब्रह्मात्मैक्य बोध में प्रतिबन्धक हैं । इन पाँचों में से कोई एक हेतु होने से ब्रह्मदर्शी सद्गुरु के प्राप्त होने पर भी उनके उपदेश श्रवण से भी साधक

को स्वयं साक्षात् अपरोक्ष आत्मा का मैं ब्रह्म रूप से अनुभव नहीं होता है कि ''वह मैं हूँ'' । किस प्रकार उपरोक्त पाँचों हेतु मोक्ष में प्रतिबन्धक होते हैं उन्हें अब आप संक्षेप में सुनिये ।

(१) **बुद्धि की मन्दता :-** जिसने सत्संग नहीं किया उसे विवेक कभी नहीं हो पाता है और जिन्हें विवेक जाग्रत नहीं हुआ उन्हें सत-असत, नित्य-अनित्य, जड़-चेतन, आत्मा-अनात्मा, शिव-शव, बन्ध-मोक्ष का भेद ज्ञान नहीं होता है । वे अपनी बुद्धि द्वारा यह निर्णय नहीं कर पाते हैं कि क्या ग्रहण करने योग्य है ? क्या त्याज्य है ? आत्मा, शिव, चेतन क्या है ? अनात्मा, शव, जड़ क्या है ? कौन कर्म बन्ध रूप है ? तथा कौन कर्म मोक्ष रूप है ? ऐसे अज्ञानी मंद बुद्धि वाले लोगों को जो जैसा बतला देते हैं उसे वह तत्काल बिना सोचे समझे मान तो लेगा लेकिन जब कोई दूसरा व्यक्ति कोई दूसरी बात बतलावेगा तो वह उसे स्वीकार कर लेगा एवं पहली बात को गलत जान छोड़ देगा । हे आत्मन् ! ऐसा व्यक्ति अपने लक्ष्य को कभी भी प्राप्त नहीं कर पाता है, क्योंकि उसकी बुद्धि मंद होने के कारण वह एक साधन पर अनन्यता नहीं कर पाता है । वह तो उस व्यक्ति की तरह है जो पानी के हेतु दिन भर में पाँच हाथ गड्ढा करता है एवं थक कर सो जाता है । प्रात: दूसरी जगह कूआ खोदने लगता है वहाँ भी पाँच हाथ गड्ढा कर पाता है, किन्तु पानी प्राप्त नहीं होता देख तीसरे दिन उठ तीसरी जगह गड्ढा खोदता है । किन्तु उसे सप्ताह भर मेहनत करने पर भी सफलता प्राप्त नहीं हुई । यदि वह एक ही जगह गड्ढा करता रहता तो सात दिन क्या पाँच दिन में ही २५ हाथ गहरा गड्ढा खोदकर निर्मल पानी को प्राप्त कर लेता, किन्तु बुद्धि मंदता से उसकी मेहनत व्यर्थ होती चली गयी इसीलिये गीता में कहा है -

विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषा ।। १०/१५
यतन्तोऽप्य कृतात्मानो नैनं पश्यन्त्य चेतसः ।। ११/१५

अर्थात् जिसका अन्त:करण अशुद्ध होता है ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते रहने पर भी इस आत्मा को नहीं जानते हैं । केवल किसी सद्गुरु कृपा से ज्ञान रूप नेत्रों वाले विवेकशील ज्ञानी ही तत्त्व से जानते हैं, अर्थात् आत्मा रूप से जानते हैं ।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ।।

– गीता : २/५३

है आत्मन् ! नाना आचार्यों एवं षड़दर्शन शास्त्रों के परस्पर नाना भेद वचनों को सुनने से जब बुद्धि विचलित हो जाती है तब वेदान्त ज्ञान उसकी बुद्धि में दृढ़ नहीं हो पाता है । जब सब परस्पर विरोधी आचार्यों की सुनी बातों को भुलाकर एक छोटे किशोर बालक की तरह वेदान्त ज्ञान को मर्मज्ञ सद्गुरु से श्रवण कर एक परमात्मा से साऽहम् भाव कर बुद्धि को स्थर करेगा तब ही तू परमात्मा का साक्षात् अपरोक्ष अनुभव कर सकेगा । तब तेरा परमात्मा से सोऽहम् रूप से नित्य संयोग जान सकेगा ।

(२) **भेदवादी गुरु का संग** :– हे आत्मन् ! जिन मुमुक्षुओं को अभेददर्शी सद्गुरु का उपेदश श्रवण करने का सौभाग्य तो प्राप्त हुआ है किन्तु वे भेददर्शी गुरु का भी उपदेश यदि श्रवण करते रहते हैं तो उसकी अद्वितीय ब्रह्म में दृढ़ निष्ठा नहीं हो सकेगी । उनका मन असंभावना विपर्यय दोष से मुक्त न हो सकेगा । अभेददर्शी सद्गुरु मुमुक्षु को ''वह तू है'' का उपेदश करेंगे एवं भेददर्शी गुरु उस मुमुक्षु को परमात्मा का दास, अंशरूप, पापी, कर्ता–भोक्ता, सुखी–दुःखी, जन्म–मृत्यु रूप जीव निश्चय करावेंगे । इस कारण ऐसे श्रोता का कल्याण होना कठिन हो जाता है । यदि वह भेददर्शी महात्मा के वचनों का पूर्ववत् सत्कार न करे एवं अभेददर्शी महात्मा के ''तत्त्वमसि'' महावाक्य को श्रवण कर ब्रह्मात्मैक्य वृत्ति रूप ''अहं ब्रह्मास्मि'' मैं ब्रह्म हूँ ऐसा दृढ़ निश्चय करे तो कल्याण होना सम्भव हो सकता है ।

(३) **प्रिय वस्तु का वियोग :-** हे आत्मन् ! विक्षिप्त चित्त वाला व्यक्ति सत्संग में बैठकर श्रवण लाभ नहीं कर पाता है, क्योंकि श्रवण एकाग्रता का फल है । गीता में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से गीता समाप्ति पर उसका प्रतिफल जानने हेतु प्रथम यही प्रश्न करते हैं कि –

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा । – गीता : १८/७२

हे पार्थ ! क्या मेरे द्वारा उपदिष्ट इस महावाक्य रूप गीता को तूने एकाग्रचित से श्रवण किया है ? क्योंकि जो एकाग्रचित से सद्‌गुरु की वाणी का श्रवण करता है उस श्रोता का अज्ञानजनित मोह अवश्य ही नष्ट हो जाता है । जैसे प्रकाश होते ही अंधकार एवं अंधकारजनित भय विलीन हो जाता है ।

अब यदि श्रोता का मन श्रवणकाल में अन्यत्र हो या सुने जा रहे विषय में ही तर्क–वितर्क कर रहा हो, काट–छाँट करता रहता है तब उसकी मोह निद्रा को चोट पहुँचाने वाले वाक्यों का जब वह ग्रहण ही नहीं करेगा तो फिर भला उसका कल्याण कैसे हो सकता है ? अस्तु सर्व प्रथम एकाग्र चित्त होकर ज्यों का त्यों श्रवण करले एवं अपना मताग्रह छोड़ विवेक बुद्धि से उसे ग्रहण करे । यदि उस सुने वचन में पूर्व धारणा के साथ विरोध–सा प्रतीत हो तो सद्‌गुरु से आज्ञा ले उसका समाधान प्राप्त करलें किन्तु श्रवणकाल में अन्यथा चिन्तन न करे ।

(४) **अश्रद्धा :–** हे आत्मन् ! परमार्थ के मार्ग में श्रद्धा ही मुख्य बहुमूल्य पूंजी है । क्योंकि श्रद्धावान को ही ज्ञान की प्राप्ति होती है एवं ज्ञानवान को ही मोक्ष की अनुभूति होती है जैसा कि भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को बता रहे हैं ।

''श्रद्धावाँ ल्लभते ज्ञां'' ''ज्ञानादेव तु कैवल्यं''

किन्तु भगवान अश्रद्धालु के लिये दूसरी ही बात कह रहे हैं ।

"अज्ञश्चाश्रदद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति" – गीता : ४/४०

विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थ से अवश्य भ्रष्ट हो जाता है । फिर कहते हैं –

नायंलोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।। – गीता : ४/४०

ऐसे संशययुक्त अश्रद्धालु पुरुष के लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है । अत: हे आत्मन् ! अपने सद्गुरु के वेद रूप वचनों को साक्षात् परमात्मा की वाणी जान श्रद्धायुक्त अहंकार रहित होकर ग्रहण करना चाहिये अन्यथा हीरे को काँच समझ छोड़ देने से दुर्भाग्यवश दु:खी ही बना रहेगा । फिर –

कालहि कर्महि ईश्वर ही मिथ्या दोष लगाई ।

हे आत्मन् ! वेद, शास्त्र तथा संतों का ऐसा कहना है कि यदि अपने से छोटी जाति, कम उम्र, निम्नाचरण वाले के पास भी ब्रह्म ज्ञान प्राप्त होता दिखाई दे तो उस अमृत विद्या प्रदाता के बाह्य जीवन का विचार किये बिना अवश्य श्रद्धापूर्वक ग्रहण कर लेना चाहिये, जैसे कीचड़ से कमल, मल में पड़ें हीरे या स्वर्ण को ग्रहण कर लेता है । अतः सद्गुरु एवं आत्मज्ञान के प्रति अश्रद्धा कर अपनी आत्मा की हत्या नहीं करना चाहिये ।

(५) **वैर :**– हे आत्मन् ! परमात्मा को पाने में यह सबसे प्रमुख हेतु है कि किसी भी प्राणी के प्रति मन में वैर न हो । वैर रूपी काला नाग जिसे डस लेता है फिर उस जीव को वैर के कारण अपने शत्रु के आस–पास ही सदा बना रहना होगा । शुभ कर्म से स्वर्ग जाकर भी शत्रु भाव रखने वाला पुन: मुत्यु लोक में अपने प्रतिद्वन्द्वी के पास आकर जन्म धारण कर लेगा, क्योंकि उसकी उस शत्रु में वैर भाव से आसक्ति हो गई है । जो भक्त है उनका आचरण तो सब प्राणियों के लिये आत्मतुल्य ही होता है । **पण्डिताः समदर्शिनः ।**

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् । – गीता : १८/५४

भगवान कहते हैं कि हे आत्मन् ! मुझे चाहने वाला भक्त तो सब प्राणियों में निर्वैरता रखने के कारण मेरी अनन्य अव्यभिचारिणी पराभक्ति को प्राप्त कर लेता है । फिर उसके लिये –

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः । – गीता :१२/१८

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् । – गीता : १२/१९

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति । – गीता : १२/१७

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करूण एव च । –गीता : १२/ १३

शत्रु–मित्र, मान–अपमान, निन्दा–स्तुति, हर्ष–शोक रूप द्वन्द्व समान हो जाता है फिर वह किसी से न कोई आशा करता है न अपेक्षा से व्यवहार करता है, जिसके फल स्वरूप उसे अन्त में पश्चाताप करना पड़े । इस प्रकार वह सब भूत प्राणियों के प्रति द्वेष भाव से रहित हो सबको अभयता एवं प्रेम ही प्रदान करता है । ऐसा भक्त भगवान को विशेष प्रिय है ऐसी भगवान की घोषणा है ।

''यः स च मे प्रियः'' ''भक्तिमान्यः स मे प्रियः'' ।

''यो मद्भक्तः स मे प्रियः'' ''भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ।''

– गीता : अध्याय १२

हे आत्मन् ! जो सब प्राणियों के साथ छल रहित सरल व्यवहार करता है उस भक्त के प्रति भगवान अपने प्रिय भक्त शबरी को नवधा भक्ति के उपदेश प्रसंग में कहते हैं कि हे शबरी –

नवम सरल सबसों छलहीना,
मम भरोस हिय हर्ष न दीना ।

दूसरे प्रसंग में पुनः उसी स्वभाव को दर्शाते हैं ।

सरल सुभाव न मन कुटिलाई,
यह आचरण वस्य मैं भई ।

हे आत्मन् ! जो प्राणी मात्र में एक सम परमात्मा को भेद रहित देखता है वह तो जीवित अवस्था में ही बिना अन्य जप, तप, पूजा, पाठ, यज्ञ, योगादि साधन किये ही भवसागर से पार हो जाता है ।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।

– गीता : ५/१८

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ।।

– गीता : ५/१९

क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सर्वत्र सम है इसलिये ज्ञानी जन गौ, हाथी, कुत्ते, चाण्डाल तथा ब्राह्मण में एक निजात्मा का ही दर्शन अनुभव की आँख से करता है । वही ज्ञानी भक्त परमात्मा को विशेष प्रिय है । ऐसे ज्ञानी को परमात्मा अपनी आत्मा रूप में ही स्वीकार करते हुए कहते हैं –

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।।

– गीता : ७/१७

अर्थात् नित्य परमात्मा में एकीभाव से स्थित अनन्य प्रेम भक्ति वाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझको सब विषमताओं में भी एकरस रूप से, सब नाश होने वाले पदार्थों में भी अविनाशी रूप से जानने वाले ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है । हे अर्जुन ! मैं कहाँ तक उसकी प्रशंसा करूँ बस तुम संक्षेप में इतना ही जानलो कि वह ज्ञानी तो साक्षात् मेरा ही स्वरूप है ।

"उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।"

– गीता : ७/१८

अत: हे आत्मन् ! अखंड शान्ति पाने एवं दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति पाने हेतु किसी से मिथ्या धन, मकान, भूमि के बटवारे के लिये वैर नहीं रखना चाहिये । एक जन्म को नष्ट करने वाले सर्प विष से हम पचास हाथ दूर भागते हैं तब जो चौरासी लाख योनियों में भटकाने वाला वैर रूपी विष है उससे हमें कितना सावधान रहना होगा यह स्वयं सोचलें । वैर भाव रखने वाला साधक अपने इष्ट के अखंड, विराट्, सर्व व्यापक स्वरूप में ही शत्रु रूप अंग की कल्पना कर जन्म-मरण के चक्र में भटकते रहना पड़ेगा ।

"द्वितीयात् द्वै भयं भवति ।"

भेद भाव ही जन्म-मृत्यु रूप भय को देने वाला है ।

नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा, नान्योंऽतोऽस्ति श्रोता आत्मानन्यर्यभ्य मन्ता, नान्योऽतोऽ स्त विज्ञाता एष न आत्माऽन्तर्याभ्यमृतोऽन्यदार्तम् ।

इस आत्मा से पृथक् अन्य कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता तथा विज्ञाता नहीं है ।यह अन्तर्यामी अमृत स्वरूप अविनाशी परमात्मा ही अपना निज स्वरूप आत्मा है । अस्तु ! मुझ आत्मा से भिन्न जो कुछ भी द्रष्टिगोचर होता हैं वह रस्सी में भासने वाले सर्प अथवा स्वप्न में दिखने वाले नगर अथवा मरूभूमि में दिखने वाले जलाशय की तरह असत ही है ।

एकात्मके परेतत्त्वे भेदवार्ता कथं भवेत् ।
सुषप्तौ सुखमात्रायां भेदः केनाव लोकितः ।।

अध्यात्म उप. २५

जहाँ एक परमात्मा की सत्ता से भिन्न दूसरा कोई विषय वस्तु, तत्त्व ही

नहीं है, वहाँ भेद की सम्भावना काहाँ है ? सुषुप्ति में सुखानुभूति के अतिरिक्त किंचित् भी भेद दर्शन नहीं रहता, अतः भेद सत्य नहीं है ।

यस्यात् परं ना परमस्ति किंचित् ।। – श्वेता. उप ३/९

आत्म ब्रह्म से पर एवं अपर कुछ भी अन्य नहीं है ।

◆◆◆

काम, क्रोध, लोभ मुक्ति द्वार

हे आत्मन् ! जो मन बन्धन का हेतु है वही मन मुक्ति प्रदायक भी है । मन से ही बन्धन एवं मुक्ति है । देह में अहंता–ममता करके मन बन्धन को एवं न मैं देह हूँ, न मेरा देह है इस निश्चय द्वारा मुक्ति प्राप्त की जा सकती है ।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयो । (पराशर)

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत ।
कहे कबीर हरि पाइये, मन ही के परतीत ।।

– (कबीर)

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।।

– गीता : १६/२१

काम, क्रोध तथा लोभ ये तीन प्रकार की मनोवृत्तियाँ अज्ञानी को देह में ही सत्य एवं सुख बुद्धि करा अधोगति की प्राप्ति में हेतु होने से नरक के द्वार रूप जानना चाहिये । किन्तु जो मुमुक्षु देह में सुख एवं सत्यत्व बुद्धि का परित्याग कर काम, क्रोध, लोभादि वृत्तियों का जीवन निर्वाह के लिये साधारण रूप में उपयोग करता है ।

आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततोयाति परांगतिम् ।

– गीता : १६/२२

एवं इन्हीं काम, क्रोध तथा लोभ रूप मनोवृत्तियों को अपने कल्याणार्थ आत्मभावोपलब्धि के लिये विशेष रूप से उपयोग करता है तो वह इन्हीं तीनों वृत्तियों के सदुपयोग द्वारा परमगति रूप मोक्ष को ही प्राप्त होता है ।

राम नाम मणि दीप धर जीह देहरी द्वार ।
तुलसी भीतर बाहरो जो चहसी उजियार ।।

जैसे घर के दो कमरों के मध्य देहरी पर यदि दीपक रख दिया जाय तो वह दोनों ओर उजियारा करने में सहायक होता है । इसी प्रकार विवेक द्वारा इन काम, क्रोध, लोभ वृत्तियाँ लोक एवं परलोक प्राप्ति में सीढ़ी के रूप में सहायक होती है । इनकी सहायता से हम विषयों से वैराग्य कर आत्म चिन्तन कर मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं एवं केवल अनित्य विषय भोगों में सुखबुद्धि कर अधोगति भी प्राप्त कर सकते हैं । शक्तिका उपयोग अथवा दुरुपयोग ही केवल किया जा सकता है, किन्तु इच्छा शक्ति का नाश नहीं हो सकता है । यदि इच्छा ही मन से समाप्त हो जावे तो फिर मुक्ति की भी इच्छा कैसे उदय होगी ?

हे आत्मन् ! अहंता–ममता बुरी नहीं है । परमात्मा ने इस देह मन्दिर में प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि जितनी भी वस्तुएँ प्रदान किये हैं कोई भी व्यर्थ नहीं है । सर्वज्ञ अंशी परमात्मा द्वारा अंश जीव के नाश हेतु देह रूप घर में किंचित् भी सामान नहीं दिया गया है । भला कौन बाप अपनी संतान के नाश का सामान घर में लाकर रखेगा ? अस्तु परमात्मा ने जो कुछ भी दिया है वह बहुत उपयोगी है । तब प्रश्न उठता है कि फिर संत मंच पर बैठ हजारों की सभाओं में क्यों चिल्लाते रहते हैं कि काम छोड़ो, क्रोध छोड़ो, लोभ छोड़ो, अहंकार छोड़ो ?

हे आत्मन् ! संत शास्त्रों का तात्पर्य इन काम, क्रोध, लोभ, मोह,

अहंकारादि वृत्तियों के सर्वथा नाश में नहीं है, बल्कि इन वृत्तियों के सदुपयोग करने में है । परमात्मा की बड़ी कृपा है जो उन्होंने हमारे हृदय में अहंता-ममता को उत्पन्न किया । यदि हमें यह साधन सम्पत्ति नहीं दी होती तो फिर देव दुर्लभ मानव शरीर भूखा ही पड़ा रहता, कहीं भी टकराकर मर जाता तथा संसार में किसी भी कार्य करने में हम बिल्कुल समर्थ भी नहीं हो पाते ।

हे आत्मन् ! यदि कोई अपने जीवन से काम, क्रोध, लोभ, अहंकारादि का परित्याग करदे जो कि असम्भव ही है तो मोक्ष की बात कौन कहे, उसके लिये जीवन निर्वाह भी दुर्लभ हो जायेगा, क्योंकि इन कामादि तीनों वाहनों की मदद से ही तो जीवन निर्वाह, परिवार पालन, देश समाज, प्राणी की रक्षा कर सकेगा अन्यथा इस बेचारे जीव की कभी संसार दुःखों से मुक्ति भी नहीं हो सकेगी ।

हे आत्मन् ! बिजली का आविष्कार हमारे जीवन के लिये बहुत उपयोगी है । आज गाँव-गाँव में प्रकाश, रेडियो, दूरदर्शन यंत्र, टेलीफोन, ट्राम, ट्रेन, बर्फ, ठंडक-गर्मी, रोग निवारणार्थ यंत्र आदि उपलब्ध हो रहे हैं । अब कोई मूर्ख अपनी दोनों अगुंलियों को बिजली के पाईन्ट प्लग के छिद्र में डाल दे एवं मर जावे तो इसमें उसकी बुद्धि का ही दोष है बिजली का नहीं । फिर इस संसार की प्रत्येक वस्तु में गुण-दोष छुपा है । संत, हंस स्वभावी होकर सार को ग्रहण करते हैं एवं असार की ओर से दृष्टि हटालेते हैं ।

जड़ चेतन गुण दोषमय, विश्व कीन्ह करतार ।
संत हंस गति गहई पय, परिहरि बारि विकार ।।

हे आत्मन् ! अहंता-ममता, कामना-विश्व में सबसे बड़ी उपयोगी वस्तु है । किन्तु अहंता-ममता, कामना किससे करना चाहिये यह हम नहीं जानते हैं । वैश्या से प्रेम कर उसे प्रसन्न कर भी लोगे तो वह नरक के सिवाय

आपको और ज्यादा क्या दे सकेगी ? फिर जो नरक ले जाने वाले, दु:ख देने वाले, रुलाने वाले हैं उनसे अहंकार-ममता करेंगे तो इसमें काम, क्रोध, लोभ, अहंकारादि का क्या दोष है । हमारी नासमझी ही हमारे दु:ख उत्पत्ति का हेतु है ।

हे आत्मन् ! ममता करना है तो स्व से, आत्मा से, संत से करो । कामना करना हे तो मोक्ष के सद्गुणों की करो । अहंता करना है तो अपने शिवोऽहम्, अहंब्रह्मास्मि स्वरूप में करो ।

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्यं हरो विद्द्यतोयान्ति तन्मयतां हि ते ।।

– शुक उवाच रासपञ्चाध्यायी : १/१५

हे आत्मन् ! काम, क्रोध, भय, स्नेह, अपनत्व यदि करना है तो परमात्मा के साथ करें । शुभ सत्य वस्तु से किसी भी प्रकार सम्बन्ध हो जाने से वह मंगल रूप होने से कल्याण का ही हेतु है । हे आत्मन् ! अवतारी, महात्मा हो अथवा कोई भी देहधारी पापात्मा हो वह बिना प्राण के जीवित नहीं रह सकता है । उसी प्रकार कोई भी जीव बिना काम, क्रोध, लोभ, भय, अहंकार ममता के भी जीवित नहीं रह सकता है । उपरोक्त सभी मनोवृत्तियाँ जीव को जीवनोपयोगी निधि के रूप में जन्म से मृत्यु पर्यन्त परमात्मा की ओर से अधिकार रूप में साथ मिली है । कोई भी मनुष्य मृत्यु के पूर्व इन्हें छोड़ सकता है ।

हे आत्मन् ! काम, क्रोध, लोभ, भय, अहंकार ममतादि मात्र अन्तःकरण की मनोवृत्तियाँ ही है एवं अन्तःकरण धर्मी के रहते उस के धर्म रूप वृत्तियाँ नष्ट नहीं की जा सकती । अग्नि के उष्ण स्वभाववत् वे रहेंगी । क्योंकि धर्मी-धर्म का नित्य सम्बन्ध होता है । अन्तःकरण धर्मी है वृत्तियाँ उसका धर्म है, यदि अन्तःकरण नष्ट करेंगे तो वृत्तियाँ भी नष्ट

होगी फिर बिना मन के शरीर रक्षा न होने से जड़वत् शरीर हो तत्काल मृत हो जावेगा ।

हे आत्मन् ! मन सूक्ष्म पंचभूतों के मिलित सात्विक अंश का कार्य है एवं प्राण सूक्ष्म पंच महाभूतों के मिलित राजस अंश का कार्य है । यह प्रकृति का नियम है कि धर्म का अभाव उसके कारण धर्मी के रहते कभी नहीं किया जा सकता है । यदि देह रहेगा तो पंचभूत रहेंगे एवं पंचभूत रहेंगे तो उनका कार्य मन, इन्द्रिय तथा प्राण भी रहेंगे । हे आत्मन् ! जब अन्तःकरण एवं प्राण रहेंगे तो फिर उनका धर्म काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, भय, अहंता-ममतादि वृत्तियाँ भी रहेंगी । यदि आप चाहें कि देह रहे तो प्राण को इन्कार नहीं कर सकते हैं एवं जब प्राण को स्वीकार करेंगे तो फिर मन एवं उसकी वृत्तियों का भावाभाव, गमनागमन देह पर्यन्त बना ही रहेगा ।

हे आत्मन् ! जब अवतारी महापुरुषों के जीवन में मनुष्य से अनन्त गुण ज्यादा काम, क्रोध, लोभ, मोह होकर भी उनके ज्ञान एवं नित्य आनन्द स्वरूप को वे कलुषित नहीं कर सके, तब फिर आत्मज्ञान प्राप्त कर लेने वाले ब्रह्मरूप (ज्ञानी) के ज्ञान को अल्प काम, कोध, लोभ आदि मनोवृत्तियाँ उस ज्ञानी को कैसे नष्ट कर सकेंगे ? कैसे स्वर्ग, नरक की प्राप्ति करा सकेंगे ? नरक प्राप्ति के तो वे पामर विषयी लोग ही अधिकारी है जो अपने सच्चिदानन्द आत्मराम से विमुख होकर सकाम कर्म कर इन्द्रिय विषयों में ही सुक मान जीवन नष्ट कर रहे हैं ।

अत: हे आत्मन् ! काम, क्रोध, लोभादि परमात्मा प्रदत्त इन दिव्य कल्याणकारी शक्तियों का हम सदुपयोग कर मोक्ष लाभ करें । न कि काम, कोध, लोभ रूप शक्तियों के नाश करने में संत, शास्त्र, का अभिप्राय है । फिर प्रकृति विज्ञान का सिद्धान्त भी है कि शक्ति (अर्थात् काम, क्रोध, लोभादि) का रूपान्तर तो किया जा सकता है किन्तु इनका नाश तो कदापि सम्भव नहीं

है ।

हे आत्मन् ! यदि काम, क्रोध, लोभ, मोह वृत्तियाँ भगवान, सद्गुरु एवं उपदेशक संतों के मन से ही समाप्त हो जाते तो फिर वे अपना लोक आश्रम छोड़ गाँव–गाँव जा कष्ट पाकर, अपमान सहकर भी बार–बार अपने शिष्यों को उपदेश, प्रेम एवं अवज्ञा पर क्रोध कैसे कर पाते ? कदापि नहीं । शुकदेव, व्यास, जनक, याज्ञवल्क्य एवं वर्तमान सद्गुरु द्वारा ज्ञान परम्परा की रक्षा उनके मन के काम, क्रोध, तथा लोभादि परमात्मा इन की दिव्य शक्तियों का ही परिणाम है, अन्यथा इन दिव्य शक्तियों के अभाव में ज्ञान परम्परा एवं संत परम्परा का ही अभाव हो जाता एवं मूढ़ विषयी पामर जीव को नरक से निकाल उन्हें कोई आत्म कल्याण मुक्ति का मार्ग बताने वाला ही नहीं मिलता ।

अत: उठो जागो ! एवं श्रेष्ठ महापुरुषों के समीप मोक्ष की तीव्र **कामना** एवं वर्तमान पापी जीवन से **घृणा** एवं **क्रोध** करें तथा परमानन्द का **लोभ** रख उनके, सद्गुरु के चरणों में **मोह** कर अपना कल्याण शीघ्रातिशीघ्र करलें ।

ज्ञानादेव तु कैवल्यम्

''ऋते ज्ञानान्न मुक्ति:'', ''ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै:''

इस प्रकार की घोषणा अनेक श्रुतियों में भी की गई है कि ''ज्ञान से ही मोक्ष होता है'', ''उस आत्मा को जानकर ही मृत्यु से पार होकर मोक्ष को प्राप्त हो सकते हैं'', ज्ञान के सिवा अन्य कोई मार्ग मोक्ष अनुभूति कराने में समर्थ नहीं है । ''ज्ञान मोक्षप्रद वेद बखाना'' ।

इस प्रकार स्मृति में भी कहा है कि आत्म ज्ञान बिना केवल पूजा, पाठ, जप, तप, कर्मादिकों द्वारा मोक्ष नहीं हो सकता । उसका कारण यह

है, कि वो सभी निष्काम साधन केवल अन्त:करण की शुद्धि कराने मात्र में समर्थ है लेकिन मोक्ष प्राप्ति का कारण तो एकमात्र ज्ञान ही है ।

जैसे हलवे (सीरे) हेतु आटा, घी तथा चीनी की आवश्यकता समान है, किन्तु बिना पानी, अग्नि के हलवा सिद्ध नहीं हो सकता । उसी प्रकार बिना ज्ञान के मोक्ष भी दुर्लभ है । इसलिये हे आत्मन् ! तू अपने स्वरूप का ज्ञान कर, उसी से मोक्ष सम्भव हो सकेगा । अन्यथा करोड़ों उपाय कर ले यह तेरा अनादिकालीन भ्रम न आज तक दूर हुआ है और न आगे भी दूर हो सकेगा । अत: तू अपने स्वरूप के ज्ञान द्वारा जन्म-मरणादि दु:ख भ्रान्ति से मुक्त हो जा ।

उस ज्ञान हेतु श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाना होगा । उनकी सेवा कर प्रथम प्रसन्नता प्राप्त करें फिर जिज्ञासु भाव द्वारा प्रश्न कर, अपने जन्म-मरण के दु:ख के कारण अज्ञान की निवृत्ति हेतु प्रार्थना करें । जब वे उपेदश करेंगे, उसे ग्रहण करना होगा, तब तू भव बन्धन से मुक्त हो सकेगा । जो सद्गुरु आत्मा का उपेदश करता है उसके वचनों में दृढ़ श्रद्धा, विश्वास, रखने से ही ज्ञान होगा एवं जन्म-मरण का दु:ख दूर हो सकता है । अगर किसी अद्वैतवादी गुरु की शरण ग्रहण न कर किसी भेदवादी गुरु की शरण ग्रहण करली तो फिर उसके द्वारा जन्म-मरण की जंजीर और दृढ़ ही होगी, वह जीव बन्धन से छूट नहीं सकेगा । क्योंकि भेदवादी गुरु के पास जन्म-मरण से छुटाने हेतु कोई सदुपदेश तो होता नहीं वह केवल बाह्य नाम, रूप की स्थूल साधना का ही उपदेश करना जानता है जो सब प्रपंच माया मात्र है ।

कनफूंका गुरु हद का, बेहद का गुरु और ।
बेहद का गुरु जब मिले, लगे ठिकाना ठौर ।।

हे आत्मन् ! त्रिगुणात्मिक नाम रूप की साधना जीव को निस्त्रैगुण्य कैसे कर सकेगी ? अत: कोई भी साधक नाम, रूप, उपासना द्वारा संसार के

असहनीय दु:खों को दूर नहीं कर सकेगा । जब कभी पूर्व जन्म के पुण्यों का पुन्ज उदय होगा तब ईश्वर कृपा से फिर कोई सत्य पथ पर चलाने वाला ज्ञानवान, अद्वैतवादी, ब्रह्मवादी गुरु मिलेगा तब वह उपदेश करेगा । अरे भैया ! ये भेदवादी जो केवल तन, मन, धन मात्र हरण करने वाले हैं । उनकी सेवा, शरणागति से शोक, मोह एवं जन्म-मरण रूपी दु:खों की आत्यान्तिक निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है क्योंकि -

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।

- गीता : २/४५

बन्धे को बन्धा मिले, छुटे कौन उपाय ।
कर सेवा निरबन्ध की, पल में लेत छुड़ाय ।।

स्वयं जिसने उस परमात्मा का साक्षात्कार नहीं किया है वे दंभी, लोभी गुरु मनोकल्पित साधन बता भोले जीवों को अपने शिष्य बना अज्ञान अन्धकार रूपी द्वैत मार्ग में भ्रमित कराते रहते हैं एवं अपना स्वार्थ सिद्ध करते रहते हैं । ऐसे भेदवादी, द्वैतवादी गुरुओं को ज्ञान रूपी सूर्योदय का होना दु:ख स्वरूप होता है । क्योंकि ज्ञान रूपी सूर्योदय होते ही उनके शिष्य फिर उनके धोखे में नहीं फँस सकेंगे । अत: वे अपने शिष्यों को सदैव सत्यपथ आत्मज्ञान से वंचित रख द्वैत उपासना ही में ही लगाये रहते हैं एवं उन्हें अपने पास से अन्य सत्यवादी संत के पास जाने नहीं देते हैं । अतः अपने कल्याणार्थ ऐसे झूठे गुरुओं को त्यागकर किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वैराग्य वान तथा परम दयालु गुरु की शरण में जाने में देर न करें । श्री संत कबीर कहते हैं -

झूठे गुरु अजगर बने, लख चौरासी जाय ।
शिष्यगण चींटी बन, नोंच नोंच के खाय ।।

अत: हे आत्मन् ! किसी श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाकर निष्कपट भाव से निष्कामता से मन, वचन, कर्म से उसकी सेवा करें । जिससे वे तुम्हारी सेवा पर प्रसन्न होकर तुम्हारा जन्म–मरण का फेरा समाप्त करा देंगे । तुम्हारा जो कुछ दु:ख होगा वह दूर करने का तुम्हें उपाय बता देंगे ।

सभी जीवों को एक मात्र यही दुःख है कि वह संसार में दैहिक, दैविक, भौतिक अर्थात् आध्यात्मिक, अधिदैव तथा अधिभूत इन तीनों तापों के ताप से इस प्रकार तप रहे हैं जैसे कोई ग्रीष्मकालीन मध्यान्ह काल में नंगे पैर, नंगे बदन खुले आकाश में सूर्य के ताप के समान तप रहा हो । अत: समस्त अहंकार का त्याग कर शम, दमादि साधनों से युक्त होकर सद्गुरु श्रीमुख से वेदान्त महावाक्यों का श्रवण, मनन, ध्यान द्वारा अपने कल्याण का विश्वास रखना चाहिये ।

हे आत्मन् ! जो तू यह स्थूल देह देख रहा है यह तू नहीं है, यह तो दृश्य है, तू तो इसका द्रष्टा है याने देखने वाला आत्मा है तू दिखाई पड़ने वाला शरीर नहीं । प्राण क्रिया रूक जाने पर लोग इस देह को जलाकर या गाड़कर राख मिट्टी बना देते हैं । यह देह तो किसी कर्म फल को भोग नहीं सकता; क्योंकि यह तो जड़ है और तू उसका साक्षी आत्मा पूर्ण चैतन्य, व्यापक आकाश की तरह समस्त क्षेत्र में स्थित है । तेरा आना–जाना सम्भव नहीं है । तथा कर्म के फल का भोक्ता भी तू नहीं है क्योंकि यह वेद का सिद्धान्त है कि जो कर्म का कर्ता होता है वही सुख–दु:ख रूपी कर्म फल को भोगता है । अत: तू कर्मों का कर्ता नहीं है इसलिये कर्म फलों का भोक्ता भी तू नहीं है । अब बाकी रहा चिदाभास रूप जीव संयुक्त सूक्ष्म देह वही पाप–पुण्य रूप कर्म के सम्बन्ध से ऊँच–नीच योनियों में भ्रमण करता हुआ जन्म–मरण का दु:ख भोगा करता है ।

आकर लक्ष चार चौरासी ।
योनि भ्रमत यह जीव अविनाशी ।।

हे आत्मन् ! इस सूक्ष्म शरीर धारी जीव का भी अपने वास्तविक सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा के अभेद ज्ञान द्वारा नाश हो जाता है । गुरु उपदेश द्वारा प्राप्त स्वरूप ज्ञान से समस्त संचित् तथा क्रियमाण (आगामी कर्म) ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध होकर निर्बीज हो जाते हैं । प्रारब्ध भोग पूरा होते ही स्थूल देह भी गिरकर हमेशा के लिये समाप्त हो जाता है । इस प्रकार ज्ञानोदय पश्चात् कर्म का कर्ता-भोक्ता जीव भी नहीं रह जाता है । यह सब ज्ञानोदय से पूर्व ही का झगड़ा है बाद में तो एक अद्वितीय ब्रह्म के सिवा कुछ शेष नहीं रहता । जब सभी कर्म जलकर भस्म हो जावेंगे और कर्म का कर्ता-भोक्ता जीव ही नहीं रहेगा तब फिर जन्म-मरण किसका होगा ? इसलिये जीव देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार में से अहं बुद्धि त्यागकर समस्त के प्रकाशक सच्चिदानन्द, नित्य, मुक्त, अकर्ता, अभोक्ता, मैं आत्मा हूँ ऐसा ज्ञान सम्पादन करना चाहिये । क्योंकि इसी ज्ञान से मोक्ष होता है और इस जीव-ब्रह्म की एकता रूपी ज्ञान के सिवा जन्म-मरण को दूर करने की किसी में सामर्थ्य नहीं है ।

हे आत्मन् ! तू यह चिन्ता न कर कि अनादिकाल का देहाध्यास, अज्ञान को दूर करने में समय तथा श्रम भी बहुत होगा । नहीं ! ऐसा नहीं है । ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित होने पर समस्त अज्ञान जन्य कर्म सूखे तृण की तरह जलकर तत्क्षण शान्त हो जावेंगे । जैसे सूर्योदय होते ही समस्त अंधकार विलीन हो जाता है । उसी प्रकार ज्ञानोदय होते ही अज्ञान एवं अज्ञानजनित समस्त कर्म जलकर भस्म हो जावेंगे । उसमें देर नहीं लगेगी देरी तो केवल ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होने तक ही है बाद में नहीं ।

जैसे किसी गुफा में अनादिकाल का अंधकार है उसमें कभी प्रकाश पहुँचा नहीं । यदि आप वहाँ के अंधकार को विलीन करने हेतु नाना प्रकार के जप, तप, पूजा, पाठ, यज्ञ रूप साधन करें या लकड़ी, तलवार, गोली आदि से मार भगावें तो क्या वह अंधकार जा सकता है ? कदापि नहीं, किन्तु जरा सी मशाल जलादें तो उस गुफा का अनादिकाल का अंधकार एक क्षण में ही

नष्ट हो सकता है । फिर वह अंधकार यह नहीं कहता है कि मैं बहुत पुराना हूँ, नहीं जाऊँगा, क्योंकि उस अंधकार का विरोधी प्रकाश प्रगट हो गया है तब फिर अंधकार कहाँ रह सकता है ? जैसे सूर्यादय के बाद घोर अंधकार नहीं रह सकता उसी प्रकार अनन्तकाल का अज्ञान तथा उसके द्वारा उत्पन्न देहाध्यास भी आत्म ज्ञान द्वारा दूर हो जाता है ।

हे आत्मन् ! प्रारब्धानुसार कर्म होते हुए भी जिस क्षण अहं ब्रह्मास्मि ऐसा महावाक्य का प्रत्यक्ष ज्ञान रूपी प्रकाश उदय होगा उसी क्षण वह अनादिकालीन अज्ञान के कार्य देहाध्यास की निवृत्ति हो जावेगी । इसमें वेद के वचन प्रमाण हैं – ''ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्व पाशैः'' तथा ''ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति'' आत्मा को जानकर समस्त बन्धन निवृत्त हो जाते हैं तथा ब्रह्म को जानने वाला परमपद को प्राप्त करता है ।

''तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय''

– श्वेता. उप. ६/१५

उस आत्मा को जानकर ही मृत्यु को जीत सकता है । मोक्ष के लिये ज्ञान के सिवा अन्य कोई मार्ग नहीं है । उसी ज्ञान से सर्व पापादिक कर्मों का नाश हो जाता है । भगवान श्रीकृष्ण प्रिय सखा अर्जुन को यही उपदेश करते हैं ।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरूतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरूते तथा ।।

– गीता : ४/३७

हे अर्जुन ! जिस प्रकार प्रज्वलित हुई अग्नि समस्त काष्ठों को जलाकर भस्मरूप कर देती है उसी प्रकार निरन्तर स्वरूप अभ्यास की प्रबल ज्ञानाग्नि से सर्व कर्म भस्म हो जाते हैं ।

इदं तीर्थं इदं तीर्थं भ्रमन्ति तामसा जनाः ।

आत्मतीर्थं न जानन्ति कथं मुक्ता बरानने ।।

– ज्ञान संकलन तन्त्र : ४१

मूढ़ प्रकृति के मानव ही तीर्थों में भ्रमण करता फिरता है किन्तु मुक्ति लाभ नहीं कर पाता क्योंकि आत्मतिर्थ जो स्वयं है उसका उसे पता नहीं है ।

उपेक्ष्य तन्तीर्थ यात्रां, जपादीनेष कुर्वताम् ।
पिण्डं समुत्सृज्य करं लढ़ी तिन्याय आपतेत ।।

– पंचदशी १/१३०

जो आत्म तीर्थ की उपेक्षा करके बाह्य तीर्थ की यात्रा करते रहते हैं और जप, तप, होम, यज्ञादि परायण होते हैं वे हस्तगत खाद्य परित्याग करके करतल चाटते हैं ।

नीर–क्षीर विवेकी

इस शरीर रूपी नगरी में ही आत्म पुरुष रूपी राजा राज्य करता है । अस्तु इस आत्म ज्ञान के लिये इस देह नगरी में जीव प्रवेश कर मन, बुद्धि, इन्द्रिय, अवस्था का परिचय करे । फिर सबके अन्त में स्थित साक्षी आत्मा रूपी राजा से समागम होकर ही यह जीव अनादि अज्ञान दोष एवं जन्म–मरण रूप दु:ख से मुक्त हो सकेगा । अत: आत्म ज्ञान हेतु देह ज्ञान आवश्यक है । देह एवं आत्मा का यथार्थ स्वरूप जान लेने से सत्य आत्मा से अनुराग एवं मिथ्या देह से वैराग्य होकर उसमें अहंता–ममता दूर हो जावेगी तब इसी जीवन में इसी शरीर में इस जीव को उसीक्षण परमानन्द स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति हो सकेगी ।

यद्यपि शास्त्रों, श्रुति, स्मृति, पुराणों, उपनिषदों में यह सब तत्त्व लिखा हुआ है उसे पढ़ भी सकते हैं किन्तु उनका मर्म किसी श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरु द्वारा ही जाना जा सकता है । शास्त्रों को अपने मन से

पढ़कर तत्त्व दर्शन नहीं हो सकता । आत्म बोध इच्छुक मुमुक्षु को सद्गुरु के वचन पर विश्वास करते हुए एकाग्र मन से श्रवण करना चाहिये तथा उस श्रवण किये विषय का युक्ति पूर्वक मनन व निदिध्यासन करना चाहिये । अर्थात् एकाग्र चित्त द्वारा गुरुमुख से शब्दों के तात्पर्य सहित वेदान्त शास्त्रों का श्रवण करना तथा उस श्रवण किये हुए उपदेश को युक्ति तथा दृष्टान्त से जिस तरह संशय रहित हो सके उसी रीति से मनन करना चाहिये । गाय एवं बन्दर जैसे तृप्ति हेतु खाने के बाद बैठकर पुन: उस भोजन को मुंह में लाकर चबाते हैं उसी प्रकार ज्ञानाभिलाषी मुमुक्षु को एकान्त में बैठकर उसका निदिध्यासन करने से बोध रूपी तृप्ति होती है ।

वेदान्त के महावाक्यों का बारम्बार विचार करने से अर्थात् ''अहं ब्रह्मास्मि'', ''तत्त्वमसि'' आदि का विचार करने से अभेद ज्ञान का तात्पर्य समझ में आता है, उससे आत्म ज्ञान पुष्ट होता है । उस तरह मनन करने के बाद सजातीय प्रत्यय के प्रवाह और विजातीय प्रत्यय का तिरस्कार रूप निदिध्यासन करना चाहिये । जिससे हमें आत्मा का मैं रूप में अनुभव निरन्तर होता रहे । सजातीय प्रत्यय का प्रवाह याने सत्, चित्, आनन्द, कूटस्थ, अक्रिय, अजर, अमर, पूर्ण, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त रूप मैं आत्मा हूँ । यह ज्ञान रूप वृत्ति का प्रवाह सतत रखना चाहिये । तथा विजातीय वृत्ति प्रवाह का तिरस्कार याने देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र, बाल, युवा, वृद्धा, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ,संन्यासी, पुरुष, स्त्री, दु:खी, सुखी, कर्ता, भोक्ता, जन्म-मृत्यु वाला मैं नहीं हूँ । इस प्रकार ज्ञानपूर्वक देहाध्यास का बारम्बार तिरस्कार करने से देहात्म बुद्धि नष्ट होकर मैं आत्मा, निर्विकार, शुद्ध, ब्रह्म स्वरूप हूँ । ऐसा साक्षात आत्मा का मैं रूप में अपरोक्ष ज्ञान हो जावेगा । फिर अपने आत्म स्वरूप में किसी प्रकार का सन्देह ही नहीं रहेगा । परन्तु प्रथम बन्धन को पहचानना आवश्यक होगा तभी तो उसे दूर करने के उपाय कर सकेंगे । यदि बन्धन ही नहीं

जाना तो उसकी निवृत्ति किस साधन से होगी एवं उसकी निवृत्ति भी हुई या नहीं यह भी ज्ञात न हो सकेगा । अत: वह बन्धन का स्वरूप सर्व प्रथम जानना जरूरी है ।

मैं अरु मोर तोर ते माया ।
जेहि वश किन्हे जीव निकाय ।।

अहं ममत्वं बंधो नाहं ममेति मुक्तता ।।

यह देह मैं हूँ और यह देहादिक मेरा है ऐसा जानना ही बन्धन का स्वरूप है । यह बन्धन निज स्वरूप बोध के अज्ञान के कारण ही होता है अर्थात् स्वरूप का अज्ञान होना ही बन्धन का सार भूत (हेतु) कारण है तथा देह मैं नहीं, देह सम्बन्धित कार्य मेरे नहीं हैं इस प्रकार देहादिक में अहंता-ममता की जो निवृत्ति होती है वही मोक्ष का स्वरूप है । जहाँ तक मैं-मेरा, तू-तेरा है वहीं तक माया है एवं जहाँ तक माया है वहाँ तक बन्धन है । अत: इस मैं-मेरे, तू तेरे को समाप्त कर एक ब्राह्मी दृष्टि का प्राप्त होना मुक्ति है । आत्माकार वृत्ति का प्राप्त होना ही ब्राह्मी स्थिति है । वही आत्म साक्षात्कार ईश्वर दर्शन सहज समाधि अथवा परमानन्द प्राप्ति है ।

जड़ चेतन गुण दोष मय, विश्व कीन्ह करतार ।
संत हंस मति गहहि पय, परिहरि बारि विकार ।।

देह भाव रूप असार तत्त्व को स्वीकार न कर आत्म भाव को ही ग्रहण करते है । जैसे हंस नीर क्षीर के मिश्रण में से केवल दूध को ही ग्रहण करता है जल को नहीं । इसी प्रकार विवेकी साधक हंस मति के होते हैं ।

है आत्मन् ! मैं आत्मा के साथ मेरा सम्बन्ध जुड़ जाने से यह जीव संज्ञा को प्राप्त होकर दुःख एवं बन्धन को प्राप्त होता है ।

जब यह जीव सद्गुरु उपदेश द्वारा मेरा से मैं को पृथक असंग साक्षी रूप से जान लेता है तभी इसकी मुक्त एवं ब्रह्म संज्ञा हो जाती है ।

मैं + मेरा	=	जीव	संसार बन्धन एवं दुःख प्राप्ति ।
मेरा – मैं	=	ब्रह्म	मुक्त एवं परमानन्द स्थिति ।
I + My	**=**	**Jiva**	
My - I	**=**	**Brahma**	

◆◆◆

काहेरे वन खोजे भाई

एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये सएवाग्निः सलिले संनिविष्टः ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।

– श्वे. उप. ६/१५

''को देव: यो मन: साक्षी'' यह स्मृति का पद मन का साक्षी आत्मा को देवरूप बताता है । श्वेताश्वतर उपनिषद की श्रुति भी – ''एको देव: इति श्रुते:'' चींटी से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त समस्त भूतों में एक ही देव अर्थात् स्वयं प्रकाश चैतन्य अद्वितीय आत्मा रहता है । फिर भी सत्–असत् विचार रहित अज्ञानी मनुष्य माया द्वारा रचित नाम, रूप में मोहित हुई बुद्धि के कारण अपरोक्ष रूप (साक्षात्) आत्म देव को नहीं जान सकता । इसीलिए इस आत्म ज्ञान को राज विद्या, परम गुह्य, परम पवित्र, प्रत्यक्ष फल रूप कहा है । वह देव सभी के हृदय में स्थित माया उपाधि से ईश्वर रूप हो कर्मों का फल प्रदाता, भूतों का अधिष्ठान, सभी जीवों का साक्षी, द्रष्टा, चैतन्य, निर्गुण, सत्य एवं आनन्द रूप है । इसलिये हे मुमुक्षुजनों ! मन, बुद्धि का साक्षी आत्मा ही परमात्मा है । वह परमात्मा मुझसे भिन्न नहीं है ऐसी दृढ़ ब्रह्म आत्म भावना मुमुक्षु को करना चाहिये । क्योंकि द्वैत भावना से भय की अर्थात् जन्म मरण की उत्पत्ति होती है । भागवत में भी कहा है – ''भयं द्वितीया भिनिवेशत:

स्यात्'' अर्थात् जीव-ब्रह्म भेद बुद्धि का आग्रह करने से जन्म-मरण रूप दुःख प्राप्त होता है । इसलिये अद्वैत बुद्धि हेतु वेदों के महावाक्यों का श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु से श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन कर उसके तात्पर्य को समझना चाहिये ।

''आत्मा वा अरे, द्रष्टव्यो, श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्य''

एको देवः सर्व भूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्व भूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्व भूताधिवासः साक्षी चेताकेवलो निर्गुणश्च ।।

- श्वे.उप. : ६/११

हे मैत्रेयी ! आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है । आत्मा का ज्ञान हो जाने पर कुछ भी करना शेष नहीं रहता ।

जब तक बाह्य शब्दादिक विषयों में चित आसक्त है तब तक मोक्ष प्राप्ति कठिन है । अतः समस्त विषयों को विष के समान त्यागकर किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु की एकमात्र शरण ग्रहण कर श्रवण, मननादि द्वारा आत्मा साक्षात्कार संपादन करना बस यही मोक्ष प्राप्ति का मुख्य साधन है । इसलिये सत्संग निरन्तर करते रहना चाहिये । जिससे अपने आत्म पद में सोऽहम् रूप स्थिति लाभ हो सकेगी तथा संसार के पदार्थ मन में आसक्ति उत्पन्न नहीं कर सकेंगे । जिसके फल स्वरूप जीवन में क्षमा, दया, संतोषादि साधनों की प्राप्ति हो सकेगी ।

लेकिन प्राप्त आत्म ब्रह्म भी सभी को अविद्या के कारण अप्राप्त की तरह प्रतीत हो रहा है । जो नित्य प्राप्त है उसके लिये अज्ञानवशतः कितने जिज्ञासु जप, तप, तीर्थाटन, यम, नियम, संयम, ब्रह्मचर्य, संन्यास आदि अनेक साधनों का अनुष्ठान भी करते हैं । फिर भी उस नित्य प्राप्त आत्म ब्रह्म की प्राप्ति बाह्य किसी साधन से नहीं हो पाती है । जब यह जीव कोई दयालु श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु परमात्मा का प्रत्यगात्मा रूप से, सोऽहम्

रूप से उपदेश श्रवण करेगा तब ही उस ब्रह्म विद्या के उपदेश द्वारा परम शान्ति को प्राप्त हो सकेगा । फिर मैं दु:खी हूँ, मैं कर्ता-भोक्ता जीव हूँ, मैं साधन द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करूँगा इस भ्रम रूप अविद्या की पूर्णतया निवृत्ति हो जाने से घर की वस्तु घर में ही रखी हुई प्राप्त की तरह प्रतीत होती है ।

हे आत्मन् ! अविद्या नाश से पूर्व परमात्मा की प्राप्ति नहीं थी एवं अविद्या के नाश होने से मुक्ति, आनन्द, अथवा परमात्मा की प्राप्ति हुई, ऐसा नहीं समझें । वह ब्रह्म तो अज्ञानी को अविद्या रहने पर भी पूर्ण रूप से प्राप्त ही था, हैं तथा रहेगा । सतगुरु द्वारा अविद्या के नाश होने पर भी अन्य कोई नूतन तत्त्व रूप से प्राप्ति नहीं होती है । वह सच्चिदानन्द परमात्मा तो ज्यों का त्यों प्रत्येक प्राणी में हर समय त्रिकालाबाध रूप में स्थित है । क्या नास्तिक में, क्या आस्तिक में वह तो असंग ही है ।

ब्रह्म प्रथम जीव रूप से रहता हो एवं ज्ञान हो जाने पर परमात्मा रूप से हो जाता हो, ऐसा भी नहीं है । ऐसा भी नहीं है कि अविद्या के समय बन्ध था व ज्ञान होने पर मुक्त हुआ है । वह ब्रह्म तो निरन्तर अचिन्त्य, चैतन्यघन, परिपूर्ण, प्रत्यगात्मा असंग ही रहता है । ऐसा भी नहीं है कि प्रथम कर्म तथा उपासना द्वारा उसे शुद्ध कर फिर परमात्मा रूप की प्राप्ति हुई, क्योंकि अगर वो पूर्व से परमात्मा न होता एवं बाद में ज्ञान से बनता है तो जो वस्तु उत्पन्न होती है वह पुन: नष्ट भी हो जाती है । तो फिर वह नाशवान पदार्थ परमात्मा नहीं हो सकेगा वह फिर जीव हो जावेगा । अत: स्वयं प्रत्यगात्मा को स्वरूप से परमात्मा ही समझना चाहिये । इस प्रत्यगात्मा का सोऽहम्, अयमात्मा ब्रह्म, शिवोऽहम् रूप से बोध किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के समागम से ही होता है । इसलिये निरन्तर सत्संग करना चाहिये । क्योंकि सत्संग से दुस्तर भवसागर पार किया जा सकता है ।

पुण्य पुन्ज बिन मिले नहीं संता ।

सतसंगति संसृति कर अंता ।।
कर्णधार सद्गुरु दृढ़ नावा ।
दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ।।

◆◆◆

कारण अज्ञान

हे आत्मन् ! प्रथम स्थूल देह, द्वितीय सूक्ष्म देह और तृतीय कारण देह कहलाता है । स्थूल तथा सूक्ष्म देह का हेतु (जनक) अज्ञान है इसलिये अज्ञान को कारण देह कहते हैं । जब सद्गुरु उपदेश से ज्ञान द्वारा अज्ञान शरीर का नाश हो जावेगा तब उसके कार्य रूप सूक्ष्म तथा स्थूल देह का भी सदा के लिये अभाव हो जावेगा । तू आत्मा इन तीनों देहों से विलक्षण इनका प्रकाशक है एवं तीनों देह प्रकाश्य है ।

''जग पेखन तुम देखन हारे''

हे आत्मन् ! तू स्वयं अज्ञान को जानने वाला अज्ञान तो हो नहीं सकता, बल्कि तू अज्ञान का प्रकाशक ज्ञान स्वरूप आत्मा है । जैसे तू स्थूल तथा सूक्ष्म देह का द्रष्टा है उसी प्रकार कारण शरीर अज्ञान का भी द्रष्टा है । तू इस अज्ञान का द्रष्टा तीन प्रकार से सिद्ध होता है ।

हे प्रिय ! तू अपने को स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर का जानने वाला तो सिद्ध करता ही है, किन्तु कारण शरीर का जानने वाला स्वयं को नहीं जानता यही तेरी बुद्धि में अज्ञान है । ''स्वयं को नहीं जानता'' ऐसा कथन ज्ञान के बिना नहीं बन सकता । फिर ''स्वयं को नहीं जानता'' ऐसा नहीं जानने का भी ज्ञान होने के कारण तू ज्ञान स्वरूप चैतन्यात्मा ही सिद्ध होता है; क्योंकि ज्ञान के बिना ऐसा जानना कि ''मैं अज्ञान को नहीं जानता'' यह कहना बताना भी सम्भव नहीं होता ।

हे आत्मन् ! यदि तू ज्ञान रहित जड़ होता तो ''स्वयं को नहीं जानता'' यह कैसे कह सकता था ? देखो मिट्टी का घड़ा जड़ होने से वह अपनी जड़ता का वर्णन भी नहीं कर सकता है कि मैं घड़े को नहीं जानता हूँ या स्वयं को नहीं जानता हूँ किन्तु तू कहता है कि ''मैं स्वयं को नहीं जानता'', इसलिये तू घड़े की तरह अज्ञानी जड़ नहीं है, बल्कि उससे विलक्षण चैतन्य ज्ञान रूप आत्मा ही है ।

हे आत्मन् ! अज्ञान का द्रष्टा आत्मा तू ज्ञान स्वरूप ही है । ''मैं नहीं जानता'' ऐसा कहना ही अज्ञान को जानना है । फिर मैं नहीं जानता कहकर तू स्वयं ही सिद्ध करता है कि तू उस अज्ञान से भिन्न है । यदि तू अज्ञान से भिन्न न होता तो ''मैं नहीं जानता'' ऐसा कभी कह ही नहीं पाता । उस अज्ञान से तू किंचित् भी सम्बन्धित नहीं है । तू तो अज्ञान का ज्ञाता ज्ञान स्वरूप एवं साक्षी ही है ।

हे आत्मन् ! इस अज्ञान के कार्य असत् एवं अभान रूप दो आवरण है । जब कोई अज्ञानी कहता है मैं आत्मा, परमात्मा, मैं को नहीं जानता अथवा आत्मा कहाँ है जिसे मैं जानूँ ? इस प्रकार कहना ही आत्मा का आभानापादक आवरण कहलाता है तथा ''आत्मा नहीं है'' कहीं दिखाई नहीं देता है ऐसा जब कहाजाता है तब इसे असत्वापादक् आवरण कहते हैं । हे आत्मन् ! तू इन दोनों आवरणों का जानने वाला आत्मा ज्ञान स्वरूप है । फिर तेरा यह कहना कि ''मैं अज्ञानी हूँ'', आत्मा को नहीं जानता'', ''आत्मा नहीं हैं'', ''मैं तो मनुष्य हूँ'', कर्ता-भोक्ता हूँ इत्यादि बुद्धि अज्ञान के कारण ही है और तू इस बुद्धि अज्ञान का ज्ञाता है । इसलिये अज्ञान रूप कारण शरीर से भी भिन्न तू ज्ञानात्मा है । फिर तू जो कहता है कि ''मैं अज्ञानी हूँ'' इस कथन का भी यही अभिप्राय होगा कि तू प्रथम ज्ञानी था एवं अज्ञान को प्रथम दृश्य रूप कहीं पृथक् देखा है तभी उस अनुभव का स्मरण कर तू अज्ञान को जानता है कि ''मैं ज्ञानी

नहीं हूँ'' ''मैं तो अज्ञानी हूँ'' । भला ज्ञान से ज्ञान-अज्ञान का विवेक (भेद ज्ञान) हुए बिना कोई जड़ पदार्थ कुछ कह सकेगा ? कभी नहीं । इस प्रकार तू अज्ञान से पृथक् ज्ञानी ही सिद्ध होता है; क्योंकि यदि तू ज्ञान रूप न होता तो बिना ज्ञान के अज्ञानी होने का स्वरूप तुझे कैसे निश्चय हुआ ? अस्तु तू अज्ञान कारण देह को जानने वाला ज्ञान स्वरूप आत्मा ही है ।

जगत प्रकाश्य प्रकाशक रामू (आत्मा)

– रामायण

घटे भिन्न घटाकाशमाकाशे लीयते तथा ।
देहाभावे तथा योगी स्वरूप परमात्मनि ।।

– अवधूत दत्तात्रय

जिस प्रकार घड़े के फूट जाने पर उस आवरण से घिरा आकाश महाकाश रूप में ही स्थित हो जाता है एवं वह आत्मज्ञान के फल स्वरूप ब्रह्म स्वरूप में ही सदा के लिये स्थित हो जाता है ।

सत्य की खोज

आप सत्य को खोज रहे है ? अच्छी बात है । भगवान आपकी मनोकामना पूर्ण करे । किन्तु प्रथम मेरी बात सुन लीजिये कि जिसे आप खोज रहे हैं उससे परिचय एवं प्रेम है या नहीं । अन्यथा दूसरे के पशु बच्चे खो जाने पर हम उसे तनिक इधर-उधर देखकर यह कहकर चुप हो बैठते हैं कि हमने बहुत खोजा पर वह तो नहीं मिला । यदि उससे हमारा प्रेम है तो जब तक वह न मिले हमे दिन-रात, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी की चिन्ता किये बिना ढूँढते ही रहेंगे । क्या आप भी सत्य के लिये, परमात्मा के लिये इसी प्रकार की तलाश में हैं ?

दूसरी बात ! और कहूँ ? क्या आप सुनना चाहेंगे ? कि जिसे ढूँढ़ने जा रहे हैं उस इष्ट वस्तु का विशेष लक्षण भी जानते हैं या नहीं ? यदि वही वस्तु आपके सम्मुख ही आ जावे तो उसे सामान्य वस्तु की तरह जान वहीं छोड़ आगे तो नहीं बढ़ जावेगें ? जैसे गल काम्बल वाली गाय होती है तो उसे अन्य पशुओं के बीच से ढूँढ़ निकालने में कोई असुविधा या धोखा नहीं हो सकता ।

तीसरी बात ! आप से और पुछूँ ? क्या आप व्यवहार काल में खाते, कमाते, बोलते, सोते भी सत् से प्रेम करते हैं ? सदाचार का ध्यान आता है ? सत् का पक्ष लेते हैं ? यदि आप भोग, संग्रह, कर्म और भाषण में सत् के प्रेमी नहीं हैं तो फिर परमार्थ सत्य के प्रति भी आपके अन्त:करण में निश्चित ही गौण प्रियता रहेगी; क्योंकि जो व्यवहार में सत् का प्रेमी होता है वही परमार्थ सत्य का खोजी होता है ।

चौथी बात ! और कह दूँ ? जब तक आपकी असत् पथ में दोष दृष्टि नहीं होगी तब तक आपकी सत् पथ की ओर प्रगति भी नहीं हो सकती है ।

''असतो मां सद्गमय''

इसलिये तो शिष्य अपने गुरुदेव से प्रार्थना करता है कि मुझे आप सर्व प्रथम जहाँ मैं खड़ा हूँ, जिस मान्यता में मैं जकड़ा हूँ, जिस प्रलोभन में मैं पड़ा हूँ वहाँ से आप वैराग्य दिलाकर सत्य में स्थित करें । साधक के पास यदि सत् की पहचान ही नहीं तो फिर उसके मिलने पर उसे सन्तोष एवं तृप्ति भी कैसे होगी ?

''काल त्रयेऽपि तिष्ठतीति सत्''

जो वस्तु किसी काल में बाधित न हो उसे ही अबाधित सत्य कहते हैं । ऐसा परम सत्य आत्मा है । इस सत्य को खोजने हेतु किसी विशेष

देश, काल, समाधि आदि साधन एवं स्थान की आवश्यकता नहीं है । यह आत्मा साक्षात् अपरोक्ष है । इसमें न जाना है न आना है, न जन्मना है न मरना है । क्या आप विश्वास करेंगे कि यह निर्द्वन्द आत्मा आप स्वयं हैं । प्रमाण चाहते हैं ? तो जान लीजिये -

''अयं आत्मा ब्रह्म'' - माण्डुक्य. उप . २

आप सत्य को निज रूप में पहचानते हैं या अन्य रूप में पहचानना चाहते हैं ? जिस सत्य को आप अन्य रूप में प्रत्यक्ष पहचानेंगे वह घट पटादि पदार्थ की तरह परिच्छिन्न दृश्य एवं जड़ होने से नाशवान् ही होगा । यदि कहीं अज्ञात लोक में मानते हैं तो वह ब्रध्या पुत्र की तरह कल्पित परोक्ष होगा । यदि वह आपका सत्य स्वप्न, सुषुप्ति, भूख-प्यास, मान-अपमान, सुख-दु:ख रूप अपरोक्ष है तो वह अन्त:करण की किसी वृत्ति का ही कोई आकार होगा जो कभी होगा, कभी नहीं भी होगा अन्त:करण के अभाव में, इसलिये वह सत्य नहीं ।

सत्य आत्मा न प्रत्यक्ष है, न परोक्ष है, न अपरोक्ष है । वह तो साधन-साध्य नहीं बल्कि स्वयं सिद्ध, सर्वाभासक, सर्वाधिष्ठान, साक्षात् अपरोक्ष अर्थात् मैं रूप से ही है । अत: उसकी प्राप्ति के लिये सत्गुरु उपदेश से आत्मा-अनात्मा का विवेक प्राप्त कर देहाध्यास (देहाभिमान भ्रम) दूर कीजिये । सत्य के साक्षात्कार हेतु इतना ही पर्याप्त साधन है । वह न दूर है न पास, वह श्रीमानजी आप ही हैं । किन्तु विश्वास नहीं होता है तो अज्ञान संशय तथा विपर्यय की निवृत्ति के लिये श्रवण, मनन, निदिध्यासन रूप औषध का सेवन करें । रोग निवृत्त हो जाने पर औषध से भी निवृत्ति ले लिजिये । काटें से काँटा निकाल दोनों को फेंक दीजिये । शब्द जाल से बचो एवं स्वरूप में स्थित हो जाओ । हम अद्वितीय ब्रह्म हैं यह निश्चय ही आत्म साक्षात्कार है ।

संत आपसे कहदे कि वह परमात्मा सब देश में, सब काल में, सब रूप

में है तब भी आप कहेंगे ऐसे परमात्मा को हम कहाँ जाकर खोजे एवं कैसे पहचाने कि वह कौन है, कहाँ है, एवं कैसा है ? यदि परमात्मा की ही बात नहीं प्रत्युत किसी वस्तु व्यक्ति के बारे में हमारे सम्मुख वर्णन या चर्चा न हो तो हम उसे पास होने पर भी नहीं जान सकेंगे । चर्चा भी हो किन्तु वह वस्तु, व्यक्ति सम्मुख न हो तो भी हम नहीं जान सकेंगे । यदि वह कथन भी करे और वस्तु, व्यक्ति हमारे पास या सम्मुख हो तो भी हम यही पूछेंगे कि जिसकी आप चर्चा कर रहे हैं वह कहाँ है, कौन है ? फिर वह हमें अंगुली से संकेत करके बता देता है कि यह वह पदार्थ या व्यक्ति है जिसका मैं गुणगान कर रहा था । तभी आप उस पदार्थ को जान सकेंगे अन्यथा सम्मुख या पास होने पर भी नाम, चर्चा सुनने पर भी नहीं जान पावेंगे ।

इसी प्रकार सद्‌गुरु जब परमात्मा का वर्णन करता है कि वह सब देश, सब काल, सब रूप में है तब तक श्रोता उसका साक्षात् अपरोक्ष अनुभव नहीं कर पाता है वर्णन सुनकर भी यही जिज्ञासा उत्कंठा होती रहती है कि ऐसा परमात्मा कहाँ मिलेगा जो सब देश, सब काल तथा सब रूप में है । आप हमें उसके पाने का मार्ग बतायें, कोई मन्त्र बतादें । तब सद्‌गुरु उसे कहता है कि ऐसा परमात्मा ''तत्वमसि'' वह तू है तब उसे आत्मा का साक्षात्कार सोऽहम्, शिवोऽहम् रूप से हो पाता है ।

जाके तू खोजत फिरे, सो तो तु है बाप ।
और होय तो पा सके, यह तो स्वयं है आप ।।
चलते चलते युग गये, मिला न प्रभुका धाम ।
पैर रखा वहाँ ठामथा, बिन जाने कित जाय ।।
चलन चलन सब कोई कहे, मोहि संशय है और ।
प्रभु से परिचय नहीं, पहुँचेंगे केहि ठौर ।।
घट घट में है तेखत नहीं, धिक धिक ऐसी जिन्द ।
तुलसी या संसारी को, भये मोतिया बिन्द ।।

घट घट में साइयाँ, सूनी सेजन कोय ।
बलिहारी उस घट की, जा घट प्रगट होय ।।
सभी खिलोना खांड के, खांड खिलोने माहि ।
तैसे सब जग ब्रह्म में, ब्रह्म जगत के माहि ।।
तुलसी लोहा एक है, गढन का है फेर ।
वाही का वख्तर बने, वाही की शम शेर ।।
कस्तुरी कुण्डल बसे, मृग ढूढे बन माहि ।
ऐसे प्रभू घट घट बसे, मूरख ढूंढन जाहि ।।

जीव ब्रह्म है

हे आत्मन् ! अविद्या उपाधि वाला प्रत्यग् आत्मा बहुत समय से भ्रम में पड़ा रहकर शरीर संघात को ही अपना रूप जानने लग गया । यथार्थ में तो जीव स्वयं ब्रह्म ही है, 'यह' रूप दृश्य अनात्म शरीर नहीं है । मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र, स्त्री, पुरुष आदि स्थूल शरीर हूँ, ऐसा जानने वाला जीव जगत के आवागमन चक्र में घूमता रहता है ।

आकर चार लक्ष चौरासी ।
योनि भ्रमत यह जीव अविनाशी ।।

जैसे कोई ब्राह्मण शराब, भांगादि के नशे में अपने ब्राह्मणत्व को भूल शुद्र वर्ण वाला मानने लगे एवं उसी प्रकार नीच भाषा को बोलने लग जावे तो उसे ब्राह्मण वर्ण वाला बनाने हेतु अन्य किसी बाह्य धार्मिक संस्कार याग-यज्ञ आदि साधन करने की आवश्यकता नहीं है बल्कि उसके नशे को निवृत्त कराने के लिये ही धृत आदि वस्तु का सेवन कराने मात्र से नशा उतरते ही वह अपने को पूर्ववत् ज्यों का त्यों ब्राह्मण ही मानने लग जावेगा । इस प्रकार उसका विपर्यय दोष दूर हो जावेगा ।

हे आत्मन् ! उस ब्राह्मण के समान ही यह आत्मा भी अज्ञान रूप नशे के कारण अपने शुद्ध मुक्त, सच्चिदानन्द स्वरूप को भूल स्थूल सूक्ष्म शरीर में तादात्म्य कर देह में आत्म बुद्धि करने लग गया है । इस कारण से यह अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र, पुरुष, स्त्री, ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी, संन्यासी, बूढ़ा, जवान, बालक, गोरा, काला, नाटा, लम्बा, मोटा, पतला समझने लग गया है । इस प्रकार विपरीत अध्यास के कारण इस जीव को जन्म-मरण रूप बन्धन की प्राप्ति होती रहती है । वास्तव में तो यह आत्मा स्वयं ही शरीर आदि का द्रष्टा और साक्षी रूप ब्रह्म है, किन्तु वह अपने यथार्थ रूप को अज्ञानवश भूला हुआ है । जब किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरु का समागम प्राप्त हो एवं वे कृपा करके महावाक्य रूपी वचनामृत का श्रोत्र मुख से पान करावें तब ही जीव का अज्ञान नशा नष्ट होकर वह सच्चिदानन्द ब्रह्म मैं हूँ इस यथार्थ स्वरूप में अहं बुद्धि कर देहाध्यास से छूट सकता है ।

जैसे कोई जन्मजात शेरनी के बच्चे को चक्षु खुलने से पूर्व ही उठाकर अपने घर भेड़, बकरियों के झुण्ड में डाल दें तो उसकी जब आँख खुलेगी वह अपने चारों ओर भेड़, बकरियों के समुदाय को ही देख अपने प्रति भी वह भेड़-बकरी होने का ही निश्चय कर लेगा । जब उसे कोई जंगली शेर उसके यथार्थ स्वरूप का अंग, रंग, रूप व आवाज के द्वारा अपने साथ अभेदता के लक्षण का अनुभव करा देगा तब वह अपने भेड़-बकरी जाति का भ्रम छोड़ मैं शेर हूँ का अपरोक्ष अनुभव कर लेगा । उसे फिर किसी प्रकार दंड, वैठक, कसरत, शीर्षासन, मूलबन्ध, ध्यान आदि साधन करने की या तीर्थाटन करने की किंचित् भी जरूरत नहीं रहती न उसे मुण्डन, दाड़ी, जटा, कंठी, माला, तिलक की जरूरत होती है । फिर मैं शेर हूँ, मैं शेर हूँ नाम, मंत्र, जप या माला करने की जरूरत भी नहीं रहती और न कीर्तन करने की ही; क्योंकि वह तो स्वतः सिद्ध शेर ही था ।

इसी प्रकार जन्म से ही कुन्ती पुत्र कर्ण को सारथी सुद पुत्र होने का भ्रम हो गया था एवं महाभारत युद्ध में कृष्ण एवं कुन्ती, द्वारा उसे पाण्डव कुन्ती पुत्र कर्ण का भान कराते ही उसकी दीनता, शुद्रता का भाव मन से हट गया एवं मैं पाँच पाण्डवों का छठा एवं सबसे बड़ा भाई हूँ ऐसा दृढ़ बोध हो गया । फिर उसे कुन्ती पुत्र होने के लिये किसी शुद्धि, संस्कार, अनुष्ठान या मंत्र जप ध्यानादि की जरूरत नहीं पड़ी ।

हे आत्मन् ! शेरनी के बच्चे व कुन्ती पुत्र कर्ण के समान ही जीव अपने वास्तविक आत्म स्वरूप को भूल देह को मैं मानने लग गया है । ये इन्द्रिय संघात भेड़-बकरी तथा पंडित, गुरु, माता-पिता आदि चरवाहे, गडरिये की तरह देहाध्यास करा भ्रान्ति में डालने वाले हैं । यह सब मिलकर जीव को जन्म से ही आत्मा को तू कर्ता-भोक्ता, पापी-पुण्यात्मा, मनुष्य है ऐसा उपेदश कर भ्रम में फँसा देते हैं, किन्तु जब ईश्वर कृपा एवं पूर्व जन्मों के निष्काम कर्मों के फलस्वरूप किसी सद्गुरु की प्राप्ति होती है तब वे गुरुदेव उस जीव को यथार्थ द्रष्टा, साक्षी, ब्रह्मात्म रूप का युक्ति प्रमाण एवं लक्षणों से निश्चय कराकर देहाध्यास के भ्रम को नष्ट कर देते हैं । हे आत्मन् ! अनात्म देह के साथ तुझ आत्मा का एक भी लक्षण नहीं मिलता है जबकि सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म के सभी लक्षण तुझ में हैं । ब्रह्म के समान तू ज्ञान रूप है, ब्रह्म के समान ही तू सत्य एवं आनन्द स्वरूप है । अस्तु हे आत्मन् ! तू सच्चिदानन्द निर्विकार ब्रह्म ही है, तु न कर्ता है न भोक्ता । न तेरा जन्म है, न तेरी मृत्यु है । जब तू कर्ता ही नहीं है तब तू न पापी है न पुण्यात्मा एवं जब पाप-पुण्य राशी ही तेरी नहीं है तो तू न सवर्ग जाने वाला है न नरक जाने वाला है । न तुझे विक्षेप है न समाधि की अपेक्षा है और न तुझे बन्धन है न मुक्ति साधन की आवश्यकता है । तू तो एक मात्र नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म है ऐसा निश्चय कर एवं सुख से विचरण कर ।

शोक हर्ष भय क्रोध लोभ मोह स्पृहादय ।
अहंकारस्य दृश्यते जन्म मृत्युश्चनात्मनः ।।

– भागवत : ११/२९/१५

हे आत्मन् ! शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, स्पृहा, जन्म, मृत्यु आदि सभी दृश्य धर्म अहंकार के हैं आत्मा के नहीं अर्थात् तेरे नहीं हैं । अग्नि की उष्णता, बर्फ की शीतलता, चीनी की मधूरता, विजली के करेंट की तरह यदि तेरे धर्म होते तो तेरी नित्यता के कारण तुझ आत्मा के काम, क्रोध, बन्ध–मोक्ष, सुख–दुःखादि उपरोक्त सभी धर्म सुषुप्ति में भी प्रतीत होना चाहिये, किन्तु सुषुप्ति में उपरोक्त एक भी धर्म प्रतीत नहीं होते है केवल एकमात्र आनन्द स्वरूप अज्ञान का साक्षी तू आत्मा ही वहाँ अनुभव रूप में विद्यमान रहता है एवं सुषुप्ति में अहंकार के लीन हो जाने के कारण उस समय शोक, हर्ष आदि धर्मों की प्रतीति भी नहीं होती है । जाग्रतावस्था में अहंकार के उत्थान के साथ ही समस्त द्वन्द्व अन्त:करण में उत्पन्न हो जाते हैं । निराकार अव्यक्त एवं अदृश्य आत्मा के कोई भी दृश्य रूप धर्म नहीं हो सकते हैं । आत्मा निर्विकार एवं कूटस्थ है ।

इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ–सद्गुरु के उपदेश पर सूक्ष्म रूप से विचार करता हुआ जिज्ञासु देहाभिमान के त्याग पूर्वक ''मैं ब्रह्म हूँ'' ऐसा निश्चय करने से हर्ष शोकादि विकार रूप सांसारिक दु:खों से मुक्त हो जाता है फिर उसको देहाध्यास नहीं हो सकता है । न उसे अज्ञानी की तरह पुनर्जन्म की प्राप्ति होती है । उस ज्ञानी के प्राण यहीं प्रारब्ध भोग क्षीण होने पर लीन हो जाते हैं ।

सकल राम मय जान

कुम्भार घड़े को मिट्टी द्वारा बनाता है इसलिये कुम्भार घड़े का निमित

कारण एवं मिट्टी घड़े का उपादान कारण कहलाती है । कुम्भार की तरह ईश्वर ने जगत को बनाने हेतु कहीं से उपादान कारण नहीं उठाया बल्कि ईश्वर स्वयं जगत का उपादान एवं निमित्त दोनों कारण है । उदाहरणार्थ मकड़ी जैसे जाले हेतु सूत्र का एवं जाला वनाने इन दोनों का उपादान तथा निमित्त कारण है । इस प्रकार जगत् कार्य एवं ईश्वर कारण है । जैसे घड़े बनाने में मिट्टी कारण एवं घड़ा कार्य है, अलंकार बनाने में स्वर्ण कारण एवं अलंकार कार्य है । उपरोक्त इन दोनों द्रष्टान्तों से यह अकाट्य सिद्धान्त प्रकट हुआ कि कोई कार्य कारण से पृथक् नहीं रहता है ।

आपने जो चूड़ी, चैन, अंगुठी पहनी है बतलाइये कि उससे स्वर्ण कितनी दूर है ? अथवा कितनी पास है ? यदि आप कहें कि चैन, चूड़ी, अगुंठी से स्वर्ण दूर नहीं कि पास भी नहीं है । बल्कि चैन, चूड़ी तथा अगुंठी रूप में स्वर्ण ही है । यदि मैं आपसे पूछूँ कि अगुंठी, चैन, चूड़ी के किस भाग में सोना छिपा पड़ा है, जहाँ से उसे निकाला जा सके ? तो कहना होगा कि चैन, चूड़ी, अगुंठी के प्रत्येक अंश में स्वर्ण ही है बल्कि चैन, चूड़ी, अंगुठी नहीं है केवल स्वर्ण ही क्योंकि कारण कार्य सदा अभिन्न ही हुआ करते है । कारण से कार्य कभी पृथक् नहीं रह सकता है । कार्य सदा कारण रूप ही हुआ करता हैं । अलंकार नाम रूप कार्य तो वाणी एवं नेत्र का विकार मात्र ही है सत्य तो एक उपादान वस्तु स्वर्ण ही है । इस प्रकार सिद्ध हुआ कि जहाँ–जहाँ अलंकार है वहाँ–वहाँ स्वर्ण ही है, जहाँ–जहाँ घड़ा है वहाँ–वहाँ मिट्टी ही है । जहाँ कार्य वहाँ कारण ही है ।

अब मैं नहीं आप ही बता रहे हैं कि "जहाँ–जहाँ कार्य होता है, वहाँ–वहाँ कारण ही होता है" यदि यह सत्य सिद्धान्त आपकी शुद्ध बुद्धि में आ गया है तो मैं आपसे पूछता हूँ जगत् जिसका कार्य है उसका कारण ईश्वर कहाँ रहता होगा ? तो यही कहना होगा कि जहाँ–जहाँ जगत् वहाँ–वहाँ उसका कारण ईश्वर होगा अन्यत्र नहीं । इस प्रकार समस्त नाम रूपात्मक कार्य जगत्

के रूप में अस्ति, भाति, प्रिय निराकार ब्रह्म ही अधिष्ठान रूप से विद्यमान है । कोई भी अध्यस्त अपने अधिष्ठान से पृथक् प्रतीत नहीं हो सकता ।

घड़े का नाम रूप दिखाई पड़ता है ? तो आप कहेंगे हाँ । मैं प्रश्न करूँगा तब मिट्टी कहाँ है ? तो कहना होगा मिट्टी ही घड़े नाम रूप में विद्यमान है ।

अच्छा तो आपका नाम, रूप घट शरीर किसका कार्य है ? आप कहेंगे कि पंच महाभूतों का कार्य है । अब यह आपका पांच भौतिक कार्य शरीर के कारण पंच भूत कितने दूर है ? तो कहना होगा कार्य शरीर की सत्ता अपने कारण पंच भूतों से पृथक् नहीं है । इसी प्रकार यह जगत् कार्य ईश्वर कारण से पृथक् नहीं है क्योंकि ईश्वर इस जगत् का उपादान एवं निमित कारण रूप है जैसे स्वप्न नगर का स्वप्न साक्षी स्वप्न का उपादान एवं निमित्त की तरह । इस प्रकार तो ईश्वर मुझसे अलग नहीं हो सकता । न मैं ईश्वर से पृथक हूँ क्योंकि मैं जगत से बाहर नहीं हूँ । जिसे पुष्प गन्ध की तरह न देखा जा सकता है न दिखाया ही जा सकता है वह ईश्वर या मैं तत्त्व है । जिसे केवल गुरु कृपा से दिव्य चक्षु प्राप्त कर कार्य-कारण अभिन्न सिद्धान्तवत् मैं रूप से ही निश्चय किया जा सकता है ।

विश्व से पृथक् ईश्वर का न कोई मन्दिर है, न कोई मूर्ति है और न वह कुछ अलग से खाता ही है । समस्त मन्दिर मनुष्य कृत है एवं उनमें स्थापित मूर्तियाँ भी मनुष्य कृत है । मूर्तियाँ देवी-देवताओं की है ईश्वर की कोई मूर्ति विश्व से पृथक् न थी, न है, न होगी ही । ईश्वर प्रतिमा का साक्षात् स्वरूप जगन्नाथ की मूर्ति है जिसका अपना पृथक् न शरीर है और न कोई मुख, आँख, नाक, कान, हाथ-पैर के चिन्ह, तथा माता-पिता, घर, ग्राम, जाति, मित्र-शत्रु तक की कल्पना नहीं की गई है ।

कार्य-कारण पृथक् नहीं हो सकते हैं । नाम रूप में छिपा परमात्मा अदृश्य है एवं नाम, रूप दृश्य है । वृक्ष दृश्य है, बीज अदृश्य है । जैसे बीज

ही महान् वृक्ष रूप में दृष्टि गोचर होता है किन्तु बीज में वृक्ष आँखों से नहीं देखा जा सकेगा । इस प्रकार बीज रूप अव्यक्त ईश्वर से सृष्टि हो जाने पर ईश्वर को नेत्र द्वारा पृथक् नहीं देखा जा सकता, उसे साकार, बिराट जगत् रूप ही देखा जा सकता है; क्योंकि ईश्वर ही जगत् बन गया है । जगत् दर्शन ही जगदीश दर्शन है । नदी, समुद्र, सूर्य, चन्द्र, पवन, पृथ्वी, वृक्ष, पशु, पक्षी, फूल, फल सब कारण ईश्वर ही है "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**" श्रुति वाक्य इस बात को प्रमाणित करता है । ईश्वर कोई मिट्टी, स्वर्ण की तरह केवल उपादान कारण ही नहीं जो किसी को प्राप्त हो सके । ईश्वर तो जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण होने से जगत् एवं जीव रूप में वह स्वयं ही विद्यमान है । इसलिए वह किसी को प्राप्त नहीं हो सकेगा; क्योंकि वह प्राप्त करता से भिन्न नहीं है वह तो मृग कस्तूरीवत अभिन्न ही है । यदि वह दूर होता तो वहाँ चलकर पहुँचा जाता, प्रार्थना की जाती, पूजा की जाती किन्तु वह दूर नहीं एवं अन्य नहीं, अप्राप्य नहीं इसलिये उसे प्राप्त करने हेतु कुछ साधन भी अपेक्षित नहीं ।

अस्तु हम मूर्तिपूजक थे नहीं, है नहीं तथा कभी होंगे भी नहीं । जड़ मूर्ति को ईश्वर मानने की जरूरत भी नहीं है । ईश्वर तो मैं हीं हूँ मैं उसे कहाँ ढूंढूं ? नाम, आकार, निराकार परमात्मा से कभी पृथक् नहीं हुआ, है नहीं, कि होगा भी नहीं तब मैं उससे पृथक् कैसे रह सकता हूँ ? कदापि नहीं । अतएव मैं ही शिव हूँ । "**जीवो ब्रह्मैव न परः**" ।

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"

छान्दोग्य उप. ३/१४/१

संसार की समस्त वस्तुएँ तथा प्राणी के शरीर मात्र पंच महाभूतों के आधार पर ही आधारित है केवल व्यवहार सिद्धि हेतु नाम एक काल्पनिक

उपाधि है । संसार की समस्त वस्तु तथा प्राणी एकमात्र ब्रह्म में अधिष्ठित है एवं यह वेद का सिद्धान्त है कि अधिष्ठित वस्तु अपने अधिष्ठान से भिन्न सत्ता वाली कभी नहीं होती है बल्कि वह अधिष्ठान स्वरूप ही होती है । जो वस्तु अधिष्ठान में भ्रम से उत्पन्न-सी प्रतीत होती है वह अध्यस्त वस्तु विवेक हो जाने पर अपने अधिष्ठान में ही लय हो जाती है ।

जैसे मन्द अंधकार में पड़ी रस्सी में नेत्र दोष के कारण सर्प का भ्रम अपने रस्सी अधिष्ठान से भिन्न कुछ भी नहीं है । जो अध्यस्त सर्प भ्रमवश उत्पन्न हुआ-सा प्रतीत हो रहा है वह अपने अधिष्ठान रस्सी से भिन्न शक्ति वाला नहीं है, बल्कि वह रस्सी ही है । वह न किसी व्यक्ति के पैर रखे जाने पर उसे काट सकता है न रस्सी को ही विषैली बना सकता है, क्योंकि वह सर्प रस्सी में केवल भ्रम से ही उत्पन्न हुआ-सा प्रतीत हो रहा है, किन्तु सत्य रूप रस्सी से भिन्न वह सर्प कुछ हुआ ही नहीं । सर्प रस्सी में तो तीन कालों में नहीं है वह तो केवल हमारी बुद्धि में ही भास रहा है ।

इसी प्रकार समस्त जगत् भ्रम से ब्रह्म में आरोपित किया गया है । वस्तुत: जगत् सत्य रूप से ब्रह्म से भिन्न कोई पदार्थ है ही नहीं । समस्त जगत् चराचर ब्रह्म रूप ही है एवं यही दृष्टि वास्तविक दृष्टि है जो समस्त जगत् को ब्रह्म रूप देखता है । वेद में भी कहा है - ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' तथा रामायणानुसार ''सियाराम मय सब जग जानी'' । अत: यह वेदान्त सिद्धान्तानुसारी संत महात्माओं के अनुभव वाक्यों का अनुभव हम कैसे करें कि यह सब जगत् ब्रह्म ही है ? यह प्रश्न हमारे मन में उपस्थित हो जाता है । इसका उचित समाधान मिले बिना सर्वत्र कभी समता नहीं आ सकती, क्योंकि ऐसा नियम है कि -

''बिन विज्ञान कि समता आवहिं''

तथा :- **''ज्ञान मोक्षप्रद वेद बखाना''**

अत: यह ज्ञान क्या है एवं ज्ञान से 'समता' तथा मोक्ष की प्राप्ति कैसे होती है ? इसके समाधान हेतु 'तत्त्वमसि' इस वेद के महावाक्य का अर्थ जानना होगा तब हमें ज्ञान का महत्व समझ में आ सकेगा कि किस ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है । 'तत्, त्वम् एवं असि' यह तीन पदों से 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य बना है । 'तत्' का मतलब है 'परमात्मा', 'त्वम्' का मतलब है ''जीवात्मा'' एवं ''असि'' का मतलब ''एक'' है अर्थात् वह परमात्मा तू यह जीवात्मा ही है ।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।

– गीता : १३/२

यहाँ जीवात्मा परमात्मा की एकता का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान बताया है एवं इसी ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है । मोक्ष प्राप्ति हेतु अन्य कोई मार्ग नहीं है । अत: सभी चेतन जीवात्मा एक ब्रह्म ही है । ''सोऽहम्स्मि इति वृत्ति अखंडा'' यह ब्राह्मी स्थिति कैसे प्राप्त हो ? हम कैसे मानले कि जो वह है वही मैं स्वयं हूँ ? एवं जो जगत् है वह भी ब्रह्म रूप ही है । अत: सर्वप्रथम जीव सच्चिदानन्द ब्रह्म है यह जानलें । जब चेतन जगत् ब्रह्मस्वरूप होना निश्चय हो जायगा तब फिर यह जड़ जगत् भी ब्रह्ममय ही है इस विषय पर विचार करेंगे ।

◆◆◆

जीव सच्चिदानन्द ब्रह्म कैसे ?

वेद में ब्रह्म का स्वरूप वर्णन सत्+चित्+आनन्द यह तीन विशेषण युक्त बतलाया है । अत: यही तीनों विशेषण अगर जीव में भी हों तो इस जीव को ब्रह्म मानने में किसी को आपति नहीं होगी ।

ममैंवांशो जीवलोके जीव भूतः सनातनः

– गीता : १५/७

ईश्वर अंश जीव अविनाशी ।
चेतन अमल सहज सुखराशी ।। – रामायण

''अमृतस्य पुत्रा:'' – वेद

अर्थात् जीव ब्रह्म का अंश है और अंश अंशी अभिन्न होने से ब्रह्म रूप ही होता है । साथ ही वह अविनाशी (सत) चेतन (चित) सहज सुखराशी (आनन्द) है, अमल अर्थात् नाम रूप माया मल से रहित, षड़विकार रहित शुद्ध है ।

नासतो विद्यतेभावो ना भावोविद्यते सतः

– गीता : २/१६

(१) तीनों कालों में रहने से जीवात्मा सत् है । ''सत्य का त्रिकाल में अभाव नहीं होता है ।'' इस सिद्धान्तानुसार मैं पूर्व में था आज भी हूँ एवं आगे भी अपने कर्म का भोग करूँगा । इस प्रकार अपने तीन जन्मों की आशा सभी जीव रखते हैं । इस अनुभव से यह सिद्ध है कि मेरा नाश नहीं है, अतः मैं सत हूँ एवं शरीर असत् है । वही गीता : २/१६ के अनुसार कि असत् का अस्तित्व नहीं होता है । इस प्रकार मैं (जीवात्मा) सत् हूँ एवं शरीर असत् रूप है ।

(२) तीनों अवस्थाओं को जानने के कारण मैं चित् अर्थात् ज्ञान स्वरूप है । शरीर न स्वयं को जानता है न उसमें रहने वाले चैतन्य मुझ आत्मा को । अत: वह जड़ रूप है किन्तु मैं (आत्मा) चित स्वरूप हूँ ।

(३) तीनों अवस्था में ''मैं''(आत्मा) प्रिय होने से परम प्रेमास्पद आनन्द स्वरूप है; क्योंकि किसी प्राणी की दु:ख में प्रीति नहीं होती है । प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक कार्य एकमात्र निज सुख प्राप्ति हेतु ही करता है एवं जब उसे आत्म सुख का अभाव होता है तो वह देह भी त्याग देता है । अत: आत्मा के सुख हेतु शरीर एवं शरीर के सम्बन्धी प्रिय होते हैं । इस प्रकार मैं

आत्मा ही आनन्द स्वरूप है । शरीरादि में शरीरार्थ प्रीति नहीं है ।

इस प्रकार श्रुति में जो ब्रह्म के सत, चित तथा आनन्द यह तीन लक्षण बताये हैं वही योग्यता जीव में भी सिद्ध होती है । अस्तु अपने को सच्चिदानन्द ब्रह्म जान जीव को दु:खों से मुक्त हो जाना चाहिये ।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्य भिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।

– गीता : १३/१

श्रीकृष्ण कहते हैं – हे अर्जुन ! यह शरीर श्रेत्र है और इसे जो जानता है उसको 'क्षेत्रज्ञ' नाम से ज्ञानीजन पहचानते हैं ।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।।

– गीता : १३/२

हे अर्जुन ! तू सब शरीर क्षेत्रों मे क्षेत्रज्ञ जीवात्मा भी मुझे जान और विकारी शरीर से भिन्न जीवात्मा को परमात्मा रूप जानना ही मेरे मत से वास्तविक ज्ञान ।

जगत् जगन्नाथ ही जानो

जगत् में घड़ा बनाना है तो सर्व प्रथम कुम्भार दंड चक्र पानी तथा उपादान कारण मिट्टी चाहिये । बिना मिट्टी के घड़ा कार्य की प्रतीति नहीं हो सकती । अलंकार बनाने हेतु उसका उपादान स्वर्ण चाहिये बिना स्वर्ण अलंकार कार्य की प्रतीति नहीं हो सकती । तब जो–जो कार्य प्रतीति है वह अपने उपादान कारण से भिन्न नहीं है बल्कि उपादान स्वरूप ही है । अर्थात् घड़ा मिट्टी एवं अलंकार स्वर्ण रूप ही है । घड़ा दर्शन में मिट्टी एवं अलंकार

दर्शन में स्वर्ण ही भास रहा है । इस प्रकार कार्य कारण एक रूप ही है ।

अब जगत् पदार्थों में उपादान कारण एवं निमित कारण पृथक्-पृथक् होते हैं । अलंकारों का निमित कारण स्वर्णकार (सोनी) एवं घड़े से उसका निमित्त कारण कुम्भार पृथक् है । इस प्रकार समस्त कार्यों का उपादान कारण उस नाम रूप कार्य से अभिन्न है । किन्तु जगत पदार्थों में निमित्त कारण बनाने वाला एवं बनाने में काम आने वाले सहयोगी साधन भिन्न ही होते हैं ।

परन्तु जगत् का उपादान कारण एवं निमित्त कारण एक जगदीश ईश्वर ही है । जैसे घड़े के लिये मिट्टी, अलंकारों के लिये स्वर्ण की तरह ईश्वर को कोई पृथक् धातु जगत् उत्पत्ति हेतु नहीं लाना पड़ा । ईश्वर जगत् का उपादान एवं निमित्त दोनों कारण स्वयं ही है । जैसे स्वप्न साक्षी से स्वप्न पुरुष, स्वप्न नगर भिन्न नहीं है । इसी तरह मकड़ी को भी जाले का उपादान एवं निमित्त कारण बताते हैं किन्तु वहाँ मकड़ी उससे भिन्न रहती है । यहाँ ईश्वर जगत् रूप हो गया है । वही पंच भूत एवं पंच भूत का कार्य जगत् को बनाने वाला एवं स्वयं ही उसमें जीव रूप से रहने वाला है । अत: जैसे अलंकार दर्शन का स्वर्ण दर्शन एवं घड़े का दर्शन मिट्टी दर्शन है । इसी प्रकार जगत् का दर्शन जगदीश दर्शन ही है । जगत् कार्य की सत्ता कारण जगदीश से भिन्न नहीं है । जगदीश ही जगत् रूप हो भास रहा है । जैसे स्वर्ण ही अलंकार रूप हो भास रहा है । ऐसे ही एक परमात्मा ही जगत् रूप हो भास रहा है ।

''एकोऽहं बहुस्याम प्रजायेत''

यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत् ।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं तत् त्वमेव त्वमेव तत् ।।

– कैवल्य उप. १/१६

उस सर्वात्मा विश्व का आयतन, सूक्ष्मतम, नित्य परब्रह्म तुम ही हो एवं तुम्म ही वह ब्रह्म हो । दोनों में कोई भेद नहीं है ।

ज्ञान मात्र परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान् ।

– श्रीमद् भागवत : ३/३२/२६

ज्ञानी ही परमब्रह्म है । उसी का दूसरा नाम परमात्मा पुरुष, आत्मा ईश्वर है ।

तीर्थानि तोय पूर्णानि देवाः पाषाणमृण्मयाः ।
आत्मानं ये न पश्यन्ति ते न पश्यन्ति तत्परम् ।।

– स्कन्द पुराण/ प्रभास/ वस्त्रापथ क्षेत्र : १/२६

तीर्थों की महिमा जल एवं देवता मिट्टि पत्थर से निर्मित है । जिन्होंने अपने देहस्थ हृदय तीर्थ में आत्मदेव का दर्शन नहीं करके केवल बाह्य तीर्थ एवं बाह्य देवता की सेवा पूजा की है उनके लिये परमात्मा साक्षात्कार दुर्लभ है । आत्मा ही तीर्थ है उसी में अवगाहन करो । तीर्थ के लिये बाहर मत भटकते फिरो ।

सोऽहम् क्या ?

हे भवसागर तारणहार सद्गुरु देव ! आप जीव ईश्वर एकत्व निश्चय से मोक्ष कहते हैं, किन्तु इस आपके कथन में तो प्रत्यक्ष विरोध देखने में आता है । हे नाथ ! मुझे यह समझ नहीं आता है कि जीव सुखी–दुःखी, कर्ता–भोक्ता, जन्म–मरण, असमर्थ, पराधीन, परिच्छिन्न, तथा अल्पज्ञ अभिमान वाला है और ईश्वर सुख–दुखः रहित, आनन्द रूप, समर्थ, अपरिच्छिन्न स्वतन्त्र, फलदाता, सर्वज्ञ, जगत् का कर्ता एवं अहंकार रहित है । इस प्रकार इन दोनों के परस्पर विलक्षण धर्म होने से इनकी अभिन्नता आप किस हेतु से कहते हैं ?

हे आत्मन् ! तुझे यह शंका वेद के ''तत्त्वमसि'' महावाक्य के अनुभव न कर सकने के कारण ही है । ''तत्त्वमसि'' महावाक्य में तत् पद ईश्वर और त्वम् पद जीव इन दोनों पदों के वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के अन्तर को प्रथम समझ जिससे तू जान सकेगा कि जीव-ईश्वर के किस अंश से एकता कही जाती है और तुझे जो प्रत्यक्ष भेद प्रतीत होता है वह जीव-ईश्वर का कौन सा अंश है ।

जीव में कर्तृत्व-भोक्तृत्व, सुख-दुःख आदि संसार की जो तुझे प्रतीति होती है वह केवल अविद्या कल्पित अन्त:करण उपाधि के कारण होती है । जीव का वास्तविक स्वरूप तो शुद्ध सच्चिदानन्द है और कर्तृत्व-भोक्तृत्व, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, बन्ध मोक्ष आदि जो धर्म प्रत्यक्ष अनुभव में आते हैं वे अन्त:करण के धर्म हैं । जन्म-मरण धर्म स्थूल शरीर का है, भूख-प्यास प्राण के धर्म है और सुख-दुःख मन के धर्म हैं । आत्मा के एक भी धर्म नहीं हैं । आत्मा तो शुद्ध स्फटिक की तरह है । जैसे स्फटिक मणि निर्मल है उसमें किसी प्रकार का रंग नहीं है, किन्तु लाल पुष्प के संयोग सम्बन्ध से वह लाल प्रतीत होती हैं । इसी प्रकार अन्त:करण के सुख-दुःख, पाप-पुण्य, चंचल-शांन्त, बन्ध-मोक्षादि धर्म शुद्ध आत्मा में आरोपित कर लिये जाते हैं ।

इसी प्रकार ईश्वर में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय करने का कार्य मात्र माया उपाधि का धर्म है किन्तु अज्ञानता से वह निष्क्रिय ब्रह्म में आरोपित कर दिया जाता है । जीव, ईश्वर का वास्तविक स्वरूप तो शुद्ध अद्वितीय, पूर्ण सच्चिदानन्द रूप ही है । परन्तु अविद्या, माया, उपाधि के भेद से जीव-ईश्वर के वाच्यार्थ धर्मों में भेद प्रतीत होता है, किन्तु अविद्या, माया रहित लक्ष्यार्थ में कोई भेद नहीं । जैसे घट-मठ उपाधि से आकाश में भेद प्रतीत होता है, किन्तु घट-मठ उपाधि से रहित आकाश ज्यों का त्यों एक अखंड़, असंग, निर्विकार ही विद्यमान है । इसी प्रकार माया

अविद्या से अद्वितीय ब्रह्म में ईश्वर–जीव कल्पित हुए हैं । उपाधि से रहित एक शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है । इसी हेतु से ''तत्त्वमसि'' महावाक्य में आत्मा–परमात्मा इन दोनों की एकता का निरूपण किया है ।

हे आत्मन् ! जीव–ब्रह्म एकत्व निश्चय में महावाक्यों को ही प्रमाण रूप जानना चाहिये । ''अहं ब्रह्मास्मि'', ''अयं आत्मा ब्रह्म'', ''प्रज्ञानं ब्रह्म'', ''तत्त्वमसि'', सोऽहम्, शिवोऽहम् आदि महावाक्यों द्वारा आत्मा–परमात्मा की एकता दर्शायी गयी है । हे आत्मन् । तत् और त्वं पद का एकत्व निश्चय करने हेतु आकाश का दृष्टान्त लेते हैं । जैसे एक उपाधि रहित आकाश को ही घट उपाधि के कारण घटाकाश एवं मठ उपाधि के कारण ही मठाकाश नाम से सम्बोधित करते हैं । यद्यपि इन घट–मठ दो उपाधि से रहित आकाश जो पूर्ण है उसको महदाकाश कहते हैं । उसी प्रकार एक अद्वितीय ब्रह्म में भी माया उपाधि से तत् पद का वाच्यार्थ 'ईश्वर' तथा अविद्या उपाधि से 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ जीव कहलाता है । परन्तु इन दो उपाधि को छोड़ लक्ष्यार्थ में ''वह तू है'' ऐसा तत्त्वमसि महावाक्य के तृतीय 'असि' पद से दोनों की एकता जानने से तू एक अद्वितीय ब्रह्म स्वरूप सिद्ध होता है तथा ईश्वर में समर्थपना एवं जीव में असमर्थपना यह तो घट–मठ की तरह अविद्या–माया रूप छोटी बड़ी उपाधि के कारण उपाधिकृत भेद अज्ञानता से अधिष्ठान ब्रह्म में प्रतीत होते है; किन्तु वास्तव में ब्रह्म स्वरूप में ऐसा भेद नहीं है ।

उपाधिकृत भेद

जैसे मठ में बहुत से मनुष्य, सामान हो सकते हैं, रख सकते हैं, किन्तु घट में तो केवल थोड़ा जल या अन्न ही समा सकता है । इस कारण मठ एवं घट रूप उपाधि से एक आकाश में छोटे–बड़े का भेद कल्पित हुआ, किन्तु घट–मठ उपाधि से रहित महदाकाश एक ही है । इस प्रकार ''तत् पद'' तथा ''त्वम् पद'' के लक्ष्यार्थ रूप शुद्ध सच्चिदानन्द

ब्रह्म एक ही है उसमें भेद नहीं है । इसलिये जीव तथा ईश्वर के वाच्यार्थ रूप अविद्या तथा माया इन कल्पित उपाधियों का भागत्याग लक्षणा द्वारा त्याग कर विचारने से जीव-ईश्वर का शुद्ध लक्ष्यार्थ स्वयं प्रकाश रूप ही है । इस प्रकार अपने को ''सोऽहम्'', ''शिवोऽहम्'' रूप दृढ़ निश्चय पूर्वक जानना चाहिये ।

हे आत्मन् ! लक्षणा कितने प्रकार की होती है एवं महावाक्य शोधन में कौन-सी लक्षणा का प्रयोग होगा अब इसे पृथक्-पृथक् बतलाते हैं ।

◆◆◆

लक्षणा

हे आत्मन् ! यथार्थ बोध कराने वाली तीन प्रकार की लक्षणा का प्रयोग किया जाता है । वे लक्षणाएँ (१) जहती, (२) अजहती तथा (३) भागत्याग हैं । इनमें प्रथम तथा द्वितीय लक्षणा विशेषकर सांसारिक बोधार्थ है तथा तृतीय लक्षणा भागत्याग महावाक्य शोधनार्थ उपयोग में आती है फिर भी साधारण ज्ञान हेतु प्रथम तथा द्वितीय को समझाते हैं ।

जहती लक्षणा

(१) जहाँ कहे हुए सम्पूर्ण वाच्यार्थ का त्याग हो एवं उसके परम्परा से सम्बंधित वाक्य का ग्रहण किया जाता हो उसे जहती लक्षणा कहते हैं । जैसे ''गंगायां घोष: प्रतिवसति'' इस वाक्य का शब्दार्थ यह है कि ''गंगा में गायों का बन्धान है'' इस अर्थ में समझ पड़ता है कि गंगा नदी में गाये रहती है किन्तु जलधारा में गायों का रहना तो सम्भव नहीं । अस्तु इस गंगा पद का यह अर्थ त्यागकर ऐसा अर्थ लगाया जाता है कि गंगा के तट पर गायें बांधी जाती है इस प्रकार यहाँ जहती लक्षणा लगाई जाती है ।

यदि इस लक्षणा को महावाक्य के एकत्व ज्ञान हेतु लगाई जावेगी तो यह अपने धर्मानुसार सम्पूर्ण महावाक्य के वाच्यार्थ का प्रथम परित्याग करा उससे पृथक् मिथ्या माया का ही ग्रहण करावेगी । इस प्रकार महावाक्य द्वारा जानने योग्य शुद्ध चैतन्य तत्त्व जीव-ब्रह्म एकत्व बोध तो होगा नहीं, बल्कि एकत्व विरोधी नाम-रूप माया अंश को और ग्रहण करा देगी जिससे किसी प्रकार का लक्ष्य सिद्ध नहीं हो सकेगा । तो महावाक्य के ''तत् पद'' तथा ''त्वम् पद'' में से विरोधी अंश का परित्याग कर अविरोधी अंश से एकता को ग्रहण करना है और यह महावाक्य शोधन कार्य इस जहती लक्षणा के द्वारा नहीं हो सकेगा ।

अजहती लक्षणा

(२) दूसरी अजहती लक्षणा है । इस लक्षणा का कार्य है कि कहे हुए वाक्य का स्पष्ट बोध नहीं होता हो वहाँ उस वाक्य को भी उसी प्रकार रख और उसके परम्परा से सम्बन्धी अर्थ का अधिक ग्रहण किया जाता है । जैसे लाल दौड़ता है, ''शोणो धावति'' यहाँ केवल लाल गुण का दौड़ना तो सम्भव नहीं है इसलिये लाल गुण जिससे सम्बन्ध रखता है उस परम्परा को खोजा तो ज्ञात हुआ कि लाल घोड़ा दौड़ता है । यदि इस लक्षणा को महावाक्य शोधन में जीव-ईश्वर एकत्व बोध के विरोधी अंश को दूर करने हेतु लगावें तो यह उस विरोधि चिदाभास भेद को भी ज्यों का त्यों रखेगी एवं बाहर से भी विरोधी नाम-रूप उपाधि अंश का अधिक ग्रहण करा देगी जिससे महावाक्य में रहे जीव ईश्वर एकत्व विरोधी अंश का भी परित्याग नहीं हो सकेगा । महावाक्य शोधन में तो ''तत्, त्वम्'' पद के वाच्यार्थ का त्याग कर केवल लक्ष्यार्थ को ही ग्रहण करना ही प्रयोजन मात्र है ।

भागत्याग लक्षणा

(३) महावाक्य शोधन में जहत्जहती अब लक्षणा अर्थात् भागत्याग लक्षणा का उपयोग करते हैं । भागत्याग लक्षणा का स्वभाव है कि वह वाक्य के विरोधी अंश का त्याग कराकर शेष रहे अविरोधी अंश का ग्रहण कराती है । बस यही भागत्याग लक्षणा हमारे उपयोग की है ।

महावाक्य के स्पष्ट बोधार्थ एक द्रष्टान्त देते हैं । जैसे ''यह वही गांधी है'' । पोरबन्दर गुजरात देश के रहने वाले गांधीजी विदेश पढ़ने के लिये गये थे । वैरिस्ट्री कर जब वे भारत लौट आये तब उन्होंने भारतीय संस्कृति के अनुरूप धोती कुर्ता पहनना प्रारम्भ कर दिया । एक दिन बिरला जी द्वारा निर्मित मन्दिर से लौट रहे थे उसी समय विदेशी यात्री उस मन्दिर में दर्शनार्थ जा रहे थे । उन विदेशियों में से किसी एक ने कहा यह तो हमारे क्लास फेलो गांधी जैसा लगता है । उसी वक्त उनके साथ चल रहे गाइड मेन ने कहा जी हाँ, यह वही गाँधी है । उसके मन में संशय हुआ कि यह वही गाँधी कैसे हो सकता है ? क्योंकि वह गाँधी तो सूट, बूट, टाई, घड़ी, बाल को धारण करता था और यह जो साधारण व्यक्ति दिखाई पड़ रहा है इसमें तो उसके कोई भी लक्षण नहीं है । अर्थात् न यह पैन्ट, कोट पहनता है और न घड़ी बान्धता है न इसके सर पर बाल हैं और वह तो चश्मा नहीं लगाता था इसे तो चश्मा भी लगा है तथा हाथ में लकड़ी पकड़ी है । फिर वह युवा था यह तो वृद्ध है । अभी यह खड़ाऊ पहना है वह तो बूट पहनता था । अत: इन सब विरोधी अंशों के होते हुए यह वही गाँधी है ऐसा कैसे मान लिया जाय ? इस प्रकार देश, वेश, अवस्था, काल से विदेशी पर्यटक को गाँधी के प्रति प्रथम भ्रान्ति हुई किन्तु वार्तालाप द्वारा जान लिया कि यह वही हमारे साथ कालेज में पढ़ने वाला मित्र गाँधी है एवं गाँधीजी ने भी उन्हें देख पहचान लिया । तब परस्पर प्रेमपूर्वक वार्तालाप हुआ ।

इस द्रष्टान्त का तात्पर्य है कि उस इंगलैंड में रहने वाले गाँधीजी की पोशाक, उम्र तब और थी एवं अब जब वहाँ से लौटकर भारत में रह रहे थे तब

उनकी पोशक तथा आयु कुछ और थी । इस प्रकार विदेशियों द्वारा कालेज में देखे गये तब के गाँधी तथा अबके गाँधी से ''यह वही गाँधी है'' ऐसा ऐक्य बोध होना सम्भव नहीं हो रहा था किन्तु तब के शरीर, पोशक, घड़ी, बाल, बूट आदि व अब बिना बाल, घड़ी, बूट केवल ऊँची धोती चादर लपेटे इन दोनों देश, काल, अवस्था भेद का विचार द्वारा त्याग कर देखाजाय तो फिर यह पुरुष वही गाँधी है यह प्रमाणित हो जायगा । विरोध बातों का त्यागकर विचार से केवल शरीर मात्र की तुलना करने से गान्धीजी को उन विदेशी व्यक्तियों द्वारा पहचानने में कोई विरोध नहीं पड़ा । इसी प्रकार राजमाता मीरा एवं जोगिनी मीरा की भी एकता सिद्ध हो सकेगी ।

यहाँ तत्त्वमसि महावाक्य में ''तत्, त्वम्, असि'' (वह तू है) में तीन पद हैं । इसमें 'तत्' पद वाच्य जो ईश्वर है उसकी सामर्थ्य, सर्वज्ञता, परोक्षता, जगत कर्तापना आदि उपाधियों का त्याग करें तथा 'त्वम्' पद वाच्य जो जीव है उसकी असमर्थता, अल्पज्ञता, परिच्छिन्नता इत्यादि उपाधियों का त्याग करें । फिर तत् पद के लक्ष्य अद्वितीय, पूर्णानन्द, सर्वात्मा और 'त्वम्' पद का लक्ष्य कूटस्थ, साक्षी, असंग सच्चिदानन्द ब्रह्म इन दोनों की एकता ''असि'' पद से करे तो किसी भी प्रकार का विरोध (बाधा) नहीं है, परन्तु 'तत्' पद, 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ के साथ एकता करने से विरोध आता है । अत: उन अविद्या चिदाभास तथा माया चिदाभास दोनों के वाच्यार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ जीव साक्षी कूटस्थ आत्मा एवं ईश्वर साक्षी परमात्मा के अभेद को समझना चाहिये यही इस भागत्याग लक्षणा का प्रयोजन है ।

महावाक्य शोधन

आत्मन् ! जैसे धान को औखली में कूट उसमें से छिलके को निकालकर

केवल चाँवल को ही ग्रहण किया जाता है । यदि चाँवल से छिलका निकाले बिना पूरा धान खाना चाहे तो वह खाया नहीं जा सकेगा तथा पूरे धान का ही त्याग करदें तो भूख निवृत्त नहीं हो सकेगी । इसलिये धान से चाँवल को पृथक् कर तुष (छिलका) अंश का त्याग कर मात्र चाँवल को ही ग्रहण करने से तृप्ति होती है । उसी प्रकार जीव-ईश्वर में से भागत्याग लक्षणा द्वारा उपाधि रूप सर्वग्यता, अल्पज्ञता आदि वाच्यार्थ का त्याग कर मात्र निरूपाधिक एक लक्ष्यार्थ को ग्रहण करने से मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है ।

हे आत्मन् ! ''तत् पद ईश्वर'' तथा ''त्वम् पद जीव'' में वाच्य रूप उपाधि तथा लक्ष्य रूप उपाधि क्या है तथा उनका आपस में क्या भेद है अब इस विषय को तुम विस्तार सहित सकोष्टक एवं सचित्र समझो ।

तत् पद ईश्वर की वाच्य उपाधि माया है तथा विराट, हिरण्यगर्भ तथा अव्याकृत ये ईश्वर के तीन देह माया रूप है । वैश्वानर, सूत्रात्मा तथा अन्तर्यामी यह तीनों तत् पद वाच्यार्थ ईश्वर के अभिमान है तथा उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय ये तीनों उसकी अवस्था है । सत्, रज तथा तम ये उसकी वस्तु है तथा मैं एक से अनेक हो जाऊँ से लेकर जीव रूप से प्रवेश होने तक का उसका यह कार्य है । इस प्रकार माया, चिदाभास तथा उनका अधिष्ठान, ईश्वर साक्षी शुद्ध ब्रह्म सब मिलकर तत् पद का वाच्यार्थ ईश्वर है एवं माया और चिदाभास का उसके धर्भ सहित विरोधी अंश का त्याग कर शेष रहे अधिष्ठान ईश्वर साक्षी शुद्ध ब्रह्म यह तत् पद का लक्ष्यार्थ कहलाता है ।

त्वम् पद जीव की अविद्या उपाधि है । वह अविद्या स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण ये तीन देह रूप परिणाम को प्राप्त होती है । इन तीन देह के विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ ये जीव के तीन अभिमान हैं । जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति त्वम् पद वाच्य जीव की तीन अवस्था है । स्थूल, सूक्ष्म, सुख-

दु:ख ये जीव की भोग वस्तु है तथा जाग्रत से लेकर मोक्ष पर्यन्त यह जीव का कार्य काल है । इस प्रकार अविद्या, चिदाभास तथा उसका अधिष्ठान जीव साक्षी कूटस्थ आत्मा त्वम् पद का वाच्यार्थ है और अविद्या तथा उसके चिदाभास सहित समस्त धर्मों का परित्याग कर शेष रहे अधिष्ठान जीव साक्षी कूटस्थ आत्मा त्वम् पद का लक्ष्यार्थ है ।

माया उपाधि जो तत् पद वाच्यार्थ ईश्वर की हेतु है उसमें सत्वगुण अपने आश्रित रज तथा तमोगुण को ढँक कर रखता है इस कारण विशेष उज्वलता रहती है ।

अविद्या उपाधि जो त्वम् पद वाच्यार्थ जीव की हेतु है उसमें रज तथा तमोगुण के आश्रित सत्वगुण होने से मलिनता विशेष रहती है ।

उपरोक्त तत् पद वाच्य माया तथा त्वम् पद वाच्य अविद्या उपाधि में शुद्धता तथा अशुद्ध के भेद से दोनों के चिदाभास अंश में भेद प्रतीत होता है ।

चिदाभास धर्म भेद

	माया उपाधि	**अविद्या उपाधि**
	तत् पद 'ईश्वर' चिदाभास	**त्वम् पद 'जीव' चिदाभास**
चि	समर्थता	असमर्थता
दा	सर्वशक्ति	अल्पशक्ति
भा	सर्वज्ञ	अल्पज्ञ
स	परोक्ष	साक्षात अपरोक्ष

के	स्वतन्त्र (मायाधीश)	परतन्त्र (मायाधीन)
कारण	व्यापक	परिच्छिन्न
हुए	एक	अनेक
धर्मों	फलदाता	कर्ता-भोक्ता
में	अजन्मा-अमृत	जन्म-मृत्यु
अन्तर	आनन्द	दु:खी
	मुक्त	बद्ध

◆◆◆

ईश्वर जीव सामर्थ्य

	शुद्ध माया उपाधि ईश्वर	**मलिन अविद्या उपाधि जीव**
देश	अव्याकृत माया	चक्षु, कंठ, हृदय
काल	उत्पत्ति, स्थिति, लय	जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति
वस्तु	सत्व, रज, तम	स्थूल, सूक्ष्म, सुख-दु:ख भोग
शरीर	विराट, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत	स्थूल, सूक्ष्म, कारण
अभिमानी	वैश्वानर, सूत्रात्मा, अन्तर्यामी	विश्व, तैजस, प्राज्ञ
कार्य	मैं एक से अनेक हो जाऊँ से जीव रूप से प्रवेश होने तक	जाग्रत से लेकर मोक्ष पर्यन्त
वाच्य	माया, चिदाभास और	अविद्या, चिदाभास और
स्वरूप	अधिष्ठान ब्रह्म	अधिष्ठान कूटस्थ आत्मा
	माया और चिदाभास के धर्म	अविद्या और चिदाभास के धर्म

लक्ष्य	सहित परित्याग करके शेष रहा	सहित परित्याग कर जो शेष रहा
स्वरूप	जो अधिष्ठान ईश्वर साक्षी शुद्ध ब्रह्म यह तत् पद का लक्ष्यार्थ है ।	तीनों शरीरों का अधिष्ठान जीव साक्षी कूटस्थात्मा यह त्वम् पद का लक्ष्यार्थ है ।
अध्यास	ब्रह्म की सत्यता का ईश्वर में एवं ईश्वर की जगत् कारणता का ब्रह्म में आरोपण हो गया ।	आत्मा की सत्यता का जीव में एव जीव के कर्तृत्व–भोक्तृत्व काआत्मा में आरोपण हो गया ।

इस प्रकार माया और अविद्या ये दो उपाधि वाच्यार्थ रूप दृश्य है । इनका त्याग कर तू स्वयं आत्मा तत् पद और त्वम् पद का एक लक्ष्यार्थ शुद्ध ब्रह्म ही है । भगवत् गीता : १३२/ में ''क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'' कहा है, अर्थात् देह, प्राण, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि इत्यादि इदम् (यह) अंश को जानने वाला जो क्षेत्रज्ञ शुद्ध जीव है उसे तू मेरा अपना ही रूप जान अर्थात् वह क्षेत्रज्ञ मैं ही हूँ ऐसा तू निश्चय कर ।

अहं भवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं चिचक्ष्व भो ।
न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि ।।

– भागवत : ४/८८ पुरंजन

हे जीव ! जो मैं हूँ वही तू है । मेरे से तू जुदा नहीं है । तू जो है वही मैं हूँ इस प्रकार मेरा तथा तेरा एकत्व रूप निश्चय कर । जो ज्ञानी पुरुष है वह कूटस्थात्मा तथा शुद्ध ब्रह्म में, जीव साक्षी तथा ईश्वर साक्षी में किसी भी समय किसी भी हेतु से किंचित् भी भेद नहीं देखते हैं इसलिये जीव ईश्वर एक रूप है ।

''**अहं ब्रह्म परम धाम ब्रह्माऽहं परमपदम्**''

जीव का चिदाभास अंश ही कर्ता–भोक्ता है एवं ईश्वर का चिदाभास अंश ही फलदाता है ।

जीव का साक्षी कूटस्थात्मा शुद्ध, निष्क्रिय, असंग, नित्य है एवं ईश्वर का साक्षी शुद्ध ब्रह्म भी असंग, निष्क्रिय तथा नित्य है । इस प्रकार ''जीवो ब्रह्मैव ना पर:'', यह जीव ब्रह्म ही है अन्य नहीं ।

इस प्रकार अनेकों श्रुति, स्मृति तथा पुराण इतिहास द्वारा अनेको स्थानो पर प्रत्यगात्मा का परमात्मा के साथ अभेद रूप से निरूपणा किया है । अस्तु हे आत्मन् ! अपने आत्मा को अर्थात् अपने को ब्रह्म रूप ही जान एवं सुख से विचरण कर । अब आज से अविद्या तथा माया चिदाभास के परस्पर विरोधी धर्मों को देख अपने कूटस्थ साक्षी आत्म स्वरूप का ईश्वर साक्षी शुद्ध ब्रह्म के साथ सोऽहम्, शिवोऽहम् धारणा करने में किंचित् भी सन्देह मत करना । ''अयमात्मा ब्रह्म'' यह आत्मा ब्रह्म ही है ।

''क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि''

अर्थात् इस दृश्य ''यह'' रूप (इदं शरीरं) शरीर में जो इस क्षेत्र दृश्य शरीर को जानने वाला है वह द्रष्टा ब्रह्म ही है उसे जीव रूप अन्य न जानो । 'जीवो ब्रह्मेव ना पर:' ।

ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति
ब्रह्म विद्वान् ब्रह्मैषाभिप्रैति ।।

– कौषीतिकि. उप. १/४

जिन्होंने ब्रह्म को सद्गुरु कृपा द्वारा जाना है उसी समय ब्रह्म को प्राप्त कर लिया है । संसार के पदार्थों को जानने के बाद पाना शेष रहता है किन्तु परमात्मा को जानना व पाना एक ही बात है क्योंकि वह ब्रह्म जिज्ञासु से पृथक नहीं है । इसलिये जानने के बाद पाने की चेष्टा का प्रयोजन नहीं रहता ।

''**जानत तुमहि तुमहि होहि जाई**''– रामायण

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेवतत् ।
अहं ब्रह्मेति चेद्वेदि साक्षात्कारः स उच्यते ।।

– पंचदशी : ६/१६, बराह उप. २/४१

'ब्रह्म है' यह शास्त्र से पढ़कर या अन्य से सुनकर माना है तो यह परोक्ष ज्ञान अर्थात् बिना अनुभव का ज्ञान कहलाता है । एवं 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अनुभूति होने का नाम अपरोक्ष ज्ञान व आत्म साक्षात्कार केहलाता है ।

तत्त्वमसि श्वेतकेतु

– छान्दोग्य उप. ६ अध्याय

अरुण का सुप्रसिद्ध पौत्र श्वेतकेतु था । उसके पिता उद्यालक ने कहा श्वेतकेतु ! तू ब्राह्मण होने की चेष्टा कर क्योंकि हे सोम्य ! हमारे कुल में उत्पन्न हुआ कोई भी पुरुष अब्राह्मणत्व को प्राप्त नहीं हुआ अर्थात् अपने आत्म स्वरूप को न जान केवल नामधारी ब्राह्मण बन्धु बनकर नहीं रहता । वह पिता के हृदय स्पर्शी शब्द सुन बारह वर्ष की उम्र में विद्या अध्ययन करने के लिये चल पड़ा । वह गुरुकुल से बारह वर्ष बाद वेदाध्ययन कर अपने को वहुत बुद्धिमान जान घर में अनम्र भाव से लौटा । पिता ने उसकी इस दशा को जाना कि इसने विद्या को नहीं अपितु अविद्या को ही पढ़ा है; क्योंकि वह बिना प्रणाम किये घर में जा वैठा । पिता ने भीतर जाकर पूछा सोम्य ! तू जो ऐसा महामना पाण्डित्य का अभिमानी और अविनीत होकर गुरुकुल से लौटा है तो मैं तुझसे पूछता हूँ कि क्या तूने वह आदेश भी अपने गुरु से पूछा है ? ''जिसके द्वारा अनसुना सुना–सा, अनदेखा देखा–सा, अज्ञात ज्ञात–सा, अविचारा विचारा–सा हो जाता है ।'' श्वेतकेतु ने कहा – पिताजी मैं चारों वेदों को पढ़कर आया हूँ, किन्तु आप जैसा कह रहे हैं वह बात तो मैं नहीं जान पाया हूँ । भगवन ! वह क्या विद्या है ? वह कैसा आदेश है ? वह कैसा विज्ञान

है ?

उद्यालक ने कहा हे सोम्य ! जिस प्रकार एक मिट्टी के पिण्ड के ज्ञान द्वारा उससे बने पदार्थों का भिन्न होने पर भी ज्ञान हो जाता है कि समस्त नाम, रूप मिट्टि मात्र है तथा सब आकार एवं नाम केवल वाणी का विकार मात्र है । जब आकार ही असत् है तब उनके नाम स्वत: असत् ही हुए । सत्य तो केवल एक मिट्टी ही है । अथवा जिस प्रकार एक लौह पिण्ड के ज्ञाता को लौहमय समस्त पदार्थों का बिना देखे अनुमान द्वारा भी ज्ञान हो जाता है कि इस फेक्ट्री के सभी पदार्थों के नाम, रूपों में भिन्नता है, किन्तु सब में एक लौह अधिष्ठान ही सत्य है । नाम, रूप तो उपयोगिता की दृष्टि से रखे वाणी के विकार मात्र है । अथवा जिसने स्वर्ण के सिक्के या बिस्कुट को देख लिया फिर उसके द्वारा तैयार किये नाना नाम, रूप वाले अलंकार देखे हुए से हो जाते हैं; क्योंकि नाम, रूप अलंकार तो वाणी के विकार मात्र है । सत्य तो केवल एक अधिष्ठान स्वर्ण ही है । हे सोम्य ! इसी प्रकार वह आदेश भी है जिसकी मैंने अभी चर्चा प्रारम्भ की थी कि जिसके ज्ञान द्वारा अश्रुत-श्रुत, अमत-मत, अदृश्य-दृश्य, अविज्ञात विशेष रूप से ज्ञात सा हो जाता है ।

श्वेतकेतु ने यह अपूर्व आश्चर्य सी बात सुनकर कहा पिताजी ! निश्चय ही वे मेरे पुज्य गुरुदेव इस विज्ञान को नहीं जानते होंगे, अन्यथा मुझे वे क्यों न बताते ? अब आप ही मुझे बतलाइये, मैं आपका पुत्र हूँ । मेरे अपराध को क्षमा करें । पिता ने कहा-अच्छा बेटा अब मैं तुझे बतलाता हूँ एकाग्रता से श्रवण कर ।

।। सत् रूप परमात्मा से जगत् की उत्पत्ति ।।

हे आत्मन् ! आरम्भ में यह सर्वाधिष्ठान एक अद्वितीय सत् ब्रह्म ही विद्यमान था । फिर पूर्व सृष्टि के जीवों को उनके संचित् कर्म भुगवाने हेतु नूतन सृष्टि सृजन करने की परमात्मा को इच्छा हुई । उसने संकल्प किया कि ''मैं

बहुतसा हो जाऊँ'' इस प्रकार संकल्प करने मात्र से वह सत् ब्रह्म तेज रूप में परिणत हो गया । उस तेज ब्रह्म ने संकल्प किया ''मैं अनेक सा हो जाऊँ'' इस प्रकार संकल्प करने मात्र से वह संकल्प पुरुष परमात्मा तेज से जल रूप में परिणत हो गया । उस जल ब्रह्म ने फिर संकल्प किया कि ''मैं बहुत सा हो जाऊँ'' और इस प्रकार संकल्प कर उस जल ब्रह्म ने अपने से अन्न ब्रह्म को उत्पन्न किया । फिर उस अन्न ब्रह्म ने संकल्प किया कि ''मैं जीवात्मा रूप से इन उद्भिज, अण्डज तथा जीवज (जरायुज) तीनों देवताओं में अनुप्रवेश कर नाम, रूप की अभिव्यक्ति करूँ'' । प्रसिद्ध प्राणियों में तीन ही मुख्य बीज होते हैं । कोई चौथा स्वेदज भी मानते हैं । फिर उस सत् ब्रह्म ने प्रत्येक देवता को त्रिवृत् किया ।

।। लाल, शुक्ल, कृष्ण (त्रिवृत्करण) ।।

अग्नि का जो रोहित (लाल) रूप है वह तेज का ही रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जल का है और जो कृष्ण है वह पृथ्वी रूप अन्न का है । यदि अग्नि से यह लाल, श्वेत तथा कृष्ण रंग निकाल लिये जावे तो इस प्रकार अग्नि से अग्नित्व नाम निवृत्त हो जायगा क्योंकि अग्नि रूप स्वयं से तो कुछ है नहीं केवल तीन लाल, शुक्ल, कृष्ण रूप ही सत्य है, अग्नि तो वाणी का विकार मात्र है ।

सूर्य (आदित्य, मार्तण्ड, रवि) में जो लाल रूप है वह तेज का है, शुक्ल रूप जल का है तथा कृष्ण रूप अन्न का है । यदि सूर्य से लाल, श्वेत, कृष्ण रूप निकाल लिये जाये तो फिर इस प्रकार सूर्य से सूर्यत्व निवृत्त हो जायगा; क्योंकि इन तीनों के अलावा सूर्य अन्य कोई तत्त्व नहीं है । यह सूर्य नाम तो वाणी का विकार मात्र है जो इन तीनों रूप पर अध्यस्त है ।

इसी प्रकार चन्द्रमा, विद्युत नाम भी वाणी का विकार मात्र है । चन्द्रमा तथा विद्युत में से लाल, शुक्ल, कृष्ण इन तीनों रूपों को निकाल लिया जावे

तो चन्द्रत्त्व, विद्युत्व सत्तारूप कुछ नहीं रहेगा । अर्थात् जो कुछ लाल–सा (रोहित) है वह तेज का रूप है । जो कुछ शुक्ल–सा है वह जल का रूप है और जो कुछ श्याम–सा है वह अन्न का रूप है ऐसा इन तीनों देवताओं को जान । अब यह जान कि किस प्रकार ये तीनों देवता पुरुष को प्राप्त हो उनमें से त्रिवृत् हो जाते हैं ।

मन, प्राण और वाक्

हे आत्मन् ! जीव के द्वारा ग्रहण किया हुआ खाद्य अन्न शरीर में तीन रूपों में परिणत हो जाता है । उसका जो अत्यन्त स्थूल भाग होता है वह मल हो जाता है, जो मध्यम भाग है वह मांस हो जाता है और जो अत्यन्त सूक्ष्म भाग होता है वह मन हो जाता है ।

पीया हुआ जल तीन प्रकार का हो जाता है । उसका जो स्थूलतम भाग होता है वह मूत्र हो जाता है, उसका जो मध्यम भाग होता है वह रक्त हो जाता है और जो सूक्ष्मतम भाग है वह प्राण रूप हो जाता है ।

खाया हुआ घृतादि चिकने तेज पदार्थ तीन प्रकार का हो जाता है । उसका जो स्थूलतम भाग होता है वह हड्डी हो जाता है, जो मध्यम भाग है वह मज्जा हो जाता है और जो सूक्ष्मतम भाग है वह वाणी हो जाता है । इसलिये हे आत्मन् ! मन अन्नमय, प्राण जलमय और वाक् तेजोमयी है । श्वेतकेतु बोला भगवन् ! आप मुझे फिर समझाइये । हे आत्मन् ! जैसे मथे हुए दही से सार अंश मक्खन ऊपर आ जाता है उसी प्रकार खाये अन्न का सूक्ष्म भाग इकट्ठा हो ऊपर आ जाता है, वह मन होता है । पीये हुए जल का जो सूक्ष्म भाग है वह इकट्ठा होकर ऊपर आ जाता है वह प्राण होता है । भक्षण किये हुए तेज का जो सूक्ष्म भाग होता है वह इकट्ठा होकर ऊपर आता है वह वाणी होता है । इस प्रकार हे आत्मन् ! मन अन्नमय, प्राण जलमय और वाणी तेजोमयी है । भगवन् ! मुझे

फिर समझाइये । आरूणि उद्यालक ने श्वेतकेतु की जिज्ञासा देख मन की अन्नमयता का निश्चय कराया ।

।। मन अन्नमय कैसे ?।।

हे आत्मन् ! यह पुरुष सोलह कलाओं वाला है । तू पन्द्रह दिन भोजन मत कर, केवल इच्छानुसार जल पान कर । फिर भी तु जीवित रहेगा क्योंकि यह प्राण जलमय है इसलिये जल पीते रहने से उसका नाश नहीं होगा । पिता की आज्ञा से उसने पन्द्र दिन भोजन नहीं किया । तत्पश्चात् श्वेतकेतु आरूणि के पास आया व बोला कि आप कुछ आज्ञा कीजिये । आरूणि उद्यालक ने कहा तुम वेद मंत्रों का पाठ करो, तब उसने कहा भगवन् ! मुझे उनका स्मरण नहीं होता । उद्यालक ने कहा अच्छा जा अब तू थोड़ा-थोड़ा भोजन कर पन्द्रह दिन बाद मेरे पास आना; तब तू मेरी बात समझ जायगा । उसने भोजन किया व पन्द्रह दिन पश्चात् आरूणि के पास आकर पिता की आज्ञा पाकर वेदोच्चार करने लगा और पूछा ऐसा क्यें हुआ ? तब आरूणि उद्यालक श्वेतकेतु से बोला-जिस प्रकार बहुत अग्नि से एक जुगनू के बराबर चिन्गारी रह जावे तो वह उससे अधिक दाह तपन उत्पन्न नहीं कर सकता, किन्तु उसे तृण सम्पन्न कर प्रज्वलित कर दिया जाय तो वह अपने पूर्व की अपेक्षा ज्यादा तपन दाह दे सकता है । अथवा १६ कलाओं वाला चन्द्रमा एकम तिथि को रात्रि का घोर अन्धकार दूर नहीं कर पाता किन्तु वही चन्द्रमा एक-एक कला बढ़कर पूर्णिमा को रात्रि के घोर अन्धकार को दूर करने में समर्थ हो पाता है । इसी प्रकार हे आत्मन् ! पन्द्रह दिन अन्न न खाने से तेरी १६ कलाओं में से घट कर केवल एक ही कला रह गई थी । फिर उसे जब भोजन कर प्रज्वलित कर दी गई तो इसी कारण से तू अब वेदों का अनुभव कर रहा है ।

।। सत् आत्मा ही सबका मूल कैसे ? ।।

हे आत्मन् ! जिस अवस्था में यह पुरुष सोता है उस समय यह सत् से सम्पन्न हो जाता है । वह अपने मूल स्वरूप को प्राप्त हो जाता है । दर्पण उपाधि के अभाव में प्रतिविम्ब जैसे अपने मूल विम्ब स्वरूप में लय हो जाता है । जिस प्रकार डोरी से बंधा पक्षी डोरी के मान से चारों तरफ उड़कर थककर अपने बन्धन स्थान का ही आश्रय लेता है । उसी प्रकार यह मन जाग्रत तथा स्वप्नावस्था में सुखार्थ सब और भागकर विश्राम का कहीं स्थान न मिलने पर प्राण उपहित चेतन ब्रह्म का ही आश्रय लेता है; क्योंकि मन याने जीवात्मा के ठहरने की जगह निश्चय करके प्राण उपहित ब्रह्म ही है । तात्पर्य इस मंत्र का यह है कि जीवात्मा जाग्रत अवस्था में नेत्र में स्थित होकर संसार प्रपंचों को रचता है और उनका द्रष्टा भी होता है, उसी प्रकार स्वप्न अवस्था में कंठ में विशेष रूप से रह अपने सूक्ष्म शरीर में ही समस्त स्वप्न नगर प्रपंच की रचना करता है और उसका द्रष्टा होता है । और इसी प्रकार जब व्यवहार करते करते थक जाता है तब सब प्रपंचों से अलग होकर सुषुप्ति में अपने अधिष्ठान ब्रह्म के साथ विश्राम करने लगता है, फिर उस दशा में प्रपंच का कहीं पता नहीं लगता है, केवल उसका संस्कार रह जाता है, वही संस्कार फिर जीव को बाहर लाकर पूर्ववत् व्यवहारों में लगा देता है । हे पुत्र ! मनुष्य जैसे बुलबुल चिड़िया को पालते हैं और उसके टांग में सूत्र का एक छोर बांध देते हैं और उसका एक छोर लोहे के अड्डे पर बांध देते हैं । वह पक्षी इधर-उधर कूद-फांद उड़-थक उसी अड्डे पर बैठ विश्राम लेता है । उसी प्रकार हे पुत्र ! इस जीवात्मा को जाग्रत, स्वप्न में कहीं भी विश्राम न मिलने पर यह सुषुप्ति में अपने अधिष्ठान ब्रह्म के साथ विश्राम करने लग जाता है । वासना रूपी सूत जीव का बन्धन है, अगर यह वासना कट जाय तो जीव ब्रह्म को प्राप्त होकर वहीं लय हो सकता है ।

हे आत्मन् ! इस शरीर रूप अंकुर का मूल जल है । जल बिन्दु को

छोड़कर शरीर का मूल और कहाँ हो सकता है ? तू अन्न रूप अंकुर के द्वारा जल रूप मूल को खोज और फिर जल रूप अंकुर के द्वारा तेज रूप मूल को खोज और फिर उस तेज रूप अंकुर के द्वारा सत् ब्रह्म रूप मूल बीज की खोज कर । इस प्रकार यह सारी प्रज्ञा सन्मुलक है तथा सत् ही इसका आश्रय है और सत् ही सबका प्रतिष्ठा (लय स्थान) है ।

।। मुमूर्ष (मरणावस्था) का द्रष्टान्त ।।

हे आत्मन् ! रोगी पुरुष के बान्धवगण चारों ओर से घेर उससे पूछते हैं क्या तुम मुझे जानते हो ? जब तक उसकी वाणी मन में लीन नहीं होती तथा मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज पर देवता में लीन नहीं होता तब तक वह पहचान लेता है । फिर जिस समय उसकी वाणी मन में लीन हो जाती है तथा मन प्राण में, प्राण तेज में, तेज पर देवता में लीन हो जाता है तब वह नहीं पहचान पाता है कि उसके सम्मुख कौन खड़े हैं एवं वह क्या कह रहे हैं ?

वह जो यह अणिमा (सूक्ष्माति सूक्ष्म) निराकार कारण ब्रह्म सत्ता है उसके समान ही मैं, तू, वह, यह सब दृश्यमान् साकार जगत् है वह सबका मूल पर देवता ही सत्य है । वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है । श्वेतकेतु-भगवन् ! मुझे फिर समझाइये ।

।। मधु का द्रष्टान्त ।।

हे आत्मन् ! नाना दिशाओं के वृक्षों, पौधों पर के फूलों से मधुमक्खियाँ रस लाकर एकता को प्राप्त करा मधु बना देती है । जिस प्रकार उस मधु के रूप में स्थित नाना फूलों के रस यह नहीं जानते हैं कि अभी हम मधु रूप हैं और इसके पूर्व मैं अमुक पौधे या वृक्ष के पुष्प का रस था । ठीक इसी प्रकार यह सम्पूर्ण प्रज्ञा सुषुप्ति एवं मृत्यु पर सत् मूल को प्राप्त होकर भी यह नहीं जानती कि हम सत् को प्राप्त हो गये एवं वे इस

लोक में व्याघ्र, सिंह, भेड़िया, शूकर, कीट, पतंग, डाँस, मच्छर जो-जो भी सुषुप्ति मृत्यादि से पूर्व होते हैं वे ही पुनः हो जाते हैं ।

वह जो यह सूक्ष्माति सूक्ष्म निर्गुण निराकार व्यापक आत्म ब्रह्म है उसी का सगुण साकार मैं, तू, वह, यह सब रूप है । वह सत्य है, वह आत्मा है और श्वेतकेतु ! वही तू है । श्वेतकेतु बोला- भगवन् ! मुझे फिर से समझाइये ।

।। नदियों का द्रष्टान्त ।।

हे आत्मन् ! ये नदियाँ अपने मूल उद्‌गम स्थान समुद्र से बादलों द्वारा जल लेकर पूर्व तथा पश्चिम की ओर बहती है और वे समुद्र में ही पुनः मिलकर समुद्र रूप हो जाती है । वे नदियाँ जिस प्रकार समुद्र में स्थित होने पर भी यह नहीं जानती हैं कि यहाँ हम सब पृथक्-पृथक् नदियाँ आकर एकत्रित हो गई हैं अर्थात् मैं गंगा हूँ, तू यमुना है, वह सरस्वती है । इस प्रकार न भेद जानती है न उन्हें, एकता का ही बोध होता है कि मैं समुद्र हो गई ठीक । इसी प्रकार ये सम्पूर्ण प्रजाएँ एक अद्वितीय सत् ब्रह्म से आने पर एवं पुनः सुषुप्ति या मृत्यु में उसी में लय हो जाने पर भी यह नहीं जानते हैं कि यहाँ हम सत् से सम्पन्न हो गये हैं एवं इसके पूर्व हम मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, मच्छर, डाँस आदि थे । इस प्रकार स्वरूप अज्ञान के कारण जो-जो भाव वाले वे सुषुप्ति या मृत्यु के पूर्व थे पुनः जाग्रत में या सृष्टि होने पर वही-वही भाव वाले हो जाते हैं । वह जो यह अणिमा है एतद्रुप ही यह सब जगत् है । वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है । श्वेतकेतु बोला भगवन् ! मुझे फिर समझाइये ।

।। वृक्ष का द्रष्टान्त ।।

हे आत्मन् ! यदि व्यक्ति कुठार से किसी वृक्ष के मूल में आघात

करे तो वह जीवित रहते हुए केवल रस स्राव करेगा । यदि उसके सर्वोपरि भाग में आघात करे तो भी यह जीवित रहते हुए केवल रस स्राव करेगा । यदि उस वृक्ष की एक शाखा को जीव छोड़ देता है तो वह सुख जाती है । यदि दूसरी, तीसरी, शाखा को उसका जीव छोड़ दे तो वह सूख जावेगी । इसी प्रकार वृक्ष को ही जड़मूल से जीव छोड़ दे तो सम्पूर्ण वृक्ष ही सूख जावेगा । ठीक इसी प्रकार तू जान कि जीव से रहित होने पर यह शरीर मर जाता है, किन्तु जीव नहीं मरता । यह शरीर वृक्ष–जीव आत्मा से ओत–प्रोत है और अन्न, जलपान प्रारब्ध पर्यन्त करता हुआ आनन्दपूर्वक स्थित है । हे श्वेतकेतु ! प्रारब्ध समाप्त होने एवं देह नष्ट होने पर भी जिसका किसी प्रकार नाश नहीं होता, वह जो यह आत्मा सूक्ष्मादि सूक्ष्म (अणिमा) है एतद्रुप ही यह सब है । वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वह तू है । भगवन् ! मुझे फिर समझाइये ।

।। वट बीज का द्रष्टान्त ।।

हे आत्मन् ! वट वृक्ष के एक बड़े फल को काटकर देखो इसमें क्या देखते हो ? भगवन् ! इसमें अणु के समान अनेक बीज हैं । अच्छा तुम उनमें से एक बीज को तोड़कर देखो तथा जो दिखाई पड़े वह मुझे बताओ ? भगवन् ! इसमें तो मुझे कूछ भी नहीं दिखाई पड़ता है । तब आरूणि ने श्वेतकेतो से कहा – है सोम्य ! इस वट बीज की जिस सूक्ष्माति सूक्ष्म व्यापक अणिमा सत्ता को तू नहीं देख पाता है । हे सोम्य ! उस सूक्ष्म बीजत्व शक्ति का ही यह इतना विशाल वट वृक्ष खड़ा हुआ है । हे सोम्य ! तू मेरे कथन पर विश्वास कर । वह जो यह अणिमा है एतद्रुप ही यह सब है । वह सत्य है, वह आत्मा है और श्वेतकेतो ! वह तू है । श्वेतकेतु बोला भगवन् ! मुझे फिर समझाइये ।

।। नमक का द्रष्टान्त ।।

हे आत्मन् ! इस नमक को इस पानी के ग्लास में डाल दो एवं कल इसे लेकर मेरे पास आना । श्वेतकेतु ने वैसा ही किया । तब आरूणि ने कहा हे श्वेतकेतो ! रात तुमने जो नमक जल के ग्लास में डाला था उसे बाहर निकालो । किन्तु श्वेतकेतु प्रयत्न कर भी जल में से नमक को नहीं ढूंढ सका । तब उद्यालक ने कहा–इस जल के ऊपर, मध्य तथा नीचे से स्वाद लेकर बताओ कैसा लगा ? श्वेतकेतु ने कहा– नमकयुक्त लग रहा है । अच्छा अब समझो इस जल में नमक सदा विद्यमान है, किन्तु वह नमक उस जल में विलीन होकर रह रहा है । इसलिये तू उसे नहीं देख सका था, अब अनुभव से उसकी सत्ता का पता लगा । इस प्रकार वह सत् निश्चय यहीं विद्यमान है, किन्तु इन्द्रियों द्वारा दृश्य रूप से तुझे दिखाई नहीं देता है । जब सद्गुरु साक्षी के रूप में अनुभव कराते हैं तब ही यह मैं रूप से अनुभव में आता है । वह जो यह अदृश्य सूक्ष्माति सूक्ष्म आत्मसत्ता है इसके अनुरूप ही यह सब है । वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतु ! वही तू है । भगवन् ! मुझे फिर समझाइये ।

।। अपहरण बालक का द्रष्टान्त ।।

हे आत्मन् ! जिस प्रकार कोई डाकु, चोर किसी धनाढ्य बालक को धोखे से आँख पर पट्टी एवं हाथ बान्ध किसी अज्ञात स्थान पर ले जा धन हरण कर वहीं छोड़ देता है । तब वह लड़का रोता हुआ इधर–उधर चलता, गिरता, टकराता है । तब किसी दयालु पुरुष ने उसके बन्धन को खोल उसके ग्राम का रास्ता बता दिया और वह पूछते–पूछते अपने गन्तव्य स्थान पर पुनः लौट जाता है । इसी प्रकार इस लोक में भेदवादी दम्भी गुरु भोले जीव को कर्मकाण्ड के जंगल में ले जाकर उसके ज्ञान चक्षु को द्वैत पट्टी से बांध धन, मन हरण कर लेते है फिर कर्म, उपासना के जंगल में ऐसे अकेला छोड़ देता है और उसके घर का रास्ता नहीं बताता है । तब उसे दुःखी जीव को देख किसी परोपकारी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यवान पुरुष

को दया आई और उसने उसके आत्म स्वरूप का बोधकराकर देहादि अनात्मा से अध्यास बन्धन को काट उसको घर पहुँचा दिया । आचार्यवान् पुरुष ही सत् को जानता है । उसके लिये मोक्ष हाथ में रखी वस्तु की तरह सब समय स्पष्ट रहता है । मोक्ष किसी भी जीव को दुर्लभ नहीं है । मोक्ष में उतनी ही देरी है जब तक यह जीव देहभाव को नहीं छोड़ता है । देहभाव को छोड़ते ही वह सत् ब्रह्म से सम्पन्न हो जाता है । वह जो अणिमा है एतद्रुप ही यह सब है । वह सत्य है, वह आत्मा है और श्वेतकेतु ! वह तू है ।

।। ज्ञानी अज्ञानी का द्रष्टान्त ।।

हे आत्मन् ! चोरी के सन्देह में चोर के साथ अचोर भी पकड़ा जाता है । तब राजा सत्–असत् की परीक्षा अग्नि में तपे लौह तवे को उठाने के लिये कहता है । जिसने चोरी की और अपने को अचोर सिद्ध कराने के लिये उस आग से तप्त लौह तवे को खुले हाथों से उठाने का दुराग्रह करता है तो उसका हाथ जल जाता है, किन्तु जिसने चोरी नहीं की उसके द्वारा उठाने पर उसके हाथ नहीं जलते हैं । कहने का तात्पर्य है कि अज्ञानी जब कोई कर्म नहीं करने का अहंकार करता है तो भी बन्धन को प्राप्त होता है एवं ज्ञानी द्वारा किसी क्रिया में अहंकार नहीं होने से वह बन्धन को प्राप्त नहीं होता है । विद्वान् का अज्ञानी की तरह पुनरावर्तन नहीं होता । जिसमें जाकर ज्ञानी पुनः नहीं लौटता वही सब एतद्रुप ही है । ''वह सत्य है, वही आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! तू वही है, वह तू है ।'' तब श्वेतकेतु वह मैं हूँ, सोऽहम्, शिवोऽहम् ऐसा साक्षात् अपरोक्ष रूप से इस आत्मा को जान गया ।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं ।
स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो ।।

– छान्दोग्य उप. : ६/९/४

उद्दालक ऋषि अपने पुत्र श्वेतकेतु को ब्रह्मतत्त्व समझाते समय कहते हैं – मैंने जिस सूक्ष्म से सूक्ष्म सत पदार्थ की बात कही है, वह समस्त जगत् तदात्मक ही है । एकमात्र वह सत्य है और सत्य स्वरुप है । हे श्वेतकेतो ! तुम भी वही सत्य स्वरूप ब्रह्म हो । ऐसा दृढ़ता से निश्चय करो ।

देहो देवालयः प्रोक्तः सजीवः केवल्ः शिवः ।
त्य जे दज्ञान निर्माल्यं सोऽहं भावेन पूजयेत् ।।

– शंकराचार्य आत्मपूजा – ८, मैत्रेयी. उप. : २/९

यह देह ही देव मन्दिर है इसके मध्य में वही परम शिव परमात्मा अवस्थित है । तुम ही वह शीव हो । तुम ही परमात्मा हो । देहभाव, जीवभाव, कर्ता–भोक्ता, बन्ध भाव छोड़कर तथा बाह्य पूजा का परित्याग कर तुम आत्मापूजा सोऽहम् परायण हो जावो ।

◆◆◆

भ्रान्ति रूप संसार

हे आत्मन् ! यह भ्रान्ति रूप संसार ही जीव को ब्रह्म से पृथक् निश्चय कराकर जन्म–मरण के चक्र में अनादिकाल से भटका रहा है । उपनिषद् लिखते हैं --

''द्वितीया द्वै भयं भवति''

मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ।।

– कठोपनिषद् : २/१/१०

जो ब्रह्म और आत्मा में भेद देखता है वह जन्म–मरण की धारा में सदा बहता ही रहेगा । उसे जन्म–मरण रूप भय की प्राप्ति होती ही

रहेगी । यदि सद्गुरु कृपा से जीव के मन की भ्रान्तियाँ दूर हो जावे तो यह तत्काल् शिवोऽहम् का निश्चय कर संसार चक्र से मुक्त हो सकता है ।

भिद्यते हृदय ग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्व संशयाः ।
क्षीयन्ते च अस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।

– मुण्डको. : २/२/८

जो कार्य कारण स्वरूप परमात्मा को यह निश्चय कर लेता है कि ''मैं ब्रह्म हूँ'' तभी मैं देह हूँ यह अनादि अविद्या से उत्पन्न जन्म–मरण, बन्ध–मोक्ष भ्रम छूट जाता है । तथा यह शुभाशुभ कर्मों से मुक्त हो समस्त भेद भ्रान्तियों से छूट ब्रह्म को जान ब्रह्म रूप ही स्वयं हो जाता है । फिर इसका निश्चय बदल जाता है एवं अनुभव करता है कि –

एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन ।
ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव ना परः ।।

यहाँ एक ब्रह्म के अलावा अन्य कुछ भी नहीं है । ब्रह्म सत्य है यह भ्रान्ति रूप संसार मिथ्या है तथा जीव ब्रह्म ही है अन्य नहीं ।

हे आत्मन् ! यह भ्रान्ति रूप संसार पाँच प्रकार का है और वही सद्गुरु है जो पाँच प्रकार का भ्रम जीव की बुद्धि से दूर कराकर अद्वितीय ब्रह्म का आत्म रूप से निश्चय करासके ।

भ्रान्ति : (१) भेद भ्रान्ति, (२) कर्ता–भोक्ता भ्रान्ति, (३) संग भ्रान्ति, (४) विकार भ्रान्ति, (५) ब्रह्म से पृथक् जगत् सत्य होने की भ्रान्ति ।

उपरोक्त पाँचों भ्रान्ति से निवृत्ति हेतु पाँच युक्तियाँ आचार्यों द्वारा अपनायी जाती है

१. भेद भ्रान्ति की निवृत्ति हेतु विम्ब प्रतिविम्ब युक्ति ।

२. कर्ता–भोक्तापने की भ्रान्ति निवृत्ति हेतु स्फटिक मणि युक्ति ।

३. संग भ्रान्ति की निवृत्ति हेतु घटाकाश युक्ति ।

४. विकार भ्रान्ति की निवृत्ति हेतु रस्सी सर्प युक्ति ।

५. ब्रह्म से भिन्न जगत् सत्य होने की भ्रान्ति हेतु स्वर्ण-अलंकार युक्ति ।

१. भेद भ्रान्ति :

(क) जीव-ईश्वर का भेद, (ख) जीव-जीव का भेद, (ग) जीव-जड़ का भेद, (घ) जड़-ईश्वर का भेद, (ङ) जड़-जड़ का भेद । यह पाँचों भेद भ्रान्ति स्वप्न द्रष्टान्त से दूर हो जाती है ।

विम्ब प्रतिविम्ब युक्ति : एक ही व्यक्ति का कन्वेक्स (**Convex**) दर्पण उपाधि के सम्मुख खड़ा होने से लम्बा, नाटा, मोटा, दुर्बल आदि अनेक रूप दिखाई पड़ता है । तथा शुद्ध दर्पण से एक ही देखने वाला व्यक्ति दो दिखाई पड़ते हैं । दिखने वाला व्यक्ति प्रतिविम्ब गौण है तथा देखने वाला विम्ब पुरुष मुख्य है । परन्तु प्रतिबिम्ब कोई दूसरा वास्तविक व्यक्ति, पदार्थ या दृश्य नहीं होता है ।

अन्तःकरण वृत्ति नेत्र द्वार से निकलकर दर्पण से टकराकर उलटकर सत्य मुखादि को ही देखती है तब दर्पण में तो भ्रम से दूसरा सा लगता है, किन्तु वास्तव में हमारी वृत्ति दर्पण के माध्यम से उलट अपनी ही मुख्य (असली) रूप को देखती है और श्रृंगारादि का उपयोग उस मुख्य बिम्ब के प्रति ही होता है । प्रतिबिम्ब पर कोई भी श्रृंगारादि साधना का उपयोग नहीं करता । दर्पण उपाधि के कारण एक ही रूप में दो कल्पना की जाती है । मुख्य रूप में विम्ब तथा मिथ्या रूप को प्रतिविम्ब कहा जाता है । वस्तु में भेद नहीं होने पर भी दर्पण उपाधि के कारण भेद भासता है । विम्ब से प्रतिबिम्ब का उल्टापना, दूर स्थित अनेकपना अथवा टेढ़ा, (वक्र), दुर्बल, मोटा, नाटा तथा लम्बापन यह भ्रान्ति रूप धर्म विम्ब में नहीं है, बल्कि

दर्पण उपाधि से बिम्ब के प्रतीत होते हैं । प्रतिविम्ब सदैव विम्ब रूप ही होता है ।

इसी प्रकार हे आत्मन् ! सच्चिदानन्द एक अखण्ड आत्म ब्रह्म ही है, परन्तु दर्पण तुल्य अविद्या वाले अन्तःकरण में चिदाभास पड़ने के कारण वह जीव रूप भासता है । जैसे स्वप्न में एक द्रष्टा पुरुष ही सत्य होता है शेष सभी स्वप्न नगर, स्वप्न पुरुष आभास मात्र ही होते हैं । जैसे स्वप्न द्रष्टा के समान संसार में एक ब्रह्म ही सत्य होता है एवं अन्य सभी संसार के प्राणी स्वप्न नगर, स्वप्न पुरुष की तरह जीवाभास रहते हैं । उस जीव रूप प्रतिविम्ब का वस्तुतः विम्ब स्वरूप ब्रह्म के साथ सदा अभेद जानो । तथापि अविद्या के बल से चिदाभास जीव के धर्म (१) जीव-ईश्वर का भेद, (२) जीवों का परस्पर भेद, (३) जड़ों का परस्पर भेद, (४) जीव-जड़ भेद, (५) जड़-ईश्वर भेद, इस पाँचों भेद अज्ञानी का विम्ब आत्मा में सत्य भासते हैं एवं अपने से ब्रह्म के प्रति दूरी, परिच्छिन्नता आदि धर्म भ्रान्ति से प्रतीत होते हैं । यह सब नाना औपाधिक भेद होने से मिथ्या है एक विम्ब रूप ब्रह्म ही सत्य है । जीव रूप प्रतिविम्ब तथा ब्रह्मरूप विम्ब का सदा अभेद है । उपाधि मिथ्या होने से उपाधिकृत भेद भी मिथ्या होते हैं ।

२. कर्ता-भोक्ता भ्रान्ति :

स्फटिक मणि युक्ति : लाल, हरा, पीला वस्त्र या रक्त पुष्प पर स्फटिक मणि रखी होने से संयोग सम्बन्ध से मणि लाल, हरी, पीली सी प्रतीत होती है । किन्तु लाल पुष्प या वस्त्र पर से स्फटिक मणि हटा लेने पर वह मणि निर्मल भासती है । इससे सिद्ध हुआ कि हरा, पिला, लाल धर्म मणि का नहीं बल्कि वस्त्र या पुष्पादि का है । संयोग सम्बन्ध से मणि में आरोपित होता है । इसी प्रकार अन्तःकरण के कर्तृत्वादि धर्म आत्मा में भासते हैं । जैसे अज्ञानी द्वारा कहने में आता है मैं कर्ता हूँ, मैं ही भोक्ता हूँ, जो मैंने कर्म किया है उसका मैं फल भोग करूँगा । वास्तव में तो आत्मा स्वरूप से

अकर्ता तथा अभोक्ता है । यदि आत्मा के धर्म सुख–दुःख, पाप–पुण्य, मान–अपमान, कर्ता–भोक्ता होता तो सुषुप्ति अवस्था में भी जाग्रत की तरह सबको भासित होते, किन्तु वहाँ कोई भी धर्म का एवं किसी प्रकार के भेद की प्रतीति किसी को नहीं होती है । फिर धर्मी का धर्म नित्य स्वभाव होता है । जैसे अग्नि का उष्ण धर्म नित्य है अर्थात् जब तक अग्नि रहेगी वह उष्ण धर्म युक्त ही रहेगी, कभी शीतल स्वभाव वाली अग्नि नहीं होती है ।

इसी प्रकार यदि आत्मा धर्मी का कर्त्ता–भोक्ता, सुख–दुःख धर्म होता तो अग्नि उष्णतावत् ये सब धर्म सदा अभिन्न रहते । परन्तु सुषुप्ति में तो इन समस्त धर्मों का अभाव सिद्ध होने से यह निश्चय होता है कि वहाँ उनका आश्रय अन्तःकरण नहीं है । चिदाभास युक्त जीव के जाग्रत हो जाने पर उसके धर्म भासमान होने लगते हैं और अज्ञानी व्यक्ति यह सब धर्म आत्मा के न होने पर भी आत्मा में अज्ञानता से भासते हैं । इस प्रकार स्फटिक मणि के द्रष्टान्त से कर्ता–भोक्ता भाव भ्रम की निवृत्ति होती है ।

३. संग भ्रान्ति :

घटाकाश युक्ति : आकाश एक अखण्ड, व्यापक तथा असंग है, किन्तु घट उपाधि के साथ वही आकाश घटाकाश कहा जाता है । भ्रम से आकाश का घट के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है, तब भी घट के धर्म गमनागमन, उत्पत्ति, नाशादि का घटाकाश के साथ किंचित् भी सम्बन्ध नहीं होता है । अतः आकाश घट धर्मों से असंग है । घट के उत्पन्न होने से आकाश का जन्म नहीं होता है तथा घट के नाश होने से भी उसमें स्थित आकाश का नाश नहीं होता है । घट के छोटे–बड़े होने से उसमें स्थित आकाश कभी छोटा–बड़ा आकार धारण नहीं करता है । और घड़े के काले, लाल, पीले, होने से उसमें स्थित आकाश उन रंगों वाला भी नहीं होता है । तथा घड़े में रखे सुगन्ध–दुर्गन्ध युक्त पदार्थ द्वारा घट स्थित आकाश सुगन्ध दुर्गन्ध युक्त नहीं

होता है ।

इसी प्रकार से देहादि संघात रूप आत्मा जीव कहा जाता है तो भी देह उपाधि के धर्म जन्मादि का आत्मा के साथ किंचित् भी सम्बन्ध नहीं होता है; क्योंकि देह संघात दृश्य है आत्मा द्रष्टा है । अतः आत्मा देह संघात से भिन्न एवं असंग है, किन्तु अज्ञानी व्यक्ति देह के जन्म से मैं जन्मा, देह की मृत्यु से मैं मरा, देह के बाल, युवा, वृद्ध अवस्था को देख मैं बालक, मैं युवा, मैं वृद्ध मानकर दुःखी होता है । जब सद्गुरु द्वारा नीर-क्षीर विवेकी बुद्धि प्राप्त होती है तब जड़, अनात्मा, दृश्य देह संघात से पृथक् चैतन्य द्रष्टा, साक्षी, असंग आत्मा रूप पहचानकर सुखी हो जाता है । फिर देह एवं देह कि सम्बन्धियों में मैं मेरा भाव उदय नहीं होने से मोह ममता से छूट जाता है । अतएव प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि देह संघात तथा देह सम्बन्धी स्त्री, पुत्रादि के साथ मुझ आत्मा का अंहता-ममता आदि रूप सम्बन्ध भी नहीं है । फिर भी स्वरूप अज्ञानता के कारण मैं-मेरा रूप भ्रम से भासित होता रहता था, किन्तु घटाकाश द्रष्टान्त से इस देहाध्यास रूप संग भ्रान्ति की निवृत्ति हो जाने से वह फिर अपने को देह मान दुःखी-सुखी नहीं जानता है जैसा कि अज्ञान काल में अपने को शरीर मान दुःखी-सुखी हुआ करता था । दृश्य देह संघात के कोई भी धर्म देही द्रष्टा, साक्षी, असंगात्मा को स्पर्श नहीं कर पाते हैं । किन्तु यह गुढ़ मर्म सद्गुरु बिना अन्य कोई अनुभव नहीं कर सकता है ।

४. विकार भ्रान्ति :

रस्सी सर्प युक्ति : मंद अन्धकार के समय कोई राह चलते व्यक्ति की दृष्टि किसी टेढ़ी-मेढ़ी सी आकृति पर पड़ती है तो अन्तःकरण की वृत्ति ‘‘यह कुछ है’’ इस सामान्य आकार वाली होकर उसके विशेष रूप रस्सी को अन्धकार दोष के कारण ठीक से नहीं पहचान पाती है एवं पूर्व देखे सर्प के संस्कार का स्मरण हो आता है और सहसा उसे सर्पाकार देख ‘‘यह सर्प

है ।'' ऐसी भ्रान्ति बुद्धि में हो जाती है । वह सर्प अविद्या का परिणाम (जैसे दूध का दही) और रज्जु उपहित चेतन का विवर्त होता है (जैसे स्वर्ण के अलंकार) ।

इसी प्रकार हे आत्मन् ! ब्रह्म चैतन्य आश्रित रहने वाली एवं उसी को आवरण करने वाली इस अविद्या, माया को मूलाविद्या कहते हैं एवं भूत भौतिक पदार्थों पर आवरण करने के कारण इसे तूला अविद्या कहते हैं । यह मूला अविद्या भी प्रारब्ध संस्कारादि रूप निमित्तों से जड़-चेतन चिदाभास रूप प्रपंचात्मक विकार को प्राप्त होती है । सो यह दृश्य प्रपंच मूला अविद्या का परिणाम और अधिष्ठान ब्रह्म का विवर्त स्वरूप होता है । इसी प्रकार रज्जु में सर्प भ्रान्ति की तरह आत्मा अधिष्ठान के अज्ञान से जगत् या जीव की प्रतीति होती है, किन्तु वह प्रतीत होने मात्र से जीव नहीं होता है । जैसे रस्सी सर्प रूप प्रतीत होने पर भी रस्सी सर्प त्रिकाल में नहीं होती है । इसी प्रकार अज्ञान दोष से ब्रह्म जीव रूप में प्रतीत होने पर भी वह जीव रूप विकार को प्राप्त नहीं होता है । सद्गुरु के द्वारा इस प्रकार की युक्तियों के बिना अन्य साधन से ब्रह्म के प्रति विकारता की भ्रान्ति दूर नहीं होती है ।

४. ब्रह्म से भिन्न जगत सत्य भ्रान्ति :

कनक कुण्डल युक्ति : जैसे कनक-कुण्डल में कार्य कारण भेद होने से कनक से अलंकार भिन्न एवं सत्य से प्रतीत होते हैं । वह भेद वास्तव में असत्य है, क्योंकि किसी भी कार्य की सत्ता उसके उपादान कारण से भिन्न नहीं होती है । इसलिये कार्य सदैव कारण रूप ही होता है । विवर्त रूप अलंकार अपने विवर्तोपादन स्वर्ण स्वरूप ही है वे दूध दहि की तरह परिणामी नहीं है । इसलिये कार्य रूप अलंकार निर्विकार स्वर्ण स्वरूप ही है ।

इसी प्रकार से जगत् का ब्रह्म के साथ कार्य-कारण भाव से, आधार-आधेय भाव से भेद भासित होता है, परन्तु वह भेद स्वर्ण में भासित् होने वाले

अलंकार की तरह कल्पित है । विचारने पर अस्ति, भाति प्रिय रूप व्यापक ब्रह्म से नाम रूपात्मक जगत् भिन्न सत्य नहीं होता है । जगत् ब्रह्म में मिथ्या कल्पित ही सिद्ध होता है । जो वस्तु जिसमें कल्पित होती है वह उससे भिन्न सिद्ध नहीं होता है । अतः ब्रह्म और जगत् का सत्य भेद नहीं है, अतएव ब्रह्म से जगत् में भिन्नता नहीं है । किसी भी अधिष्ठान वस्तु से अवस्तु अध्यस्त की सत्ता पृथक् नहीं होती है, बल्कि अध्यस्त रूप ही होती है । इसी प्रकार नाम रूप अध्यस्त अवस्तु रूप जगत् अपने अधिष्ठान अस्ति, भाति, प्रिय रूप ही है । संसार के प्रत्येक पदार्थों में पाँच अंश होते हैं जिनमें अस्ति, भाति, प्रिय अंश ब्रह्म अधिष्ठान के हैं एवं शेष नाम, रूप अध्यस्त माया के अंश है ।

उपरोक्त पाँचो युक्तियों से उक्त पाँच प्रकार के भ्रम रूप संसार की निवृत्ति हो एक अद्वितीय ब्रह्म सत्ता का सोऽहम् रूप में बोध सद्गुरु की कृपा से हो जाता है । तभी यह जीव कृत्य कृत्य होता है । सद्गुरु बिना संशय रहित आत्मसाक्षात्कार अन्य किसी साधन से नहीं हो पाता है ।

◆◆◆

विवर्त्तवाद

"एकोऽहं बहुस्याम् ।"

एक ब्रह्म के ही अनेक रूप में यह सृष्टि विद्यमान है । सृष्टि से पूर्व एक ही ब्रह्म था । उसने पूर्व सृष्टि के जीवों के संचित कर्मों को परिपक्व अवस्था में देख विचार किया कि अब मैं अपने में से अनेक जीवों की सृष्टि करूँ ताकि वे अपने प्रारब्ध कर्म-फल भोग कर सके । इस प्रकार इक्षण सृष्टि के आदि में जो एक सत् ब्रह्म था वह सर्व प्रथम तेज ब्रह्म हो गया एवं तेज ब्रह्म से फिर

अनेक हो जल तथा पृथ्वी रूप में परिणत हो गया । अस्तु उस पूर्ण ब्रह्म से यह जो कुछ जीव जगत् रूप में सृष्टि प्रकट हुई है यह भी वह पूर्ण ब्रह्म ही है ।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण मेवावशिष्यते ।।

– ईशोप.

जैसे स्वर्ण के कार्य रूप अलंकार चाहे जिस रूप में रहे किन्तु वह पूर्ण स्वर्ण ही है । उसी प्रकार ''अमृतस्य पुत्रा'' अमृत की संतान जीव अमृत ही होती है । संत तुलसीदासजी कहते हैं

ईश्वर अंश जीव अविनाशी ।
चेतन अमल सहज सुखराशी ।। – रामायण

सबै खिलौना खांड के खांड खिलोना माहि ।
तैसे सब जग ब्रह्म में ब्रह्म जगत के माहि ।।

– संत कबीर

''राम सच्चिदानन्द दिनेशा'' ईश्वर का अंश यह जीव भी अपने अंशी रूप सच्चिदानन्द ही है । स्वर्ण से अलंकार की तरह ब्रह्म का जीव विवर्त रूप है ।

वेदान्त का विवर्तवाद (अजातवाद), सांख्य का परिणामवाद तथा नैयायिकों का आरम्भवाद है किन्तु विवर्त्त वाद ही वेदानुसारी है ।

विवर्तवाद : स्व सत्ता शुन्य जो मिथ्या कार्य अपने सत्य उपादान में विकार लाये बिना ही प्रतीत होता है उसे विवर्तवाद कहते हैं । जैसे स्वर्ण से अलंकार, मिट्टी से घड़ा, ब्रह्म से जीव जगत्, स्वप्न साक्षी से स्वप्न इत्यादि यह सब विवर्त रूप वेदान्त मत से हैं ।

परिणाम वाद : जो मिथ्या कार्य अपने मूल उपादान के स्वरूप को विकारी करके स्थित रहता है, उस कार्य को परिणाम कहते हैं । जैसे दूध से दही, घी, लकड़ी से कोयला, अन्न से रस, रक्त, रजवीर्य । यह सांख्य शास्त्र के मानने वालों का मत है ।

आरम्भवाद : अन्य वस्तु से अन्य वस्तु की उत्पत्ति का नाम आरम्भवाद है । जैसे अन्य तन्तुओं से अन्य पट की उत्पत्ति होती है । वैसे अन्य परमाणुणों से अन्य रूप जगत् की उत्पत्ति होती है । इस मत के मानने वाले नैयायिक हैं ।

वेदान्त का तो विवर्त वाद है । सांख्य मत तथा नैयायिक के मत में अनेक दोष पाये जाते हैं । एक तो वेद में परिणामवाद और आरम्भवाद कहीं भी नहीं लिखा है । अतएव उनका मत वेद–विरुद्ध होने से अविचारणीय है । दूसरे युक्तियों से भी परिणामवाद और आरम्भवाद सिद्ध नहीं होते हैं । क्योंकि मृत्तिका का घट परिणाम नहीं है और न स्वर्ण का परिणाम कुण्डल है । उत्पत्ति, स्थिति तथा घट, कुण्डल के नाश काल में भी एक मिट्टी तथा अलंकार के टूटने पर भी एक स्वर्ण ही है । घट तथा कुण्डल यह दो नाम तो वाणी का विकार मात्र है । यदि घट तथा कुण्डल से मिट्टी तथा स्वर्ण मूल उपादान को निकाल लिया जावे तो घड़े तथा कुण्डल का कहीं आभास भी नहीं रहेगा । घट और कुण्डल इस प्रकार मिट्टी तथा स्वर्ण के ही विवर्त रूप है । मृत्तिका और स्वर्ण ही अन्य रूप से घट और कुण्डल के रूप में प्रतीत हो रहे हैं ।

इसी प्रकार यह सारा जगत् मुझ चैतन्यात्मा से ही उत्पन्न होकर मुझसे ही स्थित रहकर पुनः मुझ में ही लय को प्राप्त हो जाता है । जैसे स्वर्ण से अलंकार उत्पन्न होकर पुनः स्वर्ण में ही लय हो जाते हैं । उपनिषद कहते हैं –

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति ।
यत्प्रय्नत्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति ।।

– तैतिरीय उपनिषद : ३/१

अर्थात् ये प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले प्राणी जिनसे उत्पन्न होकर, जिनके सहयोग शक्ति पाकर जीवित रहते हैं एवं प्रारब्ध भोग पूर्ण होने पर पुनः जिसमें एकता को प्राप्त हो जाते हैं वह ब्रह्म है उसे ही पाने की इच्छा करो ।

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।।

– तैतिरीय उपनिषद : ३/६

अर्थात् आनन्द ही ब्रह्म है । ये आनन्दमय परमात्मा ही अन्न, प्राण, मन तथा बुद्धि आदि सभी कोशों के अन्तरात्मा हैं । क्योंकि ये समस्त प्राणी उन आनन्द स्वरूप परब्रह्म से ही सृष्टि के आदि में उत्पन्न होते हैं । उत्पन्न होकर आनन्द से ही जीते हैं तथा इस लोक से प्रारब्ध भोग पूरा हो जाने पर देह प्रयाण कर आनन्द में ही प्रविष्ट हो जाते हैं ।

उपरोक्त कथन से विवर्तवाद ही सिद्ध होता है परिणामवाद या आरम्भवाद नहीं । यदि विवर्तवाद न होता तो ज्ञान द्वारा मुक्ति नहीं कही जाती, किन्तु वेद, उपनिषद, पुराण, इतिहास, स्मृति में –

''ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'' ''ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः''

अर्थात् बिना ज्ञान के मुक्ति अन्य साधन से नहीं हो सकती है । इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि यह जीव, जगत् ब्रह्म का विवर्त है । अन्यथा ज्ञान मात्र से यह जीव ब्रह्मरूपता को कैसे प्राप्त हो सकता था ?

यदि जीव ब्रह्म का परिणाम होता तब तो ब्रह्म में दोष आ जाता । फिर यह जीव किसी भी साधन से अपने मूल ब्रह्म रूपता को प्राप्त नहीं हो पाता । जैसे दही परिणामी वस्तु अपने मूल उपादान दूध के स्वरूप को किसी भी उपाय द्वारा प्राप्त नहीं हो पाता है और सभी वेद शास्त्र व्यर्थ हो जाते, उनका कोई उपयोग ही नहीं रहता; क्योंकि सभी धर्म शास्त्र जीव के मोक्ष पाने की ही

विधि बताने हैं । यदि चेतन ब्रह्म का जगत परिणाम माने तो चेतन से जड़ उत्पन्न होकर पुनः चेतन में लय कैसे होगा ? अतः यह परिणाम मानना असंगत है । क्योंकि रज्जु के अज्ञान से रज्जु सर्प रूप प्रतीत होती है और रज्जु के ज्ञान करके उस सर्प भ्रम की निवृत्ति हो जाती है । वैसे ही ब्रह्म आत्मा के स्वरूप के अज्ञान से जीव जगत् की प्रतीति होती है तथा ज्ञान करके जगत् की निवृत्ति हो जाती है ।

ब्रह्म जगत् का परिणामी उपादान कारण नहीं है बल्कि विवर्तोपादान कारण मानते हैं । इसलिये ब्रह्म विकारी नहीं होता है और न नाशवान ही होता है । ब्रह्म यदि जगत् का परिणामी उपादान दूध की तरह मानते तब तो दही रूप जीव में नाशपना माना जाता, किन्तु सिद्धान्त में तो स्वर्ण अलंकारवत् ब्रह्म का विवर्त जीव को मानते हैं । इसलिये ब्रह्म विकारी तथा नाशवान कभी नहीं हो सकता है ।

ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता है और जगत् की प्रातिभासिक सत्ता है । ब्रह्म तीनों कालों में नित्य है और जगत् तीनों कालों में अनित्य है । किन्तु केवल प्रतीति मात्र ही है, इस वास्ते जगत् ब्रह्म का विवर्त है । जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय ब्रह्म रूप ही होने से वह रस्सी में प्रतीत होने वाले सर्पवत् जगत् असत् है । अधिष्ठान ब्रह्म में अध्यस्त जगत् कुछ भी विकार नहीं डाल सकता । अलंकार रूप ब्रह्म से लेकर चीटी पर्यन्त जगत् के नाश होने पर भी स्वर्ण रूप ब्रह्म ज्यों का त्यों एकरस ही रहता है । यही वेदान्त का विवर्तवाद है ।

जब यह निश्चय हो गया कि अलंकार जगत् समस्त एकमात्र स्वर्ण के अलावा किंचित् भी अन्य नहीं है । नाम, रूप तो वाणी का विकार है । तब भला स्वर्ण के इच्छुक व्यक्ति को अलंकारें को स्वर्ण रूप करने के लिये क्या साधन अपेक्षित् है ? अर्थात् कुछ भी नहीं, क्योंकि अलंकार सर्वदा स्वर्ण ही है । इसी प्रकार जिसने सद्गुरु उपदेश से ब्रह्म का विवर्त जीव जान लीया,

भला उस संशय रहित आत्मनिष्ठ ज्ञानी को अपने ब्रह्म रूप विवर्तोपादान कारण को प्राप्त करने हेतु क्या साधन करना होगा ? अर्थात् कुछ भी नहीं; क्योंकि जीव ब्रह्म का विवर्त होने से बिना साधन के ब्रह्म ही है । इसलिये आत्मनिष्ठावान् ज्ञानियों के लिये शास्त्र कर्तव्य का निषेध करते हैं । ''तस्य कार्यं न विद्यते'' ''नैवास्ति किंचित् कर्तव्यमस्ति'' । जिसने अपने को ब्रह्म का विवर्त रूप आत्मा जान लिया है, उसके लिये किंचित् भी साधन कर्तव्य नहीं है ।

यदि किसी ने सांख्य मत को स्वीकार कर अपने को ब्रह्म का परिणाम दूध से दही की तरह भिन्न सत्तावाला मान लिया तो फिर वह जिज्ञासु करोड़ों जन्म साधन का कष्ट उठाता रहे । यह दही रूप परिणामी जीव को मानने वाला अज्ञानी कभी अपने परिणामी उपादान दूध स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकेगा एवं जीव को विवर्त मानने वाला तो ब्रह्म रूप ही होता है ।

इस प्रकार विवर्तवाद मानने वाले हो या परिणामवाद मानने वाले जो भी हो दोनों के लिये अपने उपादान रूप की प्राप्ति हेतु आत्म विचार को छोड़ अन्य किसी भी प्रकार के साधन का उपयोग नहीं है ।

''जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नद्रियेत् कर्म चोदनाम् ।''

– भागवत् : ११/१०/४

आत्मज्ञान की इच्छा जाग्रत हो जाने पर अर्थात् मैं कौन हूँ ? यह जगत क्या है ? ब्रह्म क्या है ? मुक्ति की प्राप्ति कैसे होगी ? अथवा जन्म-मरण चक्र से कैसे छूट सकुँगा ? इस प्रकार के प्रश्न उठने पर समस्त बाह्य कर्म काण्ड का त्याग कर किसी तत्त्वज्ञ महापुरुष के पास पहुँच साष्टांग प्रणाम करे । फिर उनकी निष्कपट भाव से सेवा करे । एवं सद्गुरु से अनुमति लेकर अपनी जिज्ञासा को प्रकट करे । जब वे सद्गुरु उत्तर दे उसे श्रद्धा एवं विचार पूर्वक

धारण करे ।

◆◆◆

इन्द्र-विरोचन

- छान्दोग्य. उप. ८/७

एक बार प्रजापति ने जीवों के कल्याण हेतु घोषणा की कि जो आत्मा पाप शून्य, जरा रहित, मृत्यु रहित, शोक रहित, क्षुधा-पिपासा रहित, सत्य काम, सत्य संकल्प और सच्चिदानन्द स्वरूप है उसे खोजना चाहिये और उसको जानने की विशेष रूप से प्रबल इच्छा करनी चाहिये । जो उस आत्मा को शास्त्र और गुरु के उपदेश अनुसार आत्मा रूप से जान लेता है वह सम्पूर्ण लोक और समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है ।

उपरोक्त घोषणा को देवों के राजा इन्द्र तथा असुरों के राजा विरोचन ने इस आत्मा को जानने की इच्छा से प्रजापति के आश्रम की और चल पड़े । इन्द्र ने सोचा गुरु के निकट हमें अपना द्वेषभाव छोड़कर जाना चाहिये ताकि वे अधिकारी जान हमें गूढ़ आत्म तत्त्व समझा देंगे । इस इच्छा से वे दोनों विनम्र बन हाथ में समिधा ले प्रजापति के निकट पहुँचे । एवं आज्ञा पाकर वहाँ दोनों ने ३२ वर्ष ब्रह्मचर्य वास किया । तब उनसे प्रजापति ने कहा तुम यहाँ किस इच्छा से रहे हो ? उन्होंने कहा जो आत्मा पाप रहित, जरा रहित, क्षुधा-पिपासा रहित, मृत्यु रहित, सत्यकाम, सत्य संकल्प, सच्चिदानन्द रूप है उसका अन्वेषण करना चाहिये और उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा मनुष्यों को करनी चाहिये । जिसके जान लेने से वह सम्पूर्ण लोक और समस्त भोगों को प्राप्त कर लेता है । इस प्रकार आपकी घोषणा को हम सुन आपके शरण में आये हैं । हे गुरुवर ! आप यदि हमें अधिकारी जानते हैं तो दया करके आत्मा का उपदेश करने

की कृपा करें ।

यह सुन ३२ वर्ष बाद प्रजापति ने दोनों को पास बुलाया और कहा – ''यह जो पुरुष नेत्रों के पीछे बैठ सब देख रहा है यह आत्मा है, यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है ।'' इतना सुन दोनों अपने जाने विषय को प्रजापति के मुख से निर्णय लेना चाहते थे । इसलिये पूछा भगवन् ! यह जो जल में सब और प्रतीत होता है और जो दर्पण में दिखाई देता है, उनमें आत्मा कौनसा है ? इस पर प्रजापति ने कहा – मैंने जिस नेत्रान्तर्गत पुरुष का वर्णन किया है वही इन सब दृश्यों का प्रकाशक है, यह प्रतीत होता है ।

(**अष्टमाध्याय अष्टम खण्ड**)

इन्द्र को मनन करने का महान लाभ तथा विरोचन को उसके अविवेक के कारण हानि । प्रजापति ने इन्द्र तथा विरोचन से कहा कि जल पूर्ण सकोरे में अपने आत्मा को देखकर तुम आत्मा के विषय में बताओ वह क्या है ? और जो न जान सको तो मुझे बतलाओ । दोनों ने जल से भरे मिट्टी के सकोरे में अपने को देखा । प्रजापति ने उन दोनों से पूछा–तुम क्या देखते हो ? उन्होंने कहा भगवन् ! हम दोनों अपने नख से शिख तक इस समस्त शरीर के प्रतिविम्ब रूप आत्मा को ज्यों का त्यों देखते हैं । उन दोनों से प्रजापति ने कहा –''तुम दोनों अच्छे तरह अलंकृत होकर, सुन्दर वस्त्र पहनकर और परिष्कृत होकर जल से भरे हुए बर्तन में देखो ।'' तब उन दोनों ने ऐसा ही किया और परिष्कृत हो जल के सकोरे में देखा । उनसे प्रजापति ने फिर पूछा – ''तुम दोनों क्या देखते हो ?'' उन दोनों ने कहा – ''भगवन् ! जिस प्रकार हम दोनों उत्तम प्रकार से अलंकृत, सुन्दर वस्त्र धारण किये परिष्कृत, सुन्दर वस्त्रधारी एवं अलंकृत हैं उसी प्रकार हे भगवन् ! ये हम दोनों का छाया आत्मा भी उत्तम प्रकार से परिष्कृत, सुन्दर

वस्त्रधारी एवं अलंकृत है । तब प्रजापति ने कहा – ''यह आत्मा है, यह अमृत और अभय है और यही ब्रह्म है ।'' तब इन्द्र तथा विरोचन ३२ वर्ष बाद यह जाग्रत अवस्था वाले जीव को ही ब्रह्म जान शान्त चित्त से दोनों गुरु को प्रणाम कर अपने-अपने लोक की ओर चल पड़े ।

प्रजापति ने उन्हें दूर जाते देखकर कहा ये दोनों मूर्ख आत्मा को बिना जाने ही यहाँ से जा रहे हैं एवं इनकी बात को अर्थात् (देह ही आत्मा है) इसको देवता या असुर जो भी जानेंगे उसी का पतन होगा । विरोचन तो श्रवण किये तत्त्व को बिना मनन किये शांत ह्दय होता हुआ शीघ्र असुर नगरी में पहुँच वहाँ लोगों से इस प्रकार कहने लगा कि इस संसार में शरीर ही आत्मा है, यही पूजने योग्य है और शरीर ही सेवनीय है । और जो पुरुष शरीर को आत्मा रूप से जान पूजा परिचर्या करने वाला है, वह इस लोक और परलोक दोनों लोकों को प्राप्त कर लेता है ।

इसी कारण से यहाँ जो यज्ञ, दान, श्रद्धा, यजनादि सत्कर्म में विश्वास नहीं करता है एवं देह को ही मैं आत्मा जानता है । तब ऐसे व्यक्ति को देख दुःखी हो शिष्टजन अरे ! यह तो आसुरी स्वभाव वाला ही है ऐसा कहते हैं । क्योंकि लोक धर्म विरूद्ध ज्ञान असुरों का होता है ये मूर्ख लोग जो असुर मत को मानने वाले हैं आज भी वे मृतक् पुरुष के शरीर को गंध माल्यादि से, आभूषणों से अलंकृत, परिष्कृत, सुन्दर वस्त्र धारण कराकर, सजाकर गाते-बजाते चिल्लाते हुए अन्तिम संस्कार करने ले जाते हैं । उनकी मान्यता है इस प्रकार मृतक् आत्मा की सेवा पूजा उत्सव मनाने से वे सुख पूर्वक परलोक प्राप्त करेंगे ।

(अष्टम अध्याय नवम खण्ड)

इन्द्र का प्रजापति के पास पुनः आगमन और आत्मा के यथार्थ स्वरूप की जिज्ञासा :

सात्विक आहारी मननशील इन्द्र अपने देवलोक पहुँचने के पूर्व ही राह में प्रजापति से जाने हुए आत्मा के बारे में विचारने लगा कि जिस प्रकार इस शरीर को अच्छी प्रकार अलंकृत होने पर यह छायात्मा भी अच्छी तरह अलंकृत होता दिखाई देता है, सुन्दर वस्त्रधारी होने पर सुन्दर वस्त्रधारी होता और परिष्कृत होने पर परिष्कृत होता है । उसी प्रकार इस शरीर के अन्धे होने पर वह अन्धा हो जाता है, खण्डित होने पर वह भी खण्डित हो जाता है तथा इस शरीर का नाश होने पर छायात्मा भी नष्ट हो जाता है । जबकि मैंने तो श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा जाना था कि वह अभय है, अमृत है, निरवयव है, अखण्ड, निर्विकार है, जरा-मरण रहित है, शोक-मोह रहित है, क्षुधा-पिपासा रहित है, सत्य काम और सत्य संकल्प है जब कि मैं इस छायात्मा दर्शन में ऐसी कोई योग्यता नहीं देखता हूँ । इससे भिन्न आत्मा तो कोई और ही वस्तु होनी चाहिये । ऐसा सोच इन्द्र रास्ते ही से पुनः लौट प्रजापति के पास आया । उससे प्रजापति ने कहा -''इन्द्र तुम तो विरोचन के साथ शांत चित्त होकर गये थे, अब किस इच्छा से पुनः आये हो ?'' तब इन्द्र ने कहा भगवन् ! जिस प्रकार की मैंने आत्मा के लिये महिमा सुनी है वैसा तो इस छायात्मा दर्शन में कोई योग्यता नहीं देखता हूँ । यह तो मेरे शरीर के अनुरूप सुन्दर वस्त्रधारी, परिष्कृत, अलंकृत, अंध, काना, खण्डित एवं इस शरीर के नष्ट हो जाने से तो इसका भी नाश हो जावेगा । मुझे इस प्रकार के दर्शन में कोई एक भी लक्षण आत्मा का दिखाई नहीं देता जैसा कि आपके द्वारा आत्मा की महिमा हमारे पूर्वजों को बताई गई है । और आपने हमें भी कहा कि इसे जान सब लोक एवं भोग को प्राप्त हो जाता है ।

''हे इन्द्र ! यह बात ऐसी ही है अर्थात् तू ठीक कहता है । यह छायात्मा दर्शन में कोई श्रेष्ठता नहीं है ।'' ऐसा प्रजापति ने कहा । मैं तुम्हारे प्रति पुनः इसकी व्याख्या करूँगा । परन्तु अब तुम ३२ वर्ष यहाँ और रहो । तब इन्द्र ने

वहाँ पुनः श्रद्धापूर्वक बत्तीस वर्ष सेवा एवं त्यागपूर्ण जीवन व्यतीत किया तब प्रजापति ने उसे पुनः ६४ वर्ष बाद उस गुढ़ आत्म तत्त्व का उपदेश किया ।

(अष्टम् अध्याय दशम खण्ड)

६४ वर्ष बाद स्वप्न के द्रष्टान्त से आत्मा के स्वरूप का कथन :

''जो यह स्वप्न में स्त्री, पुत्र, मित्र द्वारा पूजित होता हुआ विचरता है यह आत्मा है'' जिसको तू जानने की इच्छा से मेरे पास ६४ वर्ष से है, ऐसा प्रजापति ने कहा । यह अमृत है, यह अभय है और यह ब्रह्म है । ऐसा सुनकर प्रणाम कर इन्द्र शान्त हृदय से अपने देवनगरी के ओर चले गये, किन्तु देवताओं के पास बिना पहुँचे ही राह में विचारने लगा कि यद्यपि यह जाग्रत वाला शरीर अंधा होता है तथापि वह स्वप्न शरीर चक्षुवान् होता है और यदि यह काना होता है तो भी वह स्वप्नात्मा काना नहीं होता है । इस प्रकार यह स्वप्नात्मा जाग्रत के दोषों से दूषित नहीं होता । यह स्वप्नात्मा जाग्रत देह के घायल होने से घायल भी नहीं होता है और न इसकी रूग्णता से रूग्ण होता है, किन्तु इसे मानो कोई मारता हो, कोई डराता हो, काटता हो, ताडित करता हो, यह मानो अप्रिय का अनुभव करता हो, यह मानो रो रहा हो ऐसा हो जाता है । अतः इस प्रकार के आत्मदर्शन में मैं कोई फल नहीं देखता हूँ ।

इन्द्र रास्ते से ही इन बातों का मनन करते हुए प्रजापति के आश्रम में लौट आये । प्रजापति ने इन्द्र को आते देख कहा तुम तो शान्त चित्त होकर गये थे, अब किस इच्छा से पुनः इधर आये हो ? इन्द्र ने कहा भगवन् ! यद्यपि यह शरीर अंधा होता है तथापि वह स्वप्न शरीर तो अंध नहीं रहता और यह जाग्रत वाला शरीर रूग्ण होता है तो भी वह स्वप्न

वाला निरोग ही रहता है । इस प्रकार वह स्वप्नात्मा इस जाग्रत शरीर के दोषों से दूषित नहीं होता है, न इसके वध से उसका वध होता है किन्तु उसे मानो कोई मारते हों, कोई ताड़ित करते हों और उसके कारण मानो यह अप्रियता का अनुभव करता हो और रूदन करता हो । हे भगवन् ! मुझे ऐसा अनुभव होने के कारण आत्म सम्बन्धी आपके बतलाये अनुसार कोई भी योग्यता रूप फल इसमें दिखाई नहीं देता है । तब प्रजापति ने कहा तुम ठीक कहते हो, यह ऐसा ही है । मैं तुम्हारे लिये इस आत्म तत्त्व की पुनः व्याख्या करूँगा । तुम बत्तीस वर्ष और ब्रह्मचर्य पूर्वक तपोमय, त्यागमय जीवन व्यतीत करो । इन्द्र ने तीसरी बार बत्तीस वर्ष वैसा ही किया और तब प्रजापति ने इन्द्र से कहा –

(**अष्टम अध्याय एकादश खण्ड**)

९६ वर्ष के बाद सुषुप्ति के द्रष्टान्त से आत्मा के स्वरूप का वर्णन :

''जब सुषुप्ति अवस्था में यह शरीर सोया हुआ दर्शन वृत्ति से रहित और सम्यक् रूप से आनन्दित हो स्वप्न का अनुभव नहीं करता वह पाप रहित आत्मा है'' यही अमर है, यही अभय है, यही ब्रह्म है ऐसा प्रजापति ने इन्द्र के प्रति उपदेश किया । यह सुनकर इन्द्र शान्त चित्त अपने लोक की ओर प्रणाम कर चल दिये । किन्तु इन्द्र को रास्ते में मनन करने से इस अवस्था वाले आत्म दर्शन में भी भय दिखाई दिया कि ''उस अवस्था में तो मुझे निश्चय ही यह भी ज्ञान नहीं होता कि यह मैं हूँ और न यह इन अन्य भूतों को ही वहाँ मैं जानता हूँ । उस समय तो यह आत्मा मानो विनाश को प्राप्त हो जाता है । इसमें मुझे इष्ट फल दिखाई नहीं देता ।'' और यह सोच इन्द्र समित्पाणि होकर पुनः प्रजापति के पास आये । उनसे प्रजापति ने कहा – ''इन्द्र ! तुम तो शान्त चित्त हो चले गये थे, अब किस इच्छा से यहाँ पुनः आगमन हुआ ?'' इन्द्र ने कहा : भगवन् ! इस अवस्था में तो निश्चय ही इसे यह भी भान नहीं होता है कि ''यह मैं हूँ'' और न

यह अन्य भूतों को ही जानता है । यह मानो विनाश को प्राप्त हो गया हो । इसमें मुझे इष्ट फल दिखाई नहीं देता है जैसा कि आपने इसके दर्शन की महिमा फैलायी है । हे इनद्र ! यह जो तू कह रहा है बिलकुल सत्य है । वास्तव में यह आत्मा नहीं है । मैं तुम्हारे प्रति इसकी पुनः व्याख्या करूँगा । ऐसा प्रजापति ने कहा । अरे ! सुन इस सुषुप्ति अवस्था में आनन्द व अज्ञान का अनुभव करने वाले से भिन्न कोई दूसरा आत्मा नहीं है । जैसा कि मैंने तुझे बतलाया था आत्मा तो यही है, परन्तु अभी पाँच वर्ष और ब्रह्मचर्य वास करो । इन्द्र ने पाँच वर्ष और तप किया । ये सब मिलाकर एक सौ एक वर्ष हो गये । तब उनसे प्रजापति ने कहा -

(**अष्टम अध्याय द्वादश खण्ड**)

१०१ वर्ष के बाद इन्द्र के प्रति आत्म कथन :

इन्द्र ! यह शरीर मरणशील ही है, यह मृत्यु से ग्रस्त है । यह इस अमृत अशरीरी आत्मा का अधिष्ठान है । शरीर रहते आत्मा निश्चय ही प्रिय-अप्रियता से ग्रस्त है । यह शरीर रहते इसके धर्म का त्याग नहीं कर सकता । शरीर के नष्ट हो जाने के पश्चात् इसे प्रिय-अप्रियता स्पर्श नहीं कर सकती है । जो पुरुष सद्गुरुओं से इस अभय, अमृत आत्मा को मैं रूप से पहचान लेता है वह उत्तम पुरुष है । उस अवस्था में वह हँसता, क्रीड़ा करता और स्त्री अथवा जाति वालों के साथ रमण करता है । और अपने साथ उत्पन्न हुए इस शरीर को मैं हूँ या मेरा है इस प्रकार स्मरण न करता हुआ सब ओर विचरता है । जिस प्रकार घोड़ा या बैल गाड़ी में जुता रहता है उसी प्रकार यह प्राण इस शरीर में जुता रहता है ।

जिससे यह चक्षु द्वारा उपलक्षित आकाश अनुगत है वह चाक्षुष पुरुष है, उसके रूप देखने के लिये नेत्रेन्द्रिय है । जो ऐसा अनुभव करता है कि मैं इसे सूघूँ वह आत्मा है । उसके गन्ध ग्रहण के लिये नासिका है । जो ऐसा समझता

है कि मैं यह शब्द बोलूँ वही आत्मा है । उसके शब्दोचार के लिये वागेन्द्रिय है । जो ऐसा जानता है कि मैं यह श्रवण करूँ वह आत्मा है । उसके श्रवण करने के लिये श्रोत्रेन्द्रिय है और जो यह जानता है कि मैं मनन करूँ वह आत्मा है । मन उसका दिव्य ज्ञान नेत्र है । यह आत्मा इस दिव्य चक्षु द्वारा भोगों को देखता हुआ रमण करता है ।

जो ये भोग इस ब्रह्म लोक में हैं उन्हें यह देखता हुआ रमण करता है इस आत्मा की देवगण उपासना करते हैं इसी से उन्हें सम्पूर्ण लोक और भोग प्राप्त हैं । जो इस आत्मा को आज भी आचार्य के उपदेश द्वारा सोऽहम् रूप जानकर साक्षात् मैं रूप से अनुभव करता है वह सम्पूर्ण लोक और भोगों की प्राप्ति कर लेता है । उसके पराभव करने में कोई देव या भूतादि समर्थ भी नहीं होते हैं; क्योंकि वह इन सबकी आत्मा ही हो जाता है । फिर कोई भी अपनी ही आत्मा को कैसे कष्ट दे सकता है ? किन्तु इस ज्ञान को सुनने में देवता भी बाधा पहुँचाते हैं । क्योंकि इस आत्मज्ञानोदय के बाद देवताओं के प्रति होम, यज्ञ आदि करने की श्रद्धा नहीं होती है ।

◆◆◆

प्रज्ञानं ब्रह्म

यह ज्ञान सर्वोत्तम ब्रह्म ही है, जो देश, काल तथा वस्तु परिच्छेद रहित परिपूर्ण है । ज्ञान स्वतः प्रमाण है; परतः प्रमाण नहीं है । किसी पदार्थ का यथार्थ निर्णय करने में ज्ञान ही अन्तिम प्रमाण होता है । सम्पूर्ण व्यवहारों का आधार एकमात्र ज्ञान ही है । अभाव-भाव (होने न होने) का निर्णय ज्ञान द्वारा ही होता है । विषय की सत्ता इन्द्रियों द्वारा, इन्द्रियों की सत्ता मन द्वारा, मन की सत्ता बुद्धि द्वारा और बुद्धि की ज्ञान स्वरूप आत्मा से निश्चित होती है । अज्ञान का अनुभव भी ज्ञान ही है कि ''मैं अज्ञ हूँ'' यह भाव भी एक प्रकार का ज्ञान ही है । अज्ञान ज्ञान का बोध नहीं

कर सकता । ज्ञान के बोध करने की कल्पना भी बिना ज्ञान के सम्भव नहीं हो सकती । ज्ञान का बोध यदि किसी के द्वारा कर दिया गया तो वह जानकारी में होगा या अज्ञान में होगा ? यह ज्ञान का बोध कहना भी बिना ज्ञान के सम्भव नहीं होगा । ज्ञान का स्वरूप सत् एबं अखण्ड ही सिद्ध होता है ।

प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेय प्रमीतिस्तथा ।
यस्य प्रसादात् सिद्ध्यन्ति तत्सिद्धौ किमपेक्षते ।।

प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय की त्रिपुटी ज्ञान के द्वारा ही जानी जाती है । इसलिये ज्ञान की सिद्धि के लिये त्रिपुटी की आवश्यकता नहीं है बल्कि त्रिपुटी के भाव तथा अभाव का प्रकाशक भी ज्ञान ही है । वे रहे तब भी ज्ञान है एवं न रहे तब भी ज्ञान है । ज्ञान के बिना त्रिपुटी के भाव-अभाव का अनुभव कौन करेगा ? त्रिपुटी में ज्ञान का अन्वय है और ज्ञान से त्रिपुटी व्यतिरिक्त है इसलिये ज्ञान अखंड है । किसी भी प्रमाण द्वारा ज्ञान की सिद्धि नहीं होती है । ज्ञान से ही समस्त प्रमाणों एवं व्यवहारों की सिद्धि होती है ।

''ज्ञान अखण्ड एक सीतावर''

''ज्ञान मान जहँ एकउ नाही''

हे आत्मन् ! ज्ञान स्वयं प्रकाश है । वह कर्ता, क्रिया, कर्म तथा उसके फल के आधीन नहीं है । मान्यता, विचार भिन्न हो सकते हैं किन्तु समस्त प्राणियों में ज्ञान एक ही होता है । जैसे बिजली के यन्त्र भिन्न-भिन्न होने पर भी उन सबको संचालित करने वाली विद्युत्-शक्ति एक ही होती है । इसी प्रकार ज्ञान समस्त प्राणियों में अभिन्न है । वही आत्मा, ब्रह्म, परमात्मा, मैं आदि नामों से भी कहा जाता है । तत्त्व एक है, नाम अनेक हैं । पुरुष एवं विषय भेद से ज्ञान में भेद नहीं आ सकता, ज्ञान ज्ञान ही है । वह किसी पुरुष, भगवान की भावना, अनुभूति, स्मृति अथवा कल्पना नहीं है । ज्ञान स्वयं प्रकाश है,

सर्वानुभव स्वरूप है । सृष्टि–प्रलय, समाधि–विक्षेप आदि समस्त प्रतीयमान व्यवहारों का प्रकाशक स्वतः प्रमाण है ।

अभिप्राय यह है कि देश, काल, वस्तु परिच्छेद रहित स्वरूप अपना आत्मा ही वह परब्रह्म है । जब देश एवं काल कल्पित् है तब उनके आश्रित विषय भी अवश्य कल्पित होंगे । ज्ञेय के बिना ज्ञातृत्व के व्यवहारों की सिद्धि नहीं हो सकती है । ज्ञेय और ज्ञाता दोनों ही एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं । किन्तु ज्ञान किसी की अपेक्षा न रखते हुए स्वतः सिद्ध है । यहाँ तक कि ईश्वर भी ज्ञान का कर्ता नहीं है । वह तो स्वयं ज्ञान स्वरूप है । यदि ईश्वर को ज्ञान का कर्ता मानें तो ईश्वर में प्रथम अज्ञान स्वीकार करना होगा । फिर दूसरी आपत्ति यह खड़ी होगी कि बिना ज्ञान के अज्ञानी ईश्वर ज्ञान की उत्पत्ति कैसे कर सकेगा । यदि ईश्वर में ज्ञान का अभाव स्वीकार करलीया तो यह स्वीकार करना भी ज्ञान का होना सिद्ध करता है । अस्तु ज्ञान का अभाव किसी भी प्रमाण द्वारा अथवा अनुभव से सिद्ध नहीं होता, फिर वह प्रमाण अथवा अनुभव भी तो ज्ञान स्वरूप ही होगा । अस्तु ज्ञान साधन सिद्ध नहीं किन्तु स्वतः सिद्ध है ।

ज्ञान काल परिच्छेद भी नहीं है । काल परिच्छेद कहना भी ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है । वह क्षण ही क्या जिसकी पृथकता का आरोप ज्ञान पर किया जा सके । अस्तु कोई क्षण ज्ञान से अलग नहीं है । काल के समान देश भी उसका अभाव नहीं है । इसी प्रकार अणु–अणु में व्याप्त होने से वस्तु परिच्छेद भी नहीं है । इसके बिना देश,काल तथा वस्तु की सिद्धि भी नहीं हो सकती । ज्ञान नित्य है, उसका जन्म एवं नाश नहीं होता है । अन्तःकरण की शुद्धि एवं निर्विषय शान्त अवस्था भी ज्ञान जन्य है । अन्तःकरण की जागृति विचारों की जननी है ज्ञान की नहीं । सुषुप्ति में अन्तःकरण के अज्ञान में लय हो जाने से विचारों की स्फूरण बन्द हो जाता है, किन्तु उनके अभाव के बोध रूप में ज्ञान तो विद्यमान ही रहता है ।

ज्ञान के अभाव में व्यक्ति मृत्युरूप हो जावेगा । ज्ञान के बिना किसी भी प्रकार का दुःख-सुख, भूख-प्यास, रोग-निरोग, ग्रहण-त्याग, हानि-लाभ, बचपन, युवा, वृद्ध, अच्छे-बुरे, अपना-पराया, पुण्य-पाप, कर्तव्य-अकर्तव्य, बन्ध-मोक्ष, प्रवृत्ति-निवृत्ति, माँ, पत्नी, बेटी का अन्तर, रोटी-टट्टी का अन्तर भी नहीं जान सकेगा ।

स्वप्न के दृश्य झूठे हैं किन्तु स्वप्न का द्रष्टा झूठ नहीं है । विषय की असत्ता या मिथ्यात्व ज्ञान की असत्ता नहीं कही जावेगी । अतः ज्ञान सत्य है, चेतन है तथा आनन्द रूप है एवं सबका अपना आप है ।

यदि कल के जाग्रत वाला ज्ञान स्वप्न तथा सुषुप्ति से टूट जाता, उधर वहीं अटक जाता तो फिर कल स्कूल, कालेज, व्यापार, आफिस, खेत, नौकरी व घर के काम का स्मरण आज प्रातः उठते ही किसी को नहीं होता । बिना अनुभव किये का स्मरण किसी को नहीं होता है, तथा जो अनुभव कर्ता होता है वही उस विषय का स्मरण कर्ता भी होता है अन्य नहीं । तब कल का ज्ञान ही हमें आज के व्यवहार को आगे बढ़ाने में मदद करता है । यदि कल का ज्ञान हमारे पास आज न आया होता तो हम अजगर की तरह जहाँ के तहाँ बिना हिले डुले पड़े ही रहते । कपड़ों में ही मल, मुत्र निकलता रहता और न तो हम उठ बाहर जा सकते होते और न साफ करने की बुद्धि होती न नफरत; प्रत्युत भूख लगने पर उसे ही खालेते । क्योंकि यह बात तो कल के अनुभव आधार से ही आज बुद्धि में होती है । कोई शत्रु मारता तो बचाव हेतु न साधन करते, न प्रार्थना, न आग, पानी से डरते । अपने घर के लोगों के लेन-देन को, अपने-परायों को हम तभी समझ पाते हैं, जबकि हमारे पास कल के अनुभव का आज स्मरण हो जाता है । अतः बिना ज्ञान के लोक व्यवहार की भी सिद्धि नहीं है । ज्ञान न हो तो एक रुपये के नोट के स्थान पर सौ रुपये के नोट दे देंगे । एक तथा सौ का अन्तर भी ज्ञान द्वारा ही हो सकता है । अस्तु ज्ञान एक सामान्य अखण्ड सत्ता होने से ब्रह्म

स्वरूप ही है । और वह "**प्रज्ञानं ब्रह्म**" मैं स्वयं हूँ ।

◆◆◆

पुरुषोत्तम

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षरउच्यते ।।

– गीता : १५/१६

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृत ।

– गीता : १५/१७

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।

– गीता : १५/१८

हे आत्मन् ! इस संसार में नाशवान और अविनाशी ये दो प्रकार के पुरुष हैं । इनमें सम्पूर्ण भूत प्राणियों के शरीर तो नाशवान है और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है । इन दोनों से उत्तम पुरुष तो अन्य ही है इसलिये लोक और वेद में उसे परमात्मा पुरुषोत्तम नाम से जाना जाता है ।

यो मामेवमसंमूढ़ो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ।।

– गीता : १५/१८

हे आत्मन् ! जो ज्ञानी पुरुष अपने आत्मा को इस प्रकार तत्त्व से उत्तम पुरुष अर्थात् पुरुषोत्तम रूप से जानता है वह जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति तीनों कालों को जानने वाला सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकार से निरन्तर सच्चिदानन्द ब्रह्म को सोऽहम् रूप से ही जानता रहता है ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।

– मुण्डकोपनिषद् : ३/१/१

यह नाशवान क्षर शरीर तो वृक्ष रूप है तथा इस पर जीव तथा साक्षी ये दो पक्षी सदा साथ रहने वाले दो मित्र हैं । ये शरीर रूप वृक्ष में हो हृदय रूप घोसले में एक साथ निवास करते हैं । इन दोनों में जीवात्मा तो इस वृक्ष के सुख-दुःख रूप अपने कर्म फलों को अर्थात् प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए सुख-दुःख को आसक्ति एवं द्वेष पूर्वक भोगता है और दूसरा साक्षी केवल देखता ही रहता है ।

हे आत्मन् ! पुरुषोत्तम नाम सन्धि विच्छेद करते हैं तो पुरुष + उत्तम होता है । अतः यह प्रश्न होता है कि पुरुष कितने हैं जिनमें परमात्मा पुरुषोत्तम कहलाता है ? व्याकरण द्वारा ज्ञात हुआ कि पुरुष तीन होते हैं ।

(१) उत्तम, (२) मध्यम, (३) अधम (अन्य) ।

इन पुरुषों के पहचान के सर्वनाम इस प्रकार है -

(१) उत्तम पुरुष की पहचान = मैं, हम रूप में ।

(२) मध्यम पुरुष की पहचान = तू, तुम, आप रूप में ।

(३) अधम (अन्य) पुरुष की पहचान = वह, वे, वो रूप में ।

हे आत्मन् ! जब दो व्यक्तियों के मध्य किसी तीसरे व्यक्ति के सम्बन्ध में चर्चा होती है तब वहाँ बोलने वाला मुख्य वक्ता उत्तम पुरुष पद से सुशोभित होता है तथा जो उस बात को, विषय को ग्रहण करता है, श्रवण करता है उस श्रोता को मध्यम पुरुष नाम से कहा जाता है । वक्ता उत्तम पुरुष मैं, हम रूप में वर्णन करता है और जिसको यह सुना रहा है उसे तू, तुम, आप रूप में सम्बोधित करता रहता है तथा उत्तम व मध्यम पुरुष के बीच वह, वे, वो के रूप में जिसकी चर्चा हो रही है उसे तृतीय पुरुष व अन्य पुरुष कहते हैं ।

हे आत्मन् ! मैं, हम के अलावा कोई उत्तम पुरुष नहीं हो सकता

है । तू, तुम तथा आप सर्वनाम वाला मध्यम तथा वह, वे, वो सर्वनाम वाला अन्य पुरुष ही होता है ।

जो साधक किसी दूर देश, लोक, तीर्थ, मन्दिर, मूर्ति में परमात्मा की भावना कर उपासना करते हैं । अतः ''वह'' रूप में की जाने वाली उपासना न उत्तम पुरुष की है न मध्यम पुरुष की बल्कि वह तो अधम (अन्य) पुरुष की ही उपासना होती है ।

जो भक्त अपने सम्मुख बाहरी आँख से या ध्यान में भीतरी आँख से देख जिस चित्र, मूर्ति, प्रतिमा की तू, तुम तथा आप रूप से आराधना, ध्यान करता है यह उपासना न अन्य पुरुष की है और न उत्तम पुरुष की बल्कि मध्यम पुरुष की उपासना कहलाती है । तात्पर्य यह है कि सोऽहम्, शिवोऽहम् रूप चिन्तन ही पुरुषोत्तम की उपासना है ।

हे आत्मन् ! जो ज्ञानी भक्त अपने आत्मा में ही परमात्मा के अहंकार को आरोपित करके ''**सोऽहम्**'', ''**शिवोऽहम्**'',''**अहं ब्रह्मास्मि**''रूप में धारणा करता है बस इसी को उत्तम पुरुष कहते हैं । यही उत्तम ज्ञानी भक्त अपनी मति अनुसार पुरुषोत्तम गती को प्राप्त होता है । और यह बात जग प्रसिद्ध ही है कि ''जैसी मति वैसी गति ।''

अहमात्मा गुडाकेश सर्व भूताशय स्थितः ।। – गीता : १०/२०

मैं रूप से सब भूतों के हृदय में स्थित सब भूतों का आत्मा मैं हूँ ।

क्षेत्रज्ञं चापि माम् विद्धि ।। – गीता : १३/२

समस्त देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि रूप क्षेत्र को जानने वाला क्षेत्रज्ञ भी मुझ आत्मा को ही जानो । क्योंकि मुझ विम्ब आत्मा से मेरा प्रतिविम्ब रूप जीव भिन्न नहीं है ।

◆◆◆

अग्नि उष्णवत् मोक्ष

हे आत्मन् ! यह जड़ शरीर दृश्य एवं अनात्मा है तथा तू द्रष्टा चेतन आत्मा है । जो इस जड़ प्रकृति के कार्य रूप पंच भौतिक शरीर में अहंकार करता है वह जन्म-मरण के बन्धन को प्राप्त होता है तथा जो पुरुष इस जड़ प्रकृति के कार्य देह संघात् में अहंबुद्धि नहीं कर केवल द्रष्टा साक्षी आत्म बुद्धि करता है वह सदा मुक्त है । अर्थात् देहाभिमानी बद्ध तथा आत्माभिमानी सदैव मुक्त ही होता है; क्योंकि धर्मी आत्मा का स्वभाविक् धर्म मुक्तानन्द ही है । जैसे अग्नि का उष्ण, बर्फ का शीतल, मिश्री का मधुर, सूर्य का प्रकाश स्वभाविक धर्म है इसी प्रकार आत्मा का धर्म सच्चिदानन्द नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त ही है ।

हे आत्मन् ! अग्नि प्रकट होने के साधन रूप लाइटर, माचिस् या बिजली के अनुसंधान में भले ही लाखों वर्ष लग गये हो किन्तु अग्नि जिस क्षण उत्पन्न होती है वह उसी क्षण गर्म, उष्ण ही प्रकट होती है । अग्नि का उष्णता धर्म, सूर्य का प्रकाश धर्म, बर्फ का शीतलता धर्म, मिर्च का तीक्ष्णता धर्म व नमक का क्षारता धर्म आगमापायी या कालान्तर में प्रकट होने वाला नहीं है । अर्थात् अग्नि प्रकट होने के बाद उष्णता के लिये या सूर्य प्रकट होने के बाद प्रकाश के लिये किसी को प्रार्थना, पूजा, ध्यान, जप आदि साधन करने की किंचित् भी आवश्यकता नहीं रहती है । क्योंकि यह नियम है कि धर्मी-धर्म का नित्य सम्बन्ध होता है । जैसे सूर्य प्रकाश को छोड़, अग्नि उष्णता को छोड़, चीनी मधुरता को छोड़ एक क्षण भी नहीं रह सकते । इसी प्रकार आत्मा अपने सच्चिदानन्द मुक्त स्वभाव को छोड़ नहीं रह सकती है । आग जब भी प्रकट होगी उष्ण ही प्रकट होगी, बर्फ शीतल ही होगा, सूर्य प्रकाशवान ही होगा । इसी प्रकार आत्मा मुक्त ही है ।

हे आत्मन् ! अग्नि को उष्णता युक्त, बर्फ को शीतलता युक्त, सूर्य को प्रकाश युक्त भी नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि युक्त कहने से भी

कुछ पृथक्ता का बोध होता है । जैसे बल्ब बिजली के सहयोग से प्रकाश युक्त होता है एवं बिजली के अभाव में वह प्रकाश रहित हो जाता है । आटा, बेसन को शकर युक्त होने से मीठे होते हैं या जैसे कोयला अग्नि के यहयोग से उष्णता दाहकता युक्त होता है बिना अग्नि उष्ण नहीं रहेगा । जलते कोयले को पानी द्वारा या ढककर उसे उष्णता से, दाहकता से अयुक्त भी किया जा सकता है किन्तु अग्नि किसी का सहयोग प्राप्त कर उष्णता दाहकता युक्त नहीं है, क्योंकि वह उसका स्वभाव है । अर्थात् जिस प्रकार अग्नि उष्ण, बर्फ शीतल, मिश्री मधुर स्वरूप है उसी प्रकार आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तानन्द स्वरूप ही है किसी साधन से आत्मा को मुक्त नहीं करना है ।

हे आत्मन् ! अग्नि में उष्णता, बर्फ में शीतलता, मिश्री में मधुरता आत्मा में या आत्मा की मुक्ति कहना भी द्वैत भ्रम पैदा कर देता है । जैसे जेब में रुपया, मुख में लड्डु, पेट में भोजन इत्यादि की तरह अग्नि में उष्णता, बर्फ में शीतलता, सूर्य में प्रकाश, मिश्री में मधुरता नामक पदार्थ कहीं बाहर से लाकर रखा नहीं है । इसी प्रकार आत्मा ही मुक्त है । आत्मा का ज्ञान, आत्मा में आनन्द कहना भी भूल है क्योंकि मुक्ति, ज्ञान, आनन्द यह आत्मा से पृथक् कालान्तर में होनेवाले गुण नहीं है, बल्कि यह उष्ण, दाहकता, प्रकाशता अग्नि स्वभाव की तरह सच्चिदानन्द नित्य मुक्त स्वभाव आत्मा है । जैसे जल का स्वभाव, बर्फ नहीं है, बल्कि जल से बर्फ बनाने की विधि है वह अत्यधिक ठन्डक पाकर बर्फ में रूपान्तरित होता है एवं उष्णता पाकर पुनः तरल जल रूप में लौट आता है ।

हे आत्मन् ! आत्मा अपने मुक्ति स्वभाव के लिये जल से बर्फ होने की तरह किसी साधन विधि की अपेक्षा नहीं करता है । यह आत्मा तो अग्नि उष्णता, दाहकता की तरह सच्चिदानन्द मुक्त स्वभावी है । अग्नि प्रकट होने में ही भले कितने देरी क्यों न लग जावे किन्तु अग्नि जब भी

प्रकट होगी उष्ण ही होगी । इसी प्रकार आत्म भाव प्रकट होने में भले ही क्यों न तुम्हें अनन्त कल्प बीत गये हो या इस जन्म के ४५-५० वर्ष या २५-३० दिन ही क्यों न लग गये हो किन्तु आत्म भाव जिस दिन उदय हो गया वह अग्नि उष्णतावत् मुक्त स्वभावी ही होगा । फिर मुक्ति के लिये अन्य साधना करना किंचित् भी कर्तव्य नहीं । ''तस्य कार्यं न विद्यते'', ''नैवास्ति किंचित् कर्तव्यमस्ति'' । यदि कोई आत्म भावोदय पश्चात् भी मुक्ति हेतु कुछ प्रार्थना, पूजा, ध्यान की अपेक्षा रखता है तो ''न स तत्त्ववित्'' वह आत्मवित् नहीं है ।

◆◆◆

चाँवल पूजा में क्यों ?

हे आत्मन् ! जब तक चाँवल अपने आश्रित छिलके से मोह करता है तब तक ही उसे बारम्बार खेत में उत्पन्न होकर कटते-सड़ते रहना पड़ता है, किन्तु जिस काल में यह चाँवल अपने आश्रित तुष का परित्याग कर देता है, उसी काल में यह सृष्टि चक्र से मुक्त हो जाता है ।

यदि एक धान खेत में डाल दिया जावे तो वह अपने पौधे से ५० अन्य धान को उत्पन्न कर देता है । यदि ५० धान को पुनः खेत में बो दिया जावे तो ५० x ५० = २५०० धान पैदा कर देंगे । अब यदि २५०० धान का छिलका निकाल २५०० चाँवल को खेत में बो दिया जावे तो वे सब मिलकर एक भी धान पैदा नहीं कर सकेंगे, सभी सड़ गल कर मिट्टी हो जावेंगे । चाँवल की मुक्ति दशा छिलके छोड़ते ही हो जाती है । अब चाहे उन्हें आप खावें या जलावें या उसी तरह पड़ा रहने दें, अब वे जीवनमुक्त दशा को प्राप्त हो गये हैं । यदि पका, पीस या अग्नि द्वारा उसे सेक मुढ़ी, परमल,धानी बनाकर खा लिया या जला दिया तो वह चाँवल विदेह मोक्ष दशा को प्राप्त हो गया । अब उतने चाँवलों का संसार समाप्त

हो गया जिस क्षण से उनका छिलका उतर गया ।

जब तक चाँवल छिलकों में आसक्ति रखेगा एवं अपने से छिलके को अलग कर अपना शुद्ध स्वरूप नहीं पहचानेगा तब तक इसे उत्पन्न होने तथा कटने के भय से कोई मुक्त नहीं कर सकेगा । यह जब भी खेत में पड़ेगा, जल का संयोग पाएगा एवं अपने संसार परिवार का विस्तार कर अनेक से मोह करते हुए दुःखी ही बना रहेगा । जैसे विवाह से पूर्व एक स्त्री या पुरुष अपने ही शरीर के दुःख में दुःखी रहते हैं, किन्तु विवाह होने के उपरान्त परिवार का विस्तार हो जाने से अनेकों से मोह कर रात-दिन दुःखी होते रहते हैं ।

यदि चाँवल ने अपने आश्रित छिलकों से ममता का त्याग कर अलग कर दिया एवं फिर कोई छिलका पुनः उनके साथ चिपकाकर चाँवल को छिलके में पुनः बंधकर खेत में बो देगा तो भी अंकुर शक्ति के नष्ट हो जाने पर वह उत्पन्न नहीं हो सकेगा । फिर उसे कोई सृष्टि चक्र में नहीं डाल सकेगा ।

इसी प्रकार जब तक जीव रूप चाँवल देह रूप छिलके में अहंता-ममता करता रहेगा इसे बारम्बार संसार चक्र में जन्म-मरण का कष्ट उठाते रहना पड़ेगा । इस देहासक्ति दशा में किया गया किसी प्रकार का भी जप, तप, पूजा, मंत्र, तीर्थ, उपवास, ध्यान इसे संसार चक्र से मुक्ति नहीं दिला सकेगा । इसे अपने देहाभिमान के कारण कर्म फल भोगने हेतु ऊपर निचे तथा मध्य में आते जाते ही रहना पड़ेगा । एक जन्म के संचित् कर्म फल भोगने हेतु जीव जब आता है तब उस एक जन्म में १०० नूतन जन्मों के लिये कर्म कर ले जाता है । फिर उन संचित् १०० जन्मों के फल भोग में से एक जन्म का कर्म फल भोगने आता है एवं ९९ जन्मों का भोग तो फिर भी संचित् ही रह जाता है । इस प्रकार जीव का अनादिकाल से अनन्त जन्मों में अनन्त सौ कर्म जमा हो जाते रहते हैं ।

जब जीव को ईश्वर कृपा से तत्त्वज्ञानी गुरु मिलता है और इसको आत्मा-अनात्मा का विवेक कराकर देह अभिमान से मुक्त करा देता है तभी यह जीव जीवनमुक्त हो जाता है तथा प्रारब्ध भोग पूर्ण होने पर विदेह मुक्त हो जाता है । हे आत्मन् ! एक बार भली प्रकार से देह से पृथक् अपने को उसका द्रष्टा, साक्षी, असंग, निष्क्रिय आत्मा जान लिया तो फिर यह संसार में रहकर राज्य, युद्ध, खेती, व्यापार, गृहस्थी इत्यादि समस्त कर्म करते रहने पर भी राम, कृष्ण, अर्जुन, वशिष्ठ, जनक की तरह मुक्त ही बना रहता है । देहाभिमानी अज्ञानी कर्म नहीं करके भी बन्धन को प्राप्त होता रहता है, किन्तु देहाभिमान से रहित ज्ञानी कर्म करके भी मुक्त ही रहता है । अतः सद्गुरु की शरण जाकर श्रद्धापूर्वक सेवा, भक्ति द्वारा अपने को देहाभिमान से मुक्त कर चाँवलवत् बनालो । बिना चाँवल रूपता को प्राप्त किये धान रूप देहाभिमानी जीव को मुक्ति पाने का अन्य कोई उपाय नहीं है ।

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा वहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत् ।।

– ब्रह्म (अमृत) बिन्दु उप. ३/१२

प्रतिविम्ब रूप हर एक जीव का विम्ब रूप आत्मा एक ही है । किन्तु जैसे एक ही चन्द्रमा विभिन्न जल पात्रों में प्रतिविम्बित् होने से विभिन्न चन्द्रमा का भ्रम बोध होता है वैसे ही एक ही आत्मा विभिन्न देहों में प्रतिविम्बित होने से नानात्व का भ्रम बोध होता है ।

एकात्मके परेतत्त्वे भेदवार्ता कथं भवेत् ।
सुषुप्तौ सुखमात्रायां भेदः केनावलोकितः ।।

– अध्यात्म उप. १५

जहाँ एक परमात्मा की सत्ता से भिन्न दूसरा कोई विषय वस्तु ही नहीं है तहाँ भेद की सम्भावना कहाँ है ? सुषुप्ति में जब एक मात्र सुखानुभूति

से भिन्न और कोई ज्ञान नहीं रहता, तब उस अवस्था में भेद किसने देखा है ?

◆◆◆

ज्ञानी सूखा नारियल

ज्ञानी सूखे नारियल एवं अज्ञानी गीले नारियल की तरह होते हैं । गीले नारियल में पानी अंश विशेष रहता है जो मोह का प्रतीक है । उस कारण वह अपने बाहरी खोल से भीतर से चिपका रहता है एवं बाहरी खोल पर चोट पड़ने से वह उसके सहित भीतर से भी टूट जाता है । उसका यही एक हेतु है कि नारियल को उसके वृक्ष से कच्ची अवस्था में ही तोड़ लिया गया जिसके कारण उसे सूर्य की गरमी उसके ममता रूप जल को सुखाने में पर्याप्त नहीं हो सकी इसलिये वह कच्चा रह गया ।

नारियल को सूर्य की उष्णता बहुत काल जब मिलती रहती है तो उसके परिणाम स्वरूप उसमें स्थित जल सूख जाता है और ममता रूप नमी के अभाव के कारण बाहरी खोल से भीतरी गोला अपना सम्बन्ध छोड़ दूरी, पृथक्ता पैदा कर लेता है । जिसके परिणाम स्वरूप वह बाहर वाली खोल पर चोट पड़ने एवं उसके टूटने पर भी वह भीतर से ज्यों का त्यों सुरक्षित ही रहता है ।

इसी प्रकार अज्ञानी को सत्संग रूप ज्ञान सूर्य की उष्णता न मिलने से उसका देह से पृथक् आत्म विवेक जाग्रत नहीं हो पाता है, क्योंकि ''बिनु सत्संग विवेक न होई'' इस कारण वह देहाभिमानी महापातकी ही बना रहता है एवं देह के षड् विकारों को अपना मान देह के नाम, रूप, जाति, आश्रम, सम्बन्ध, परिणाम तथा जन्म-मृत्यु का अभिमान कर त्रितापाग्नि में सदा जलता ही रहता है । वह देह के जन्म-मृत्यु को अपनी जन्म-मृत्यु तथा देह के बाल, युवा तथा वृद्धावस्था को अपनी अवस्था

मान दुःखी हो चौरासी लाख योनियों में भटकता रहता है ।

अज्ञानी को जब सत्संग के द्वारा देह से पृथक् मैं असंग, साक्षी, द्रष्टा, निर्विकार, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तानन्द आत्मा हूँ ऐसा विवेक हो जाने से वह देह की किसी भी अवस्था को देख उसमें अहंता-ममता नहीं करता है एवं सदा आनन्दित ही बना रहता है । सत्संग के प्रभाव से उसके जड़-चेतन की ग्रन्थि का भेदन हो जाने से वह अपने को निश्चय कर लेता है कि -

सहजानन्दी शुद्ध स्वरूपी, अविनाशी मैं आत्म स्वरूप ।
देह मरे पर मैं नहीं मरता, अजर-अमर मैं आत्मा हूँ ।।

भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।

- मुण्डकोपनिषद् : २/२/२८

कार्य-कारण स्वरूप उन परात्पर परब्रह्म को पुरुषोत्तम अर्थात् सोऽहम् रूप से जान लेने से इस जीव के हृदय की गाँठ (देहाध्यास) निवृत्त हो जाती है । क्योंकि इस ग्रन्थि के कारण ही जीव अपने चैतन्य आत्म स्वरूप को भूलकर इस दृश्य जड़ शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को उसकी अवस्था एवं उसके धर्म को ही अपना स्वरूप मान लेता है । किन्तु जब सद्गुरु द्वारा द्रष्टा-दृश्य, आत्मा-अनात्मा का भेद ज्ञान प्राप्त कर दृश्य, अनात्मा देह से पृथक् अपने को द्रष्टा-आत्मा रूप से जान लेता है तब इसकी बुद्धिगत पाँचों भ्रान्ति एवं प्रमाण, प्रमेय तथा प्रमातागत सभी संशय दूर हो जाते हैं और यह समस्त संचित, क्रियमाण कर्म से मुक्त होकर जीवनमुक्त दशा को प्राप्त हो जाता है ।

संत तुलसीदास इसी ग्रन्थि के लिये कहते हैं ह्न

ज-ड़-चेतन ग्रन्थि परिगई, यद्यपि मृषा छूटत कठिनाई ।

श्रुति पुराण बहु कहेउ उपाई, छूट न अधिक अधिक अरुझाई ।।

तत्त्वज्ञानी देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण के किसी भी धर्म, कर्म, अवस्था को अपने आत्म स्वरूप में अध्यारोपित नहीं करने के कारण देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण के कर्मों के प्रति साक्षी बने रहने से सदा एकरस रहता है । यही कारण है कि परीक्षित, जीसू, मन्सूर, सुकरात, शंकराचार्य, दयानन्द आदि को देह त्याग करते समय कष्ट का अनुभव नहीं हुआ, क्योंकि उन्होंने सद्गुरु उपदेश से अपने सत्य स्वरूप आत्मा में स्थिति प्राप्त कर अपने को दृश्य देह से पृथक् अनुभव कर लिया था एवं उनकी स्थिति ठीक सूखे नारियल गोलेवत् हो गई थी जिसने अपने बाहरी देह से अंहता-ममता का त्याग कर लिया है । अज्ञानी देह में अभिमान कर सदा दुःखी बना रहता है ।

देह धरे का दंड है सब काहू को होय ।
ज्ञानी भोगे ज्ञान से मूरख भोगे रोय ।।

आत्माक्षेत्रज्ञ इत्युक्त संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः ।
तैरेवतु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदा हृतः ।।

– महाभारत, शान्ति : १५७/२३

आत्मा देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार रूप प्राकृत गुण विशिष्ट होने से 'क्षेत्रज्ञ' अर्थात् जीव नाम से कहा जाता है । एवं प्राकृत गुणों से जब यह अपने को मुक्त जान लेता है तब यह जीव ही परमात्मा नाम से कहा जाता है । अर्थात् देहात्म बोध विशिष्ट आत्मा ही क्षेत्रज्ञ और देहात्म बोध रहित आत्मा ही परमात्मा है । ''**अयमात्मा ब्रह्म**''

सामान्य ब्रह्म

हे आत्मन् ! व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दो स्वरूप समझाने हेतु

एक अखण्ड, व्यापक, अद्वितीय, कूटस्थ चैतन्य के ही सामान्य तथा विशेष दो नाम कल्पित कर लिये हैं । सामान्य सब स्थान पर विद्यमान होने से सत् तथा कम देश, काल में होने से विशेष चेतन या मिथ्या चेतन कहा जाता है । जैसे मिट्टी का सामान्य रूप तो विस्तृत है किन्तु घड़ा, मकान, विशेष रूप सीमित देश में होने से मिट्टी की अपेक्षा से मिथ्या है । इसी प्रकार अस्ति, भाति, प्रिय ब्रह्म का सामान्य अंश तो सर्वत्र समान है किन्तु नाम, रूप अंश सीमित होने से विशेष चैतन्य रूप को मिथ्या कहते हैं ।

हे आत्मन् ! जैसे सूर्य का जो प्रकाश प्रतिविम्ब जल या दर्पण आदि में दिखलाई पड़ता है वह सूर्य का विशेष स्वरूप है । उस प्रतिविम्ब को मिथ्या पहचानते हैं । ऐसे ही परमात्मा का जो प्रतिविम्ब चिदाभास रूप बुद्धि में भासता है वह विशेष चैतन्य है । उसको कल्पित मिथ्या ही जानना चाहिये । यह चिदाभास विशेष चैतन्य ही लोक परलोक में आता-जाता है और जो कर्म रचित भोग है उनको भोगता है । यह सब आना-जाना आदि चैतन्य का प्रतिविम्ब (चिदाभास) ही करता है । सामान्य चैतन्य अचल, व्यापक तथा निष्क्रिय होने से सत्य है ।

हे आत्मन् ! अस्ति भाति और प्रिय रूप से सबमें अनुस्यूत जो सामान्य चैतन्य है उसे अपने आत्मा से अभिन्न पूर्ण ब्रह्म सर्वात्मा जानना चाहिये । अस्तु नाम, रूप को त्यागकर सर्वत्र अस्ति, भाति प्रिय ब्रह्म हूँ तथा एक देह में मैं ही सच्चिदानन्द रूप विशेष ब्रह्म हूँ ऐसा साक्षात् अपरोक्ष दृढ़ बोध करना चाहिये ।

◆◆◆

विशेष ब्रह्म

हे आत्मन् ! अन्तःकरण और उसकी वृत्तियों में जो सामान्य चैतन्य ब्रह्म का प्रतिविम्ब रूप चिदाभास है उसे ही विशेष चैतन्य कहते हैं । जो

चैतन्य ब्रह्म के लक्षण से रहित होते हुए भी चैतन्य की तरह भासित होता है उसे चिदाभास कहते हैं । जैसे व्यक्ति की प्रतिमा, चित्र ।

हे आत्मन् ! चिदाभास को विशेष चैतन्य इसलिये कहा जाता है कि यह अन्तःकरण देश और जाग्रत, स्वप्न अथवा अज्ञान काल में ही रहता है । जैसे सूर्य का प्रकाश सामान्य रूप से सर्वत्र है किन्तु विशेष रूप से सर्वत्र प्रतिविम्बित नहीं होता है । जहाँ-जहाँ उज्वल जल, बर्तन या दर्पणादि है वही विशेष रूप से प्रतिविम्बत होता है । अथवा माचिस की सब तिलियों में सामान्य रूप से अग्नि विद्यमान रहने पर भी जिस तिली को माचिस के साथ घर्षण किया जाता है वहीं विशेष अग्नि प्रकट होती है, वही जलाने का कार्य करती है । अन्य तिली सहित माचिस जेब में रखी रहने पर भी उसमें स्थिति सामान्य अग्नि जलाने का कार्य नहीं करती है । इसी प्रकार सूर्य का प्रकाश सामान्य रूप से सर्वत्र विद्यमान होने पर भी वह कपास कागजादि को नहीं जलाता है, किन्तु मेग्नीफाइंग ग्लास, सूर्यकान्त मणि रूप उपाधि से उन्हीं सामान्य सूर्य रश्मियों का एकीकरण कर वह विशेष अग्नि रूप हो जलाने का कार्य करती है ।

हे आत्मन् ! सामान्य रूप से जो वस्तु होती है वह सदा एकरस ही रहती है तथा उपाधि से जो विशेष रूप से भासित होती है वह कुछ काल ही रहती है । जैसे मंद अंधकार में पड़ी टेढ़ी-मेढ़ी आकृति में किसी को ''यह रस्सी है'' के स्थान पर ''यह सर्प है'', यह दंड है, 'यह रबर है', 'यह जलधारा है', इसी रीति से सर्प, दंड, रबर पाइप, खिलोनादि विशेष अंशों में 'यह' सामान्य अंश एवं रस्सी का स्वरूप है । भ्रान्ति काल में 'यह' सर्प है रूप भासता है और भ्रान्ति की निवृत्ति काल में भी 'यह' रस्सी है करके भासता है । इसमें सर्प, दंड तथा रबर आदि तो विशेष रूप थोड़े काल में रहते हैं, अर्थात् जब सर्प दिखता है तब दंड़ एवं रबर नहीं भासता एवं जब दंड भासता है तब सर्प एवं रबर नहीं भासता है, एवं जब रबर

भासता है तब सर्प दंड नहीं भासता तथा यह रस्सी है बोध होने पर सर्प, रबरादि तीनों नहीं भासते हैं । किन्तु ''यह है'' रस्सी का सामान्य रूप तो सब भ्रान्ति अवस्थाओं में भी समान रूप से विद्यमान रहता है ।

ऐसे ही संसार के प्रत्येक पदार्थों में अस्ति, भाति तथा प्रिय तो सामान्य चैतन्य रूप है परन्तु उनमें बोलना, चलना, सुनना, आदान-प्रदान, संकल्पादि क्रियाएँ नहीं होती है, किन्तु जहाँ-जहाँ अन्तःकरण रूप उपाधि होती है वही चिदाभास रूप से विशेष चैतन्य होकर बोलना, चलना, परलोक में गमना-गमन एवं कर्ता-भोक्तापन आदि विशेष व्यवहार होता है । इनमें सामान्य चैतन्य ब्रह्म तो सत्य है एवं उपाधि द्वारा भासित होने वाला विशेष चैतन्य चिदाभास (जीव) मिथ्या है । जब चिदाभास ही मिथ्या है तो उसके उपरोक्त सभी धर्म भी मिथ्या समझना चाहिये ।

हे आत्मन् ! विशेष चैतन्य रूप चिदाभास एवं उसके धर्म पुण्य-पाप, कर्तापना, सुखी-दुःखी, भोक्तापना, परलोक-इहलोक गमनागमन,जन्म-मृत्यु, अज्ञान-ज्ञान, बंध-मोक्ष, समाधि-विक्षेप आदि समस्त धर्म संसारी ब्रह्म के विशेष चिदाभास रूप जीव के ही हैं । मुझ सामान्य चेतन आत्मा के नहीं है । अतः ये धर्म मैं नहीं और मेरे नहीं किन्तु ये मेरे में कल्पित है । मैं आकाश की भाँति सर्वत्र परिपूर्ण सर्व नाम-रूप का अधिष्ठान सामान्य चैतन्य निर्विकार निष्क्रिय अस्ति, भाति, प्रिय रूप ब्रह्म हूँ ।

हे आत्मन् ! जो वस्तु अधिक देश व काल में होती है उसे सामान्य कहते हैं । ब्रह्म बुद्धि कल्पित सर्व देश, काल तथा वस्तु रूप में विद्यमान है व्यापक होने से इसीलिये ब्रह्म को सामान्य चेतन कहते हैं ।

अस्तु अस्ति,भाति, पिय रूप सामान्य चैतन्य जो ब्रह्म है सो मैं हूँ और मैं सो अस्ति, भाति, प्रिय सामान्य चैतन्य ब्रह्म हूँ और नाम, रूप जगत् मेरे में कल्पित है ऐसा निश्चय करना चाहिये । ऐसा निश्चय करने से सर्व अनर्थ

की निवृत्ति और परमानन्द स्वरूप की प्राप्ति रूप मोक्ष होता है । इस प्रकार सामान्य चैतन्य रूप ब्रह्म ही समस्त का कारण होने से सबसे अधिक सूक्ष्म और व्यापक है । और वही मैं इस देह अन्तःकरण उपाधि से सच्चिदानन्द रूप आत्मा हूँ । जो मैं इस देह में सच्चिदानन्द रूप आत्मा हूँ वहीं मैं सर्वत्र अस्ति, भाति, प्रिय रूप सामान्य ब्रह्म हूँ ।

आत्मातु सततं प्राप्तोऽप्यप्राप्त वद विद्यया ।
तन्नाशे प्राप्तवद्भाति स्वकंठाभ रणंयथा ॥

– शंकराचार्य, आत्मबोध : ४४

आत्मा प्रत्येक देह में अवस्थित है इसलिये वह सबको सब समय नित्य ही बिना साधन प्राप्त है । उसे अज्ञान वश अप्राप्त कहकर खोजने हेतु नाना प्रकार के कष्टप्रद साधन करते हैं । जब सद्गुरु द्वारा स्वरूप साक्षात्कार हो जाता है तब उसे प्राप्त होगया इस प्रकार जानते हैं ।

जिस प्रकार किसी महिला की गले कर माला के प्रति भ्रमवश ऐसा बोध हो जाता है कि मेरी स्वर्ण माला खोगयी । उसे पुनः प्राप्त करने के लिये लोक में नाना विधि अनुसंधान करते हैं । अन्त में जब भूल मालुम होनेपर गले में पूर्व स्थित माला के प्रति मुझे माला मिलगयी ।

अपने आत्म स्वरूप के प्रति भी अज्ञान वश बोध न होने से उसे बाहर तीर्थ, मन्दिर, मूर्ति, चित्रादि में खोजता है । फिर सद्गुरु द्वारा स्वरूप बोध होने पर प्राप्त होगया ऐसा भ्रम होता है । क्योंकि नित्य प्राप्त वस्तु की अप्राप्ति सम्भव नहीं तब प्राप्ति कहना भी भूल है ।

ब्रह्मानन्दम्

“आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानीत”, “रसो वैसः ”

हे आत्मन् ! आनन्द ही ब्रह्म है, ब्रह्म को आनन्द रूप ही जानों और वह आनन्द ब्रह्म स्वयं आत्मा ही है अर्थात् वह आनन्द ब्रह्मात्मा तुम स्वयं ही हो । अज्ञानी आनन्द अथवा ब्रह्म को अपने से पृथक् दृश्य रूप किसी पदार्थ या स्थान में होना मानता है । लेकिन ज्ञानी आनन्द रूप अपना आपा ही पहचानता है ।

अज्ञानी पदार्थ की प्राप्ति में आनन्द का अनुभव करता है एवं पदार्थ के वियोग में दुःख का अनुभव करता है । ज्ञानी पदार्थ की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति काल में भी अपने स्वरूप के प्रति आनन्द रूपता ही जानता है । ज्ञानी जानता है कि वस्तु में आनन्द नहीं है, आनन्द जड़ का स्वभाव नहीं हो सकता । चेतन आत्मा ही आनन्द रूप हो सकता है । वह आत्मा मेरा स्वरूप है, अस्तु मैं ही आनन्द रूप हूँ । पदार्थों द्वारा मन को सुख की प्राप्ति नहीं होती है बल्कि मुझ आत्मा से ही दृश्य मन को सुखानुभूति होती है । अज्ञानी मानता है कि जब मुझे मन इच्छित पदार्थ प्राप्त हो जावेगा तब मैं सुखी हो जाऊँगा । ज्ञानी सुख हेतु पदार्थ की इच्छा नहीं करता है, वह पदार्थ को तो चंचल मन के शान्त होने में निमित्त मात्र जानता है एवं आनन्द को अपना ही स्वरूप जानता है । अज्ञानी को निजानन्द स्वरूप का अज्ञान होने से वह पदार्थ में भ्रमवश सुख बुद्धि कर पदार्थ संयोग-वियोग में व्यर्थ दुःखी हुआ करता है । ज्ञानी सदा आनन्द स्वरूप है ।

स्वयं प्रकाश

समस्त शास्त्रों में उस परब्रह्म का स्वरूप "ज्योति", "प्रकाश", "स्वयं प्रकाश" कहा गया है । ज्योति शब्द का अर्थ प्रकाशक, चैतन्य, अवभासक होता है । आत्मा अर्थात् "तत" वह ज्ञेय ब्रह्म प्रकाशों का भी

प्रकाशक है । सूर्य, चन्द्र, तारे, नक्षत्र, विद्युतादि भी उसी की शक्ति से प्रकाशित होते हैं । मन, बुद्धि का भी वही प्रकाशक है । सूर्य, चन्द्रादि बाह्य ज्योतियाँ है । मन बुद्धि आन्तरिक ज्योति है । ये ज्योतियाँ जड़ हैं । इन सब ज्योतियों का प्रकाशक आत्मा चैतन्य स्वयं ज्योति है ।

हे आत्मन् ! चैतन्य सर्वत्र विद्यमान होते हुए भी इन जड़ इन्द्रियों का विषय नहीं बन सकता है । वह मन, बुद्धि द्वारा गम्य नहीं है । उसे ''अस्ति'' या ''नास्ति'' रूप से बुद्धि का विषय नहीं बनाया जा सकता क्योंकि वह अप्रमेय है । बुद्धि उसे माप नहीं सकती है । बुद्धि के लिये आत्मा का दृश्य, ज्ञेय होना सम्भव नहीं है । क्योंकि उसकी पहुँच उस तक नहीं है । आत्मा सबका आश्रय है, किन्तु आत्मा आश्रय, आश्रित सम्बन्ध से अलिप्त है । उसे किसी भी लक्षण द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है । वह समस्त इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वाणी से अगोचर है एवं विलक्षण है, किन्तु यह सुनकर निराश नहीं हो जाना है कि तब तो वह नहीं जाना जा सकेगा; क्योंकि वह मन, बुद्धि आदि की पहुँच से परे है । तथा इन्द्रियों द्वारा जिन शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयों का ग्रहण होता है वह परमात्मा इन सब दृश्य वर्ग से सर्वथा पृथक् है, किन्तु वह जानने योग्य नहीं है, ऐसा नहीं ।

''त्वमक्षरं परमंवेदितव्यं'' तमेव विदित्वाति'' ''तद्विज्ञानार्थ'' ''तद्विद्धि'', ''ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः'', ''वेदाहमेतं पुरुषं'', ''ज्ञात्वा मां शान्ति मृच्छति'' ।

इस प्रकार परमात्मा को जानने हेतु आदेश, निर्देशो एवं अनेको प्रमाणों से शास्त्र भरे हैं । यदि वह ब्रह्म सर्वथा अज्ञात ही होता तो शास्त्र, सद्गुरु, भजन एवं उसकी प्राप्ति के सभी साधन व्यर्थ हो जाते । किन्तु उस परब्रह्म को पाने हेतु प्रत्येक शास्त्र आज्ञा कर साधन वतलाते हैं । उसे पाने हेतु ही मनुष्य जीवन की सार्थकता है जैसा कि श्रीकृष्ण भगवान कहते हैं –ह्नह्न

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्वमाम् ।।

– गीता : ९/३३

त्वमेव विदित्वाति मृत्युमेति ।

– श्वे.उ. ६/१५

''साधन धाम मोक्षक.र द्वारा''

– रामायण

सुख से रहित इस अनित्य लोक में आकर परमात्मा को प्राप्त करने में ही बुद्धिमता है, क्योंकि उसको जाने बिना कोई भी मृत्यु रूप संसार सागर से पार नहीं हो सकता है । इसी आदेशानुसार इन्द्र, नारद, वामदेव, मनु, सूर्य, इक्ष्वाकु, विश्वामित्र, जनक, दशरथ, वशिष्ठ राजर्षियों ने भी जाना है और आगे भी इसी प्रकार लोग जान रहे हैं एवं जानेंगे । क्योंकि बिना आत्मदेव के जाने कोई भी जीव बंधनों से नहीं छूट सकता ।

वह आत्मा कैसा है ? तो कहते हैं 'तमसः परम' अर्थात् अविद्या कल्पित जड़ वर्ग से भिन्न है । जड़ अविद्या का कार्य रूप समस्त नाम, रूपात्मक जगत् असत् एवं नाश रूप है, आत्मा अविनाशी एवं सद्रुप है । अतः आत्मा उसके संसर्ग से रहित असंग है । आत्मा सूर्य से भी परे है । जैसे जगत् में सूर्य के प्रकाश से सब कुछ दृश्य वर्ग प्रकाशित होता है, किन्तु सूर्य को प्रकाशित करने के लिये किसी भूत-भौतिक पदार्थ की आवश्यकता नहीं रहती है । उसी प्रकार परमात्मा भी अपने प्रकाश से ही प्रकाशवान हुआ सब भूत प्राणियों को निरन्तर प्रकाशित करता रहता है । उसे किसी प्रकाश की अपेक्षा नहीं; क्योंकि स्वयं प्रकाश तत्त्व को अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं रहती है । उस स्वयं प्रकाश से ही यह सब प्रकाशित हो रहे हैं । यह आत्मा स्वयं ज्योति अर्थात् ज्ञान स्वरूप (ज्ञानम्) है । वेदान्त श्रवण,मनन रूप शब्द प्रमाणजन्य जो ब्रह्माकार चित्तवृत्ति विशेष उत्पन्न होती है, उस अविद्या कालिमा रहित

चित्तवृत्ति में जो ज्ञान अभिव्यक्त होता है वह आत्मा का ही प्रतिविम्बित रूप है । यह आत्मा ज्ञान स्वरूप है, इसलिये यह चेतन ही (ज्ञेयम्) ज्ञेय है । ज्ञेय का मतलब सूर्य की तरह बिना इच्छा के भी दर्शन हो जाने की तरह वह नहीं है बल्कि चेष्टा करने से ज्ञेय है । आपके मन में यह जिज्ञासा हो सकती है कि फिर वह सबके द्वारा क्यों नहीं जाना जाता ? तो कहा ह्न

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः ।

नाम, रूप योग माया से बुद्धि आच्छादित होने के कारण मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ । तब तो ह्न

''**मूढोऽयं नाभिजानाति**'', ''**विमुढ़ा नानुपश्यन्ति**''

यतन्तोऽप्य कृतात्मानो नैनं पश्यन्त्य चेतसः ।

– गीता : १५/११

मूढ़ लोग मन्द बुद्धि के कारण प्रयत्न करते हुए भी नहीं जान पाते हैं ।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।

– गीता : १५/६

जिस परमपद स्व आत्मा को प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर पुनः इस देहभाव संसार में आसक्त नहीं होते हैं एवं देह त्याग के बाद पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करते है । उस स्वयं प्रकाश परमपद को न सूर्य प्रकाशित करता है न चन्द्रमा और न अग्नि । वही आत्मा का परम धाम है ।

किन्तु ''**पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषः**'', ''**ज्ञानगम्य**''

वह ज्ञान के द्वारा जाना जा सकता है । उस ज्ञान हेतु जिज्ञासु को साधन चतुष्टय हो किसी श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के निकट जाना होगा –

''**तद्विद्धि प्रणिपातेन**'', ''**तद्विज्ञानार्थ स गुरुमेवाभिगच्छेत्**''

उस श्रद्धावान् मुमुक्षु द्वारा ही परमात्मा को जाना जा सकता है अन्यथा बिना गुरु के परमात्मा कदापि नहीं जाना जा सकेगा ।

''गुरु बिन भव निधि तरई न कोई''

अब यदि यह प्रश्न करें कि यह आत्मा साधनों द्वारा मिलता है तो क्या दूर देश में स्थित है जिसे बाहर ढूँढ़ने जाना होगा ? नहीं, बहुत समीप में ही इनका निवास स्थान है । कहाँ ? सबके हृदय में साक्षी रूप से ।

''हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'', ''क्षेत्रज्ञं चापिमाम् विद्धि'', ''हृद्येशेऽर्जुनतिष्ठति'', ''आत्मन्यवस्थितम्'', ''साक्षी भूतम्'', ''अहमात्मा सर्वभूताशय स्थितः'', ''सर्वभूतेषू गूढ़ः'', ''हृदि सन्निविष्टो'', ''नित्यमेवात्मसंस्थं'' ''अहमात्मा'' ।

आत्म रूप से, मैं रूप से, चैतन्य रूप से, ज्ञान रूप से, अनुभव रूप से सर्वदा अपने हृदय मन्दिर में ही विद्यमान रहते हैं । सूर्य के प्रकाश की भाँति परमात्मा सर्वत्र समान विद्यमान है । परन्तु सूर्य लकड़ी, पत्थर की अपेक्षा दर्पण, सूर्यकान्तमणि आदि में जैसे विशेष रूप से अभिव्यक्त होता है, उसी प्रकार यह आत्मा भी सत्व प्रधान अन्तःकरण में विशेष रूप से व्यक्त होता है । इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे अन्य स्थल पर नहीं है अथवा एक स्थल पर विशेष शक्ति है एवं अन्य स्थल पर अल्प शक्ति है ऐसा नहीं, वह तो सर्वत्र समान ही है ।

हे आत्मन् ! वर्षा समय में बादलों द्वारा सूर्य रहते हुए भी प्रतीत नहीं होता एवं बादल आवरण हट जाने पर प्रटक सा प्रतीत होता है, किन्तु आवरण दशा में भी वह ज्यों का त्यों अपनी पूर्ण महिमा, तेज, उष्ण रूप ही रहता है । ऋतुओं, बादलों, सूर्य पराग अथवा रात्रि के घोर अंधकार का जैसे सूर्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, वह प्रकाश मान, एकरस एवं सबसे असंग रहता है । उसी प्रकार अज्ञान आवरण से यह आत्म ब्रह्म नित्य सूर्यवत् विद्यमान होते

हुए भी अप्राप्त सा, खोया-सा, दूरस्त-सा भान होताहै । सद्गुरु कृपा से अविद्याकृत भेद भ्रान्ति के नाश होते ही ब्रह्म प्राप्त हो गया ऐसा अनुभव में आता है । वह अज्ञान दशा में भी ज्यों कि त्यों शुद्ध, बुद्ध, आनन्द रूप ही था एवं ज्ञान दशा में भी कुछ विशेष नहीं होता है, वह परिणाम रहित अखंड, निर्विकार, कूटस्थ रूप ही है । ज्ञान प्राप्ति पर वह बड़ा नहीं होता एवं अज्ञान दशा में छोटा या विकारी नहीं होता है ।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।

वह ब्रह्म सर्वदा एकरस ही रहता है इसीलिये कहा जाता है ह्नह्न

''**हरि व्यापक सर्वत्र समाना**''

इस प्रकार यह आत्मा आकाश वत् सर्वत्र समान रूप से सबके हृदय मन्दिर में विद्यमान रहता है एवं साक्षात् ज्ञान स्वरूप है । ज्ञान प्रतिबन्धक हटने से सद्गुरु द्वारा 'तत्त्वमसि' महावाक्य उपदेश सुनने से 'सोऽहम्', 'शिवोऽहम्', 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप में अनुभव होता है । इसी कारण इसे 'ज्ञेय', 'एतज्ज्ञेय', 'ज्ञात्वादेवं' विदित्वा रूप कहा जाता है ।

हे आत्मन् ! स्वतः सिद्ध स्वयं प्रकाश इस आत्मदेव को जानने के लिये अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है । अन्य प्रमाण तो इन्हीं आत्मदेव के द्वारा जड़ वर्ग को जानने में उपयोगी है । जैसे सूर्य द्वारा तो सब पदार्थ भासमान होते हैं । भला कोई पदार्थ सूर्य को जानने में कैसे उपयोगी हो सकेगा ? कभी नहीं । इसी प्रकार ह्नह्न

नतत्र सूर्योभाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्यतोभान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।

– श्वे.उ. : ६/१४

उसके प्रकाशित होने से ही सूर्य, चन्द्र, तारे, विद्युत् तथा समस्त दृश्य जगत् जाना जाता है ।

येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् ।
विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ।।

– बृह.उ. : २/४/१४

जिसके द्वारा सब कुछ जाना जाता है उस स्वयं प्रकाश, स्वसंवेद्य को किस प्रकार जाने ? इसीलिये उसके बारे में कहा जाता है –

प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं प्रमीतिस्तथा ।
यस्य प्रसादात् सिद्धयन्ति तत्सिद्धौ किमपेक्ष्यते ।।

जिस ज्ञान के द्वारा पाँचो ज्ञानेन्द्रिय रूप प्रमाण, पंच विषय रूप प्रमेय, पंच विषयक प्रमेय तथा पंच विषयों का ज्ञाता रूप प्रमाता यह त्रिपुटी जानी जाती है, उस स्वयं प्रकाश ब्रह्म को सिद्ध करने के लिये किसी दूसरी वस्तु की आवश्यकता नहीं है ? ये जगत् के पदार्थों के ज्ञान में वृत्ति व्याप्ति तथा फल व्याप्ति की आवश्यकता नहीं है । वृत्ति व्याप्ति प्रथम जड़ पदार्थ तक पहुँच उस वस्तु का आवरण भंग करती है एवं चिदाभास से फल व्याप्ति होकर पदार्थाकार ज्ञान को उत्पन्न करती है । जैसे घट ज्ञानार्थ सर्व प्रथम अन्तःकरण की वृत्ति नेत्र द्वार से निकल 'घट' तक पहुँच उसके आकार की होती है उसे वृत्ति व्याप्ति कहते हैं एवं उसके बाद चिदाभास द्वार जो वस्तु का ज्ञान होता है कि ''यह घट है'' यह फल व्याप्ति कहलाती है । इस प्रकार ब्रह्म के जानने हेतु फल व्याप्ति की जरूरत नहीं है, केवल वृत्तिव्याप्ति से आवरण भंग होते ही वह स्वयं प्रकाशित हो जाता है । उस चैतन्य ज्ञान के लिये कौन प्रमाण चाहिये ? अर्थात् वह चैतन्य वस्तु स्वयं सिद्ध, स्वयं प्रकाश है । प्रमाणान्तरों से उसका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि वहीं तो समस्त प्रमाणों का प्रमाण है । उसको जानने के लिये अन्य कोई दूसरा प्रमाण या साधन नहीं है ।

उपरोक्त ज्ञान ब्रह्म को किसी श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण में जाकर हस्तामलकवत् जान लिया जाता है । ऐसे ब्रह्मदर्शी तत्त्वदर्शी सद्गुरु के

प्रति कैसी श्रद्धा करना चाहिये उस सम्बन्ध में कहते हैं ।

यस्यदेवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

– श्वे.उ. : ६/२३

अर्थात् अज्ञानकाल में ईश्वर मूर्ति के प्रति जैसी श्रद्धा, भक्ति, सेवा, पूजा होती है मुक्ति की इच्छा होने पर वैसी ही श्रद्धा भक्ति सद्‌गुरु के प्रति होनी चाहिये । ऐसे श्रद्धालु के अन्तःकरण में वह ज्ञान दृढ़ हो तत्काल शान्ति प्रदान करता है एवं अश्रद्धालुओं को करोड़ों साधन से भी नहीं ।

नदृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं श्रृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञाते र्विज्ञातारं विजानीयाः । एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ।

– बृहद. उप : ३/४/२

तुम दृष्टि के द्रष्टा को नहीं देख सकते, श्रुति के श्रोता को नहीं सुन सकते, मति के मन्ता को मनन नहीं कर सकते, विज्ञाति के विज्ञाता को नहीं जान सकते । तुम्हारा यह आत्मा सर्वान्तर है । इससे भिन्न सब दृश्य नाशवान है ।

यस्यामतं तस्यमतं मतं यस्यन वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।।

– केन. उप २/३

जो यह मानते हैं कि मैंने ब्रह्म को जान लिया है । वस्तुतः वह नहीं जानते हैं और जो यह मानते है कि ''मैंने परमात्मा को दृश्य की तरह नहीं जाना है'' वही स्वरूपतः ब्रह्मज्ञानी है ।

◆◆◆

अष्टावक्र गीता सार

एकाग्रता निरोधो वा मूढ़ैरभ्यस्यते भृशम् ।
धीराः कृत्यं न पश्यन्ति सुप्तवत्स्वपदे स्थिताः ।। १८/३३

मूढ़ एकाग्रता अथवा चित्त निरोध के लिये बारम्बार अभ्यास करते हैं परन्तु ज्ञानी तो आत्मपद में सोते हुए व्यक्ति के समान स्थित होकर कुछ करते हुए नजर नहीं आते ।

कुत्रापि खेदः कायस्य जिह्वा कुत्रापि खिद्यते ।
मनः कुत्रापि तत्त्यक्त्वा पुरुषार्थो स्थितः सुखम् ।। १३/२

किसी साधन में तो शरीर को दुःख होता है तो किसी में जीव दुःखी होता है तो किसी में मन कष्ट पाता है । यह सब झगड़े से मुक्त होकर मैं आत्मानन्द में सुख पूर्वक स्थित हूँ ।

विषयद्वीपिनो वीक्ष्य चकितः शरणार्थिनः ।
विशन्ति झटिति क्रोडन्निरोधैकाग्र्यसिद्धये ।। – १८/४५

विषय रूपी हाथियों को देखकर घबराने वाला तथा शरण की इच्छा रखने वाला मूर्ख चित्त के निरोध तथा एकाग्रता की सिद्धि के लिये जल्दी से हृदय रूपी पर्वत गुहा में प्रवेश करता है ।

निर्वासनं हरि दृष्ट्वा तूष्णीं विषयदन्तिनः ।
पलायन्ते न शक्तास्ते सेवन्ते कृतचाटवः ।। – १८/४६

वासना रहित पुरुष रूपी सिंह को देखकर विषय रूपी हाथी इधर–उधर भाग जाते हैं तथा असमर्थ और क्रिया में आसक्त रहने वाले मूढ़ ही उन वासना रहित पुरुषों की सेवा में लगे रहते हैं । जैसे कि न भाग सकने वाला हाथी अथवा हथिनी से रति भोग में रत रहने वाला हाथी ही सिंह के भोग की सामग्री बनता है । इसलिये –

अप्रयत्नात्प्रयत्नाद्वा मूढ़ो नाप्नोति निर्वृतिम् ।

तत्त्वनिश्चयमात्रेण प्राज्ञो भवति निर्वृतः ।। – १८/३४

अज्ञानी पुरुष चित्त के निरोध से अथवा कर्मानुष्ठान से परम सुख को प्राप्त नहीं हो पाते हैं अर्थात् प्रयत्न करते हुए अथवा न करते हुए मूढ़ मनुष्य सुख प्राप्त नहीं कर पाते, जबकि बुद्धिमान मनुष्य केवल तत्त्व का निश्चय करते ही सुखी हो जाते हैं ।

शुद्धं बुद्धं प्रियं पूर्णं निष्प्रपञ्चं निरामयम् ।
आत्मानं तं न जानन्ति तत्राभ्यासपरा जनाः ।।– १८/३५

शुद्ध, बुद्ध, प्रिय, पूर्ण, प्रपंच रहित तथा दुःख रहित नित्य प्राप्त इस आत्मा को इसकी प्राप्ति रूप अभ्यास श्रवण, मनन में न लगे रहने वाले व्यक्ति जड़ क्रिया में फॅसे रह जाते हैं किन्तु आत्मा को नहीं जान पाते ।

नाप्नोति कर्मणा मोक्षं विमूढोऽभ्यासरूपिणा ।
धन्यो विज्ञानमात्रेण मुक्तस्तिष्ठत्यविक्रियः ।। – १८/३६

मूढ पुरुष अभ्यास रूप कर्म द्वारा मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता । ज्ञानी पुरुष तो केवल विज्ञान मात्र से अर्थात् आत्मा का स्वरूप जान लेने मात्र से मुक्त हो जाता है तथा निर्विकार बन जाता है । उसके लिये अन्य प्रयत्न साधन अपेक्षित नहीं रहते । ''तस्य कार्यं न विद्यते'' ।

त्यजैव ध्यानं सर्वत्र मा किंचिश्द्धृदि धाराय ।
आत्मा त्वं मुक्त एवासि किंविमृश्य करिष्यसि ।। – २५/२०

ध्यान का सर्वत्र त्याग कर और हृदय में किसी प्रकार का संकल्प–विकल्प धारण न कर; क्योंकि तू आत्म स्वरूप होने के कारण सदैव मुक्त ही है । तो फिर किसका विचार करना तेरे लिये आवश्यक रहता है ?

यत्र यत्र मनोयाति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात् ।
मनसो धारणा चैव धारणा सा परामता ।।

मन जहाँ-जहाँ जाय वहीं-वहीं ब्रह्म का साक्षात्कार करते हुए मन को स्थिर करना ही उत्तम धारणा है । दृष्टि को ज्ञानमयि करके ब्रह्ममयि देखना ही अति उत्तम दृष्टि है ।

दृष्टि ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत् ।
सादृष्टिः परमोद्वारा न नासाग्रावलोकिनी ।। ११६

नासिका के अग्र भाग पर देखना कर्त्तव्य नहीं । जिस विचार से द्रष्टा, दर्शन तथा दृश्य की त्रिपुटी का अभाव हो जावे वही दृष्टि, वही ध्यान, वही चिंतन तथा वही ज्ञान उत्तम है ।

न शान्ति लभते मूढ़ो यतः शमितुमिच्छति ।
धीरस्तत्वं विनिश्चत्य सर्वदा शान्त मानसः ।।

मूढ़ मनुष्य शान्त बनने की इच्छा किया करते हैं । इसलिये उन्हें शान्ति नहीं मिलती, लेकिन धीर पुरुष तत्त्व का निश्चय करके सदैव शान्त चित्त वाला ही रहता है ।

अज्ञान की दो शक्तियाँ है (१) आवरण शक्ति, (२) विक्षेप शक्ति । मैं ब्रह्म को नहीं जानता इसका नाम आवरण है जो श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा निवृत्त हो जाता है । ''मैं ब्रह्म रूप हूँ'' इस प्रकार अधिष्टान ब्रह्म का ज्ञान किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु मुख द्वारा वेद के तत्त्वमसि आदि महावाक्यार्थ का श्रवण, मनन कर मैं ब्रह्म को नहीं जानता यह अज्ञान संशय निवृत्त हो जाता है । फिर जो विक्षेप शक्ति (द्वितीय अज्ञान की शक्ति) शरीर के प्रारब्ध पर्यन्त बनी रहती है, वह शरीर के साथ ही निवृत्त होती है । अतः ज्ञानी को प्रारब्ध पर्यन्त भूत-भौतिक आकाशादि पदार्थ प्रपंच का अनुभव होता रहता है, किन्तु अज्ञानी की तरह उन पदार्थों के प्रति उसकी सत्य बुद्धि नहीं रहती इतना ही भेद है । उसका कारण यह है कि ब्रह्म के साक्षात्कार द्वारा अज्ञान निवृत्त हो जाने

पर भी अज्ञान के कार्य रूप अन्त:करणादि की निवृत्ति प्रारब्ध कर्म के नाश पर ही होती है । प्रपंच अन्त:करण में ही प्रतीत होते हैं । वह अन्त:करण पूर्व से अज्ञानकृत कर्मों का फल प्रारब्ध भोगने हेतु शरीर के साथ ही बना है ।

अतः ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर भी स्वप्न भ्रम होना सम्भव है । अगर स्वप्न भ्रम ब्रह्मवेता को नहीं होता है ऐसा मानेंगे तो जाग्रतावस्था में भी शब्दादि विषयों का उसे अनुभव नहीं होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता । द्वैत उसे प्रतीत होता है । उसमें शरीर निर्वाह सम्बन्धी क्रिया तथा लोक कल्याणार्थ उपदेश रूपी कार्य प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं, किन्तु तत्ववेत्ता पुरुष अज्ञानी पुरुष की तरह अपने स्वरूप में कोई व्यवहार सत्य रूप नहीं मानता है । अज्ञानी अपने को ही कर्ता-भोक्ता रूप देखता है किन्तु ज्ञानी अपने को समस्त प्रपंच से पृथक् द्रष्टा, साक्षी, मुक्त एवं असंग आत्मा निश्चय से जानता है ।

मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि ।
किंवदन्तीह सत्येयं या मति: सा गतिर्भवेत् ।। - १/११

यह लोक प्रसिद्ध उक्ति है कि 'जैसी मति तैसी गति'' । अपने को मुक्त मानने वाला मुक्त है एवं बंधा मानने वाला बद्ध है ।

सद्गुरु कृपा से जब अपने आत्म स्वरूप का निश्चय करेगा कि मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ही ईश्वर हूँ, मैं ही चैतन्यात्मा हूँ तो ईश्वरवत् अपने को अभय, अमर, अविनाशी आनन्द स्वरूप पावेगा । आत्मा से पृथक् कोई दूसरा आत्मा नहीं है यही ईश्वर है, यही ब्रह्म है और वही तू है ''तत्त्वमसि'' ।

साकारमनृतं विद्धि निराकारं तु निश्चलम् ।
एतत्तत्त्वोपदेशेन न पुनर्भव सम्भव: ।। - १/१८

साकार को परिवर्तनशील होने के कारण मिथ्या नाशवान जानना चाहिये

। निराकार एकरस होने से नित्य जानना चाहिये । इस प्रकार देहादि दृश्य को अनित्य एवं अपने को नित्यात्मा जानने वाला पुन: देह में मैं बुद्धि नहीं करता है । वह जन्म-मरण के भय से सदा मुक्त रहता है ।

अहोमयि स्थितं विश्वं वस्तुतो न मयि स्थितम् ।
न मे बन्धोऽस्ति मोक्षो वा भ्रान्तिः शान्ता निराश्रया ।।

- २/१८

आश्चर्य है ! मुझ में स्थित हुआ-सा विश्व वास्तव में मुझमें तीनों कालों में नहीं है । इसलिये मुझ अद्वितीय आत्मा का जब बन्धन ही नहीं तब मुक्ति की चाह एवं प्रयत्न भी नहीं । अध्यस्त देहादि संघात से अहं बुद्धि का त्याग कर साक्षी भाव में स्थित होकर देखा तो सब भ्रान्ति निवृत्त हो गई ।

नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित् ।
अयमेव हि मे बंध आसीद्या जीविते स्पृहा ।। - २/२२

न मैं शरीर हूँ, न मेरा शरीर है, मैं जीव नहीं हूँ, मैं निश्चय ही चैतन्यात्मा हूँ । मेरा यही बंधन था कि देह, प्राण, इन्द्रिय, मनादि एवं उनके कर्मों को अहं-मम (मैं-मेरा) कर भ्रान्ति से जानता था एवं जन्म की इच्छा तथा मृत्यु से भय करता था ।

तदा बन्धो यदा चितं सक्तं कास्वपि दृष्टिषु ।
तदा मोक्षो यदा चितमासक्तं सर्व दृष्टिषु ।। - ८/३

जब चित्त किसी देहादि दृश्य प्रपंच में लगा है तभी बंधन एवं मन है । और जब चित्त का चिन्तन अपने आत्म स्वरूप में लगा है तभी मुक्ति एवं मनोनाश है ।

नाहं देहो न मे देहो बोधोऽहमिति निश्चयी ।
कैवल्यमिव संप्राप्तो न स्मरत्यकृतं कृतम् ।। - ११/६

मैं शरीर नहीं हूँ, मेरा शरीर नहीं है, मैं तो बोध स्वरूप (चैतन्य) आत्मा हूँ, ऐसा जो निश्चय पूर्वक जानता है वह पुरुष कैवल्य को प्राप्त होकर किये हुए एवं न किये हुए शुभाशुभ कर्म के प्रति उसे हर्ष-शोक का विचार उत्पन्न नहीं होता उसे शुभ कर्मो के करने से कोई पुण्य एवं अशुभ कर्म हो जाने से कोई पाप स्पर्श नहीं करता है ।

निःसंगो निष्क्रियोऽसित्वं स्वप्रकाशो निरञ्जनः ।
अयमेव हि ते बन्धः समाधिमनु तिष्ठसि ।। - १/१५

हे आत्मन् ! तू निःसंग है अर्थात् तू समस्त सम्बन्धों एवं क्रिया से रहित है । इस नित्य प्राप्त स्वरूप आत्मा की प्राप्ति के लिये जो तु ध्यान, समाधि अथवा कर्मानुष्ठानों को करता है, यही तेरा बन्धन है । जो स्वप्रकाश आत्मा का ध्यान जड़-वृत्ति का निरोध करके करता है उससे बढ़कर और कोई बन्धन नहीं है । आत्म स्वरूप के ज्ञान के अतिरिक्त जिसने मुक्ति के अथवा आत्मसाक्षात्कार के साधन बताये गये हैं वे सब बन्ध के ही कारण है ।

◆◆◆

शिव गीता

रावणेन यदा सीताऽपहृता जनकात्मजा ।
तदा वियोग दु:खेन विलपन्नास राघवः ।। - २/२

सूतजी बोले जिस समय जनक कुमारी सीता को रावण ने हरण किया था तब रामचन्द्र वियोग के कारण बहुत विलाप करने लगे थे ।

निर्निद्रो निरहंकारो निराहारो दिवानिशम् ।
मोक्तु मैच्छत्ततः प्राणान्सानुजो रघुनन्दनः ।। - २/३

तब राम निद्रा देहभान और भोजन त्याग कर रात-दिन शोक करते हुए अपने भाई लक्ष्मण सहित प्राण त्यागने की इच्छा करते हुए जंगल में विचरण

कर रहे थे वहीं पर अगस्त्यजी का समागम हुआ ।

किं विषीदसि राजेन्द्र कान्ता कस्य विचार्यताम् ।
जड़: किं नु विजानाति देहोऽयं पाश्च भौतिक: ।। – २/५

आगस्त्यजी बोले–हे राम ! यह क्या विषाद करते हो ? स्त्री सीता शरीर किसका है यह तो विचार करो । पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश इन पांच महाभूतों का बना हुआ यह देह जड़ है इसे यह ज्ञान नहीं कि मैं सीता हूँ, मैं राम हूँ या यह सीता है यह राम है इस प्रकार न यह अपने को जानता है और न अन्य को । इसलिये यह शरीर तो जड़ है । इसको अनित्य एवं दु:ख रूप ही जानो ।

निर्लेप परिपूर्णश्च सच्चिदानन्द विग्रह: ।
आत्मा न जायते नैवम्रियते न च दु:खभाक् ।। – २/६

और यह आत्मा तो निर्लेप सर्वत्र परिपूर्ण सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा न कभी उत्पन्न होता है न मरता दु:ख भोगता है ।

सर्वभूतान्तरात्मापि यद्वत् दृश्यैर्न लिप्यते ।
देहोऽपि मलपिण्डोऽयं मुक्त जीवो जड़ात्मक: ।। – २/८

जैसे सूर्य सब नेत्रों में स्थित चक्षुओं के दोष से कभी लिप्त नहीं होता इसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का आत्मा भी दु:ख में लिप्त नहीं होता है और यह देह तो मल का पिंड़ तथा जड़ है किन्तु अज्ञानतावश यह कला रहित मुक्त जीवात्मा देह संघात में अभिमान कर जड़ता को प्राप्त होता रहता है ।

मोक्षस्य न हि वसोऽस्ति न ग्राम्यान्तरमेव वा ।
अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृत: ।।

हे राम ! मोक्ष आत्मा का प्राप्त स्वरूप है, जैसे उष्णता अग्नि का स्वत: सिद्ध स्वभाव है । मोक्ष का किसी लोकान्तर, देशान्तर या किसी गृह में

निवास नहीं हैं, किन्तु 'मैं देह हूँ,' इस अज्ञान रूपी हृदय ग्रन्थि का नाश ही मोक्ष कहा जाता है ।

दह्यते वाह्निना काष्ठे: शिवाद्यै र्भक्ष्यतेऽपि वा ।
तथापि नैव जानाति विरहे तस्य का व्यथा ।। – २/९

यह काष्ठ अग्नि के संयोग से भस्म हो जाता है सियार आदि जंगली पशु–पक्षी इसे खा जाते हैं, तो भी यह जड़ शरीर को इसके कटने, जलने, सड़ने का कुछ पता नहीं चलता न इसके नष्ट होने का दुःख शोक करता है ।

सा न पश्यति यत्किंचिन्न श्रृणोति न जिघ्रति ।
चर्ममात्रा तनुस्तस्या बुद्ध्वा त्यत्तस्व राघव ।। – २/१६

यह जड़ शरीर न कुछ देखता है न सुनता है न सूंघता है सबका शरीर चर्म मात्र का है । हे रामचन्द्र ! उस सीता के लिये मन से शोक मत करो, मेरी बातों का विचार करो एवं इस सीता के प्रति आसक्ति का त्याग करो ।

या प्राणादधिका सैव हंत ते स्याद् घृणास्पदम् ।
जायन्ते यदि भूतेभ्यो देहिन: पाञ्चभौतिका: ।।– २/१७

हे राम ! जो प्राणों से भी अधिक प्यारी है वही सीता तुम्हारे दुःख का कारण होगी । पंच भूतों से उत्पन्न देह में जो आसक्ति कर अहं–मम भाव करता है वह देह वासना वाला देहाभिमानी करोड़ों–करोड़ों गायों की हत्या से भी अधिक पापी हो पुन: इस पंच महाभूत के देह को प्राप्त होता है ।

आगस्त्य मुनिवर के यथार्थ तत्त्व ज्ञानयुक्त वचन शोकातुर राम के हृदय को स्पर्श नहीं कर पाये और राम ने घोर तप कर शिवजी को प्रसन्न करने की चेष्टा की । शिवजी ने प्रसन्न होकर अपने एवं देवताओं को बुलाकर उनके शस्त्र दिलाये ।

श्री रामचन्द्र बोले–हे भगवन् !

भगवन्नानुषेणैव नौल्लंध्यो लवणाम्बुधि: ।
तत्र लकांभिधं दुर्ग दुर्जयं देवदानवै: ।। – ५/२५

मनुष्यों से तो क्षार समुद्र उल्लंघन नहीं किया जायगा और लंका दुर्ग देवता तथा दानवों को भी दुर्गम है ।

अनेक मायासंयुक्त बुद्धिमन्तोऽग्निहोत्रिण: ।
कथमेकाकिना जेया मया भ्रात्रा च संयुगे ।। – ५/३६

वे अनेक प्रकार की माया जानने वाले बुद्धिमान अग्निहोत्री है उन्हें केवल मैं और अनुज लक्ष्मण युद्ध में कैसे जीत सकेंगे ?

मुने देहस्य नो दु:खं नैव चेत्परमात्मन: ।
सीता वियोगदु:खाग्रिर्मा भस्मीकुरूते कथम् ।। – २/२३

राम ने अगस्त्यजी से आत्मा अनात्मा का विवेक जान कहा– हे मुने ! जब देह को भी दु:ख नहीं होता है और साक्षी आत्मा को भी दु:ख नहीं होता है तो सीता के वियोग की अग्नि मुझे कैसे जला रही है ।

क्षत्रियोऽहं मुनि श्रेष्ठ भार्या मे रक्षसा हृता ।
यदि तं न निह्यय्याशु जीवने मेऽस्ति किं फलम् ।।– ३/९

हे मुनि श्रेष्ठ ! मैं क्षत्रिय हूँ और मेरी भार्या को राक्षस रावण ने हरण करली है, जो मैं उसे न मारूँगा तो मेरे जीने से क्या लाभ है ?

अतस्ते तत्त्व बोधेन न में किंचित् प्रयोजनम् ।
काम क्रोधादय: सर्वे दह्नत्येते तनुं मम ।। – ३/१०

इस कारण तुम्हारे तत्त्व बोध से मुझे कुछ भी प्रयोजन नहीं है यह काम, क्रोध मोहादिक चिन्ता अग्नि मुझे भस्म किये डालते हैं ।

यस्य तत्त्व बुभुक्षा स्यात्स लोके पुरुषाधम: ।

जो तत्त्व ज्ञान की इच्छा रखता है सर्वत्र समदृष्टि रखता है वह तो लोक व्यवहार की दृष्टि से नराधम प्राणी ही है क्योंकि उसके लिये अपना-पराया, मानापमान, मित्र-शत्रु आदि में सम भाव होने के कारण वह अपने व्यष्टि अहंकार का समष्टि में लय कर देता है । मैं ऐसा काम नहीं करूँगा, मैं अपने शत्रु रावण को मार कर ही सुख को प्राप्त होऊँगा ।

◆◆◆

वेदान्तडिण्डिम:

आदि जगत्गुरु

योगिनो भोगिनो वापि त्यागिनो रागिणोऽपि च ।
ज्ञानान्मोक्षो न सन्देह इति वेदान्तडिण्डिम: ।।११।।

न वर्णाश्रम संकेतैर्न कर्मोपासानादिभि: ।
ब्रह्मज्ञानं विना न मोक्ष इति वेदान्तडिण्डिम: ।।१२।।

अद्वैतद्वैतवादौ द्वौ सूक्ष्म स्थूलदशां गतौ ।
अद्वैत वादान्मोक्ष: स्यादिति वेदान्तडिण्डिम: ।।१९।।

कर्मिणो विनिवर्तन्ते निवर्तन्त उपासका: ।
ज्ञानिनो न निवर्तन्त इति वेदान्तडिण्डिम: ।।२०।।

वृथा श्रमोऽयं विदुषां वृथाऽयं कर्मिणां श्रम: ।
यदि न ब्रह्म विज्ञानमिति वेदान्तडिण्डिम: ।।२२।।

कर्माणि चित्त शुद्धयर्थ मैकाग्रयार्थमुपासनम् ।
मोक्षार्थ ब्रह्मविज्ञानमिति वेदान्तडिण्डिम: ।।२६।।

पुरुषार्थत्रयाविष्टा: पुरुषा: पशवो ध्रुवम् ।
मोक्षार्थी पुरुष: श्रेष्ठ इति वेदान्तडिण्डिम: ।।३९।।

धटकुडयादिकं सर्वं मृत्तिका मात्रमेव च ।
तथा ब्रह्म जगत्सर्वमिति वेदान्तडिण्डिमः ।।४० ।।

अहं साक्षीति यो विद्या द्विविच्यैवं पुनः पुनः ।
स एव मुक्तोऽसौ विद्वानिति वेदान्तडिण्डिमः ।।४८ ।।

अभेद दर्शनं मोक्षः संसारो भेद दर्शनम् ।
सर्व वेदान्त सिद्धान्त इति वेदान्तडिण्डिमः ।।७१ ।।

न मताभिनिवेशित्वान्न भाषावेशमात्रतः ।
मुक्ति र्विनात्मविज्ञानादिति वेदान्तडिण्डिमः ।।७२ ।।

न कुर्यान्न विजानीयात्सर्व ब्रह्मेत्यनुस्मरन् ।
यथा सुखं तथा तिष्ठेदिति वेदान्तडिण्डिमः ।।८९ ।।

अनामरूपं सकलं सन्मयं चिन्मयं परम् ।
कुतो भेदः कुतो बन्ध इति वेदान्तडिण्डिमः ।।६८ ।।

न जीव ब्रह्मणोर्भेदः सत्तारूपेण विद्यते ।
सत्ता भेदे न मानं स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः ।।६१ ।।

न जीव ब्रह्मणोर्भेदः स्फूर्तिरूपेण विद्यते ।
स्फूर्ति भेदे न मानं स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः ।।६२ ।।

न जीव ब्रह्मणोर्भेदः प्रियरूपेण विद्यते ।
प्रिय भेदे न मानं स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः ।।६३ ।।

न जीव ब्रह्मणोर्भेदो नाम्ना रूपेण विद्यते ।
नाम्नो रूपस्य मिथ्यात्वादिति वेदान्तडिण्डिमः ।।६४ ।।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव ना परः ।
जीवन्मुक्तस्तु तद्विद्वानिति वेदान्तडिण्डिमः ।।६६ ।।

◆◆◆

राम गीतासार

श्रीमदध्यात्म रामायणोत्तराकान्डान्र्तगता

महादेवजी ने पार्वतिजी से कहा कि एक बार लक्ष्मणजी रामजी से कहते हैं –

त्वं शुद्ध बोधोऽसि हि सर्वदेहिना
मात्याऽस्य धीशोऽसि निराकृतिः स्वयम् ।
प्रतीयसे ज्ञान दृशां महामते
पादाब्ज भृ'ाहितस'र्ग'नाम् ।।४।।

हे महामते ! आप शुद्ध ज्ञान स्वरूप, समस्त देहधारियों के आत्मा सबके स्वामी और स्वरूप से निराकार हैं । जो आपके चरण कमलों के लिये भ्रम रूप हैं, उन परम भागवतों के सहवास के रसिकों को ही आप ज्ञान दृष्टि से दिखलायी देते हैं ।

अहं प्रपन्नोऽस्मि पदाम्बुजं प्रभो, भवापवर्ग तब योगिभावितम् ।
यथाञ्जसाऽज्ञानम पारवारिधिं सुखं तरिष्यामि यथानुशाधिमाम् ।।५।।

हे प्रभो ! योगिजन जिनका निरन्तर चिन्तन करते हैं, संसार बंधन से छुड़ाने वाले उन आपके चरण कमलों की मैं शरण मैं हूँ, आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिये जिससे मैं सुगमता से ही अज्ञान रूपी अपार समुद्र के पार हो जाऊँ ।

तब श्री रामजी लक्ष्मणजी को उनके अज्ञान अंधकार का नाश करने के लिये प्रसन्न चित्त से ज्ञानोपदेश करने लगे –

सबसे पहले अपने–अपने वर्ण और आश्रम के लिये शास्त्रानुसार क्रियाओं को निष्काम भाव से पालन कर चित्त शुद्ध हो जाने पर उन कर्मों को छोड़दे ''समाप्य तत्पूर्वमुपात्तसाधनः'' और शम दमादि साधनों से सम्पन्न हो आत्म

ज्ञान की प्राप्ति के लिये सद्गुरु की शरण में जाय ''सत्गुरुमात्मलब्धये'' ।

ज्ञान और कर्म मीमांसा

हे लक्ष्मण ! कर्म देहान्तर की प्राप्ति के लिये ही स्वीकार किये गये हैं, क्योंकि उनमें प्रेम रखने वाले पुरुषों से इष्ट-अनिष्ट दोनों ही प्रकार की क्रियाएँ होती हैं । उनसे धर्म और अधर्म दोनों ही की प्राप्ति होती है और उनके कारण शरीर प्राप्त होता है जिससे फिर कर्म होते हैं इसी प्रकार यह संसार चक्र के समान चलता रहता है ।

अज्ञानमेवास्थ हि मूल कारणं
तद्धानमेवात्र विधौ विधीयते ।
विद्यैव तन्नाश विधौ पटीयसी
न कर्म तज्जं सविरोधमीरितम् ।।९।।

संसार का मूल कारण अज्ञान ही है और इस अज्ञान का नाश एकमात्र वेदान्त ज्ञान से ही हो सकता है । कर्म इसमें समर्थ नहीं है, क्योंकि अज्ञान से उत्पन्न कर्म अपने उपादान अज्ञान के विरोधी नहीं हो सकते ।

नाज्ञानहानिर्न च राग संक्षयो
भवेत्ततः कर्म सदोषमुद्भवेत् ।
ततः पुनः संसृतिरप्यवारिता
तस्माद्बुधो ज्ञानविचारवान्भवेत् ।।१०।।

कर्म द्वारा अज्ञान का नाश अथवा राग का क्षय नहीं हो सकता बल्कि उससे दूसरे सदोष कर्म की उत्पत्ती होती है । उससे पुनः संसार की प्राप्ति होना अनिवार्य है इसलिए बुद्धिमान् को विचार में ही तत्पर होना चाहिये ।

क्योंकि कर्म देहाभिमान से होता है और ज्ञान अहंकार के नाश होने पर सिद्ध होता है ।

देहाभिमानाद भिवर्धते क्रिया ।
विद्या गताऽहङ्कृतितः प्रसिद्ध्यति ।।१४।।

इसलिए समस्त इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त होकर निरन्तर आत्मानुसंधान में लगा हुआ बुद्धिमान् पुरुष सम्पूर्ण कर्मों का सर्वथा त्याग कर दे । क्योंकि विद्या का विरोधी होने के कारण कर्म उसके साथ सम्मुच्चय नहीं हो सकता ।।१६।।

जब तक माया से मोहित रहने के कारण मनुष्य का शरीरादि में आत्म भाव है तभी तक उसे वैदिक कर्मानुष्ठान कर्तव्य है । नेति–नेति आदि वाक्यों से सम्पूर्ण अनात्म वस्तुओं का निषेध करके अपने परमात्मा स्वरूप को जान लेने पर फिर उसे समस्त कर्मों को छोड़ देना चाहिये । ।।१७।।

तज्ज्ञात्वा परात्मानमथ त्यजेत्क्रियनः ।

जब एक बार भली प्रकार से अविद्या का ज्ञान द्वारा नाश हो जाता है तब वह पुनः जीवित होकर ज्ञान को नष्ट नहीं कर सकती अर्थात् ज्ञानवान् को मैं देह हूँ, मैं कर्ता–भोक्ता हूँ ऐसी विपयर्य बुद्धि कैसे हो सकती है ? इसलिए ज्ञान स्वतन्त्र है उसे जीव के मोक्ष के लिए किसी अन्य कर्म, उपासनादि की अपेक्षा नहीं हैं वह स्वयं ही अज्ञान का नाश करने में समर्थ है ।

''न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागे नैके अमृतत्त्वमानशुः''

– तैतरीय

समस्त कर्मों का त्याग करना ही अच्छा है क्योंकि मोक्ष का साधन ज्ञान है कर्म नहीं । ।।२१।।

हे लक्ष्मण ! कर्मों के त्याग कर देने से मैं अवश्य प्रायश्चित का भागी हो पाप को प्राप्त होऊँगा ऐसी अनात्म बुद्धि अज्ञानियों को ही होती

है, तत्त्व ज्ञानियों को नहीं । इसलिए विकार रहित चित्त वाले बोधवान् पुरुषों को विहित कर्मों का विधि पूर्वक त्याग कर देना चाहिये । ।।२३।।

महावाक्य विचार

श्रद्धान्वितस्तत्त्वमसीति वाक्यतो
गुरोः प्रसादादपि शुद्धमानसः ।
विज्ञाय चैकात्म्यमथात्मजीवयोः
सुखी भवेन्मेरूरिवाप्रकम्पनः ।।२४।।

फिर शुद्ध चित्त होकर श्रद्धा पूर्वक गुरु की कृपा से ''तत्त्वमसि'' इस महावाक्य के द्वारा परमात्मा और जीवात्मा की एकता जानकर सुमेरू के समान निश्चल एवं सुखी हो जाय ।

हे लक्ष्मण ! फिर किसी साधन का आश्रय न लेकर शुद्ध चित्त हुआ केवल ज्ञान दृष्टि द्वारा एक आत्मा की ही भावना कर । ।।४६।।

इस प्रकार अहर्निश आत्मा का ही चिन्तन करता हुआ मुनि सर्वदा समस्त बंधनों से मुक्त होकर रहे तथा प्रारब्ध से जो क्रियाएँ देह, इन्द्रिय, मन, प्राण के संयोग से होती है उनमें कर्ता-भोक्तापन का मिथ्या अभिमान न करें इस प्रकार धारणा करने वाला ज्ञानी अन्त में साक्षात् मुझ परम ब्रह्म में ही लीन हो जाता है ।५४।।

जब तक प्रारब्ध शेष है, संसार को आदि मध्य और अन्त में सब प्रकार से भय और शोक का ही कारण जान समस्त वेद विहित कर्मों को स्वरूप से ही त्याग दे एवं अपने अन्तरात्मा का ही सोऽहम् रूप से भजन करें ।।५६।।

हे लक्ष्मण ! जब तक समस्त चराचर संसार मेरा ही रूप दिखलायी न दे, तब तक निरन्तर मेरी आराधना करता रहे । जो श्रद्धालु भक्त होता है उसे

निरन्तर अपने हृदय में साक्षात्कार होता रहता है ।

उपदेश का उपसंहार

रहस्यमेतच्छ्रुतिसार सङ्ग्रहं
मया विनिश्चत्य तवोदितं प्रिय ।
यस्त्वेत दालोचयतीह बुद्धिमान
स मुच्यते पातकराशिभि: क्षणात् ।।५९।।

हे प्रियात्मन् ! सम्पूर्ण श्रुतियों के सार रूप इस गुप्त रहस्य को मैंने निश्चय करके तुमसे कहा है । जो बुद्धिमान् इसका इस प्रकार मनन करेगा कि वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, द्रष्टा, साक्षी, सर्वाधिष्ठान, सर्वप्रकाश, सर्वानन्दात्मा मैं ही हूँ, वह तत्काल समस्त पापों से मुक्त हो अपने को पूर्णत्व में ओत-प्रोत ही अनुभव करने लगेगा ।

हे आत्मन् ! जो गुरु भक्ति सम्पन्न पुरुष इस वेदान्त ज्ञान का अभ्यास करेगा वह मेरा ही रूप हो जायगा ।।६२।।

इति श्रीमद्ध्यात्मरामायणोत्तरकाण्डान्तर्गता श्री राम गीता सार सम्पूर्णा ।

◆◆◆

श्रीमद् गीता सार

गीता शास्त्र में तत्त्वमसि महावाक्य का ही विस्तार पूर्वक विचार किया गया है । तत्त्वमसि महावाक्य में तत+त्वम्+असि यह तीन पद है तत् अर्थात् परमात्मा त्वम् अर्थात् जीवात्मा असि अर्थात् दोनों अभिन्न है । गीता में छ: छ: अध्यायों के तीन विभाग है । प्रथम अध्याय से छठे अध्याय तक त्वम् पद वाचक जीवात्मा, सप्त अध्याय से बाहरवें अध्याय तक तत् पद वाचक ब्रह्म,

तथा तेरह अध्याय से अठ्ठारह अध्याय तक असि पद वाचक जीव ब्रह्म के एकत्व का प्रतिपादन किया गया है । इस प्रकार सामवेद के ''तत्त्वमसि'' ''वह परमात्मा तू है'' इस महावाक्य की व्याख्या हुई ।

ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाली ब्रह्माकार वृत्ति, वेदों के महावाक्य के अर्थ शोधन से होती है । अतः ब्रह्म के सम्यक् ज्ञान के लिये महावाक्यार्थ शोधन की ही आवश्यकता है । जीव ब्रह्म के परस्पर अधिकृत भेदों का भाग त्याग लक्षणा द्वारा त्याग एक तत पद परमात्मा में त्वम् पद जीवात्मा का लय होना ही सिद्धि एवं तत् त्त्वम् पदार्थ शोधन कहलाता है ।

अब त्वम् पद के लक्षित अर्थ के साथ तत्पद के लक्षितार्थ की एकता सिद्ध करते हैं ।

तू सब क्षेत्रों में भी मुझ क्षेत्रज्ञ को ही जान ''क्षेत्रज्ञं चापि माँ विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत'' १३/२ इस श्लोक में अपि शब्द से यह बात स्पष्ट होती है कि मैं ही समस्त शरीरों का ज्ञाता अद्वितीय ब्रह्म हूँ ''नेह नानास्ति किंचिन'' यहाँ अन्य कुछ नहीं है इस श्लोक १३/२ में ''क्षेत्रज्ञ'' त्वम पद के स्थान में है और ''माम्'' तत् पद के स्थान में है तथा अपि दोनों की अभिन्नता को प्रतिपादन करने हेतु असि पद के स्थान में है । अर्थात् जिसे जीव कहते हैं वह ब्रह्म ही है ''जीवो ब्रह्मैव नापर:'' ।

नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः । – २/१६

यहाँ सत–असत, आत्मा–अनात्मा का विवेक कराया गया है किन्तु श्लोक ९/१९ में पुन: सत ब्रह्म की असत् दृश्य जीव जगत् ईश्वर से अभिन्नता दर्शायी गई है ।

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन । – ९/१९

अर्थात् यह ब्रह्म तत्त्व ही अमृत और मृत्यु रूप जीव को सत्–असत् भी कहा गया है । याने आत्मा तथा अनात्मा–सा भासित होने वाला जीव भी

मैं ही हूँ त्वम् पद का वाच्चार्थ असत् तत् पद का वाच्चार्थ सत् ये दोनो एक ही है ।

"पाण्डवानां धनञ्जय:" १०/३७ श्लोक में योगेश्वर कहते हैं कि पाण्डवों में धनञ्जय नाम से प्रसिद्ध त्वम् पद का वाच्चार्थ अर्जुन वास्तव में तत् पद का वाच्चार्थ वसुदेव का पुत्र श्रीकृष्ण मैं ही हूँ, अर्थात् अर्जुन पद से लक्षित आत्मा तथा वासुदेव पद से लक्षित ब्रह्म मैं ही हूँ । यहाँ जीव ब्रह्म की एकता बताई है ।

"इन्द्रियाणां मनश्चास्मि" – १०/२२ श्लोक में

"भूतानामस्मि चेतना"

योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते है कि इस शरीर में जो दश इन्द्रियों का स्वामी संकल्प विकल्पात्मक मन तथा भूत समुदाय को बुद्धि द्वारा प्रकाशित करने वाला जीव भी मैं ब्रह्म ही हूँ ।

अध्याय ६/२९, ३०, ३१ में भी तत्त्वमसि महावाक्य है ।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन: ।।

– ६/६९

इसमें पहले शुद्ध त्वम्पदार्थ ज्ञान का हेतु दर्शाते हैं–जिसका आत्मा यानी मन योग से युक्त है जिसका मन निष्काम कर्म योग से निर्मल हो गया है, वह अविद्याकृत देहादिक परिच्छेद शुन्य आत्मा को, ब्रह्मादि से स्तम्ब पर्यन्त सब भूतों में स्थित अधिष्ठान रूप से देखता है, तथा सर्व भूतों तथा, ब्रह्मादिकों को अपने आत्मा में अध्यस्त देखता है । इस प्रकार समदर्शी सर्व प्रपंच में निर्विशेष ब्रह्म को ही जो देखता है उसे सर्वत्र समदर्शन ही होता है । इससे अपने आत्मा में कल्पित ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त जगत् में अनुस्यूत केवल चिन्मात्र रूप शुद्ध "त्वम् पद" के अर्थ को प्रदर्शित किया है ।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्व च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।

– ६/३०

अब शुद्ध ''तत् पदार्थ ज्ञान'' दर्शाते हैं । जो योगी मुझ ईश्वर को ''तत् पद'' के अर्थ को मायिक देहादि परिच्छेद से शुन्य परमात्मा को सर्वत्र प्रपंच में सत् रूप अनुस्यूत देखता है और सर्व प्रपंच वर्ग को मुझ में आरोपित देखता है, उस अद्वैत ब्रह्मदर्शी के लिए मैं ईश्वर परोक्षज्ञान का विषय नहीं होता, यानी मैं ईश्वर उससे भिन्न प्रतीत नहीं होता हूँ । वह मैं ही हूँ, यह तात्पर्य है । यह जीव मुझ ईश्वर से भिन्न नहीं है, इस प्रकार वह मेरे लिये परोक्ष ज्ञान का विषय नहीं होता । मैं वही हूँ, वह तात्पर्य है ।

सर्वभूतस्थितं यो मा भजत्येकत्वामास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।। – ६/३१

इस प्रकार पिछले दो श्लोकों में शुद्ध ''त्वम् पदार्थ ज्ञान'' तथा शुद्ध ''तत् पदार्थ ज्ञान'' कह कर वाक्यार्थ ज्ञान प्रदर्शित करते हैं । सर्व भूतों में, अधिष्ठान रूप से स्थित ''तत् पद'' के लक्ष्य मुझ पुरुषोत्तम को त्वम् पद के लक्ष्यार्थ के साथ एकता करके भजता है कि ''मैं ब्रह्म हूँ'' इस प्रकार जो जानता है, वह योगी मेरे नित्य मुक्त स्वरूप में निवास करता है, जीवन्मुक्त होकर कृतकृत्य हो जाता है, चाहे जीवितावस्था में उसके द्वारा प्रारब्धानुसार किसी प्रकार का निषिद्ध कर्मों का भी आचरण क्यों न हो जावे फिर भी उस पर विधि निषेध शास्त्र का नियन्त्रण नहीं होता । ''निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः'' । त्रिगुण रहित मार्ग में विचरण करने वालों के लिए क्या विधि क्या निषेध ? वे विधि निषेध से अतीत होते हैं । जीव ब्रह्म की एकता प्रतिपादन करने वाला एक अन्य संदर्भ देते हैं ।

''ममैवांशो जीव लोके जीव भूतः सनातनः'' – १५/७